निवेदन

पुरानी प्रथाओं और रस्मो-रिवाजों से चिपका रहने वाला इङ्गलैण्ड भी खूब है ! लार्ड-घरानों की युवा लड़कियाँ, वहाँ वयस्क होने पर, बादशाह सलामत के दरबार मे एक रस्मिया सलाम बजा लाने के बाद ही अपनी व्यक्तिगत हैसियत से सामाजिक भोजों, उत्सवों और नाचों में खुलकर भाग ले सकती हैं। इस रस्म को पूरी करने के लिए बादशाह एक विशेष दरबार का आयोजन करते हैं जिसमे शरीक होने के लिए लार्ड-घरानों की युवा लड़कियाँ, गोरी (Blondes) और साँवली (Brunettes) भी, अपनी सर्वोत्तम वेश-भूषा में सज्जित होकर जाती हैं। प्रत्येक लड़की के साथ, उसका परिचय देने के लिए, एक बड़ी खाला का होना जरूरी है। लड़कियों के गर्जमन्द माँ-बाप दौड़-धूप और आज़-मिन्नत के बाद ऐसी खालाजानों का प्रबन्ध कर ही लेते हैं।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भव्य दरबार में इस पुस्तक को भेजते हुए मुझे संकोच के साथ यह स्वीकार करना होगा कि इसका परिचय देने के लिए इसके साथ मैं किसी खालजान (किसी लब्ध-प्रतिष्ठ राजनीतिक नेता या साहित्यिक विद्वान् के द्वारा लिखी गई भूमिका) का प्रबन्ध नहीं कर सका हूँ। अपनी जान में तो मैंने इसको वैज्ञानिक तथ्यों की काफी खुराक देकर पुष्ट और मासल बना दिया है। रक्त और मांस से भरे-पूरे अपने सुघड़ शरीर को लेकर ही यदि यह पुस्तक माँ राष्ट्र-भाषा का ध्यान अपनी ओर खींच सकेगी तो बस........। अपने भविष्य को यह पुस्तक जाने और जाने इसका भाग्य। महाकवि कालिदास के शब्दों में मैं इतना कहने का ही हकदार हूँ : "भाग्यायत्तमतः परं न

खलु तद्वाच्यं वधू-बन्धुभिः" (अब, और आगे की बात भाग्याधीन है और, सच ही, वधू के बान्धवों को और कुछ कहना भी नहीं चाहिए)।

जिस आश्चर्य-जनक विश्व में हम सब एक अत्यन्त छोटे धब्बे (पृथ्वी) पर रह रहे हैं उसके विषय में हमारे वैज्ञानिकों ने असाधारण लगन और खूबी के साथ जिन ज्ञान-कणों को बँटोरा है उन्हीं को मैंने इस पुस्तक मे सँजोने का क्षुद्र प्रयास किया है। आरम्भ के कुछ परिच्छेदों की सामग्री मैंने एफ्०जे० हारग्रीव्स (F.J. Hargreaves) की पुस्तक "दी साइज आफ दी यूनीवर्स" (The size of the universe) से यथावत् ली है। बाकी परिच्छेदों की सामग्री सर जेम्स जीन्स के ग्रन्थों और अमेरिकन व यूरोपियन पत्रों और पत्रिकाओं से बँटोरी है। श्रेय सब उनका है, कमियाँ, यदि हैं तो, मेरी अपनी है।

मेरे अपने हाथ की तङ्गी ने पुस्तक के कलेवर पर यदि कुछ सलवटें डाल दी हों तो उसके लिए मैं लाचार हूँ।

मेरी सहधर्मिणी श्री सावित्री देवी का मैं हृदय से आभार मानता हूँ जिन्होंने अपनी गाँठ की अर्थ-राशि देकर पुस्तक को प्रकाशित करने के मेरे अरमानों को मूर्तरूप दे दिया। मेरे मित्र श्री मदनलालजी नवलगढ़िया का भी मैं इस विषय में चिर-ऋणी रहूँगा।

पूर्णानन्द मिश्र

कलकत्ता
५-१२-५६

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	५	खतरानाक	खतरनाक
१०	७	अघ्वयन	अध्ययन
३२	५	radio-fadeo-outs	radio fade-outs
३७	१	सूय	सूर्य
४०	१७	आर	और
४५	२१	ह	ही
५६	रेखा-चित्र १०	केप आयु गुड होप	केप आफ गुड होप
७५	६	दसरा	दूसरा
६०	१६	दिव्य-चक्ष	दिव्य-चक्षु
१०३	७	लन्बनों	लम्बनों
१०८	१२	ultra-violte	ultra-violet
११५	३	रेडियो दूरबीना	रेडियो दूरबीनें
१२२	१६	ulta violte	ultra violet
१३५	१	Doube Stars	Double Stars
१४८	१८	६३०,०००,०००	६३,०००,०००
१५६	१	फ्रमों	फ्रेमों
१७७	१८	बड़	बड़े

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०७	६	असुक	अमुक
२०६	१७	दुवेली	दुकेली
२३०	१८	लन्वे	लम्बे
२७३	१२	Super Movae	Super Novae
३१६	२२	र-दूर	दूर-दूर
३६५	१२	ममूची	समूची
३७१	२२	"विशेप सिद्धा	"विशेष सिद्धान्त" को
४००	१७	gaints	giants
४१८	१	सूय	सूय
५०७	८	अणवः	अर्णवः

विषय-सूची

अनन्त की राह में

पहिला परिच्छेद

यात्रा का आरम्भ

मनुष्य अपने जन्म के साथ ही एक प्रबल प्यास लेकर आता है। भारतीय ऋषियों ने इस प्यास को "जिज्ञासा" नाम दिया है ;—जिज्ञासा, अर्थात् ज्ञान की (जानने की) प्रबल इच्छा। अपनी आँखें खोलते ही एक मानव-शिशु अपने सामने एक हँसते-खेलते परिवार, माँ-बाप, भाई-बहिन इत्यादि को देखता है। उनको देखते ही उसकी यह जिज्ञासा भी, तुरन्त, अपने शिशु-नेत्र खोल देती है और उस बच्चे में एक उत्कण्ठा भर देती है कि वह अपनी माँ और अन्य सम्बन्धियों को जाने और पहिचाने। बच्चे की उम्र बढ़ने के साथ-साथ उसकी इस जानने और पहिचानने की उत्कण्ठा का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। बड़ा होकर वह बच्चा, अपने परिवार के बाहर, पास-पड़ौस में और दूर-दराज़ पर अनेक व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं को देखता है और उनको जानने की चेष्टायें करता है। इस

प्रकार मानव की 'जिज्ञासा' के क्षेत्र का क्रमिक विकास होता है।

हम सब सामान्य मनुष्यों का यह 'जिज्ञासा-क्षेत्र' सीमित ही होता है—अपने रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं में ही बँधा हुआ। इस कारण जो कुछ भी हम अपने जीवन में जान पाते हैं, वह तो विश्व-प्रकृति का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश ही होता है। विश्व-प्रकृति का लीला-क्षेत्र तो वास्तव में अति-विस्तृत है, जहाँ वह ऐसी-ऐसी घटनाएँ घटाती रहती है, जिनकी वास्तविकता का हमें कोई ज्ञान नहीं होता और इस कारण हम ऐसी प्रत्येक घटना को देखकर भयभीत हो उठते हैं। उपनिषदों के एक ऋषि ने ठीक कहा है; "अज्ञाना द्वै भयम्भवति" (अज्ञान से ही भय होता है)। उल्कापात, चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण, ग्रहों की गतियाँ वगैरह देख-देखकर आये दिन हम संत्रस्त होते रहते हैं।

हमारे इस अज्ञान-जनित भय को दूर करने के लिये पिछले हजारों वर्षों से, समय-समय पर कुछ प्रखर प्रतिभाशाली व्यक्ति हम में ही होते आये हैं जो अपनी जिज्ञासा को अधिक आक्रामक बना कर विश्व-प्रकृति के उन अछूते और इस कारण भयोत्पादक क्षेत्रों का सही ज्ञान प्राप्त करते रहे हैं और उस ज्ञान को भावी पीढ़ियों के लिये बरदान के रूप में बाँटते भी आये हैं। इन यशस्वी पुरुषों की दी हुई ज्ञान-राशियों ने ही सिमट-सिमट कर हमारे ज्ञान-विज्ञान के विशाल खजानों को

भरा है, जिनके बल पर ही कला-कौशलों पर आधारित हमारी सुन्दर और भव्य सभ्यताओं और संस्कृतियों का निर्माण सम्भव हो सका है।

इन विद्वानों के नेतृत्व में मनुष्य जाति ने ज्ञान-प्राप्ति के महान् अभियान में जो सामूहिक जय-यात्रा की है, उसीका एक संक्षिप्त लेखा-जोखा देने का प्रयास हम यहाँ इस पुस्तक में कर रहे हैं। स्थूल भौतिक विश्व के मूर्त्त और इस कारण दिख पड़ने वाले, पिण्डों-पृथ्वी, ग्रहों, तारों और नीहारिकाओं—के क्षेत्रों का यथार्थ दर्शन कर मनुष्य ने फिर इनके उपादान-कारणों (जिन उपकरणों या मसालों से यह विश्व बना) की खोज आरम्भ की और ऐसा करते हुए, अन्त में वह अणुओं, आदिमकणों और कान्त क्षेत्रों के गहन और ज्योतिर्मय क्षेत्र में जा पहुँचा। ठीक इसी क्रम में ही हम भी अपने इस अध्ययन के सिलसिले को रक्खेंगे।

मनुष्य हमेशा यही देखता आ रहा है कि जिस पृथ्वी पर घर बनाकर वह रहता है, उसके ठीक ऊपर, चारों ही ओर एक नीला-सा आकाश है। प्रखर ताप और प्रकाश को बिखेरता हुआ एक गोल पिण्ड रोज एक निश्चित समय पर उसकी पृथ्वी के एक ओर से निकल कर उस नीले आकाश को बीच से पार करता हुआ ठीक दूसरी ओर जाकर छिप जाता है। उस पिण्ड के छिप जाने पर उस आकाश में और उसकी पृथ्वी पर भी अँधेरा-सा छा जाता है। वहाँ आकाश में तब छोटे-छोटे

असंख्य बिन्दु टिमटिमाते दिखने लगते हैं। समय-समय पर अपनी जगहें बदलते भी रहते हैं। वह यह भी देखता है कि उसकी अपनी पृथ्वी तो एक ही जगह स्थिर खड़ी है और जहाँ तक उसकी नजरें देख सकती हैं, वह (पृथ्वी) सपाट और चौरस ही है। इन सब बातों को देखकर सहज ही वह यही मान लेता है कि उसकी अपनी पृथ्वी अचल है और प्रकाश का वह पिण्ड (सूर्य) और जगमग करते हुए वह असंख्य बिन्दु (तारे) उस पृथ्वी के चारों ही ओर घूमते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उसकी पृथ्वी ही सूर्य और तारों के इस विश्व का केन्द्र है। इसे 'पृथ्वी-केन्द्रक विश्व' की धारणा कहते हैं।

आज भी यह सारी बातें ठीक ऐसी ही होती हुई हमें दिखाई पड़ती हैं, परन्तु अब हम इनके भुलावे में नहीं आ पाते—हमारी वेधशालाओं ने इनकी अस्लियतें खोलकर जो रख दी हैं। आज से हजारों वर्षों पहिले तो वेध करने के यह यान्त्रिक साधन सुलभ न थे और इस कारण तत्कालीन मनुष्यों को सिर्फ अपनी आँखों का ही सहारा था। इसलिये अपने अनुभवों के आधार पर वह केवल यही सोच सकते थे कि सूर्य, ग्रह और तारे पृथ्वी के चारों ओर ही घूमते हैं।

धीरे-धीरे काल पाकर उनकी यह धारणा एक दृढ़ विश्वास बन बैठी। इस विश्वास ने मनुष्य के मन में एक मिथ्या अभिमान भर दिया। विश्व के सभी ज्योति-पिण्डों को अपनी पृथ्वी के चारो ओर ही घूमते देखकर मनुष्य ने यही सोचा कि

विश्व-विधाता ने इन पिण्डों को उसीके लिये सिरजा है और यह भी कि विश्व-सृष्टि में उसका ही सर्वोच्च स्थान है।

इस मिथ्या विश्वास के विरुद्ध अरिस्तार्कस नामक एक ग्रीक विद्वान् ने, आज से लगभग २२०० वर्ष पहिले अपनी आवाज उठाई थी। ग्रीस देश के समोस नामक एक नगर में जन्म लेकर. वह बाद में अलेक्जान्ड्रिया (मिश्र देश का एक शहर) जाकर बस गया था। वह एक शिक्षक था। वहीं रहकर उसने एक पुस्तक लिखी और प्रकाशित की, जिसका नाम था "सूर्य और चन्द्रमा के आकार और उनकी दूरियां।" आकाश के पिण्डों के अपने निरीक्षणों और अध्ययनों का विशुद्ध गणित के आधार पर विवेचन करने वाला वह प्रथम ज्योतिर्विद् था। अपने प्रयोगों और निरीक्षणों का विशुद्ध तर्क-सङ्गत ऊहापोह कर वह इस नतीजे पर पहुँचा कि हमारी पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य हजारों गुना बड़े आकार का है। उसने तब यह कहा कि यह बात कितनी असंगत और अर्थहीन है कि इतने विशाल आकार का एक पिण्ड (सूर्य) अपने से हजारों गुना छोटे एक दूसरे पिण्ड (पृथ्वी) को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर घूमे। उसने अपने अध्ययनों के दो परिणाम निकाले :—(१) तारे और सूर्य तो अचल हैं और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है; (२) इन अचल तारों के वृत्त इतने बड़े हैं कि हमारी पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा उन तारों की उससे (पृथ्वी से) दूरियों के साथ ठीक वही अनुपात रखती है, जो उन तारों के वृत्तों के अपने-अपने केन्द्र-

विन्दु अपने समूचे वृत्तों के साथ बनाए रखते हैं। यह है सर्व प्रथम ज्ञात एक स्पष्ट वक्तव्य कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है।

अरिस्तार्कस के इस कथन में तथ्य का अंश तो जरूर था, फिर भी वह तत्कालीन ज्योतिर्विज्ञान को सही रास्ते पर न ला सका। उन दिनों सभी ज्ञान-विज्ञान अरस्तू और अफलातून को ही प्रमाण मानकर चलते थे और, उन दोनों के मत उक्त 'पृथ्वी केन्द्रक' विश्वास में जकड़े हुए थे। इसलिये अरिस्तार्कस के मत के रूप में सत्य की यह क्षणिक कौंध अन्धकार में ही बिला गई।

ईसा के जन्म के करीब १५० वर्ष बाद मिश्र देश के निवासी एक ग्रीक ज्योतिर्विद क्लोडियस टेलेमेकस ने, जिसे संक्षेप में टोलेमी (ताल्मी) कहा जाता है, 'पृथ्वी-केन्द्रक विश्व' के इस विश्वास को अपने लिखे एक ग्रंथ 'आल्मागेस्ट' द्वारा एक सिद्धांत का रूप ही दे दिया। इस ग्रंथ में उसने पृथ्वी को स्थिर मानकर उसके चारों ओर घूमते हुए सूर्य एवं अन्य ग्रहों की गतियों का स्पष्टीकरण किया। क्योंकि उसका यह विवेचन उस समय प्रचलित मान्यताओं से मिलता-जुलता था, इसलिये इसको सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। ताल्मीकी शह पाकर इस तथा-कथित सिद्धान्त ने अगले १४०० वर्षों के लम्बे समय तक ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में अपना निर्विरोध शासन चलाया।

उसके इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये नीचे हम रेखाचित्र १ दे रहे हैं।
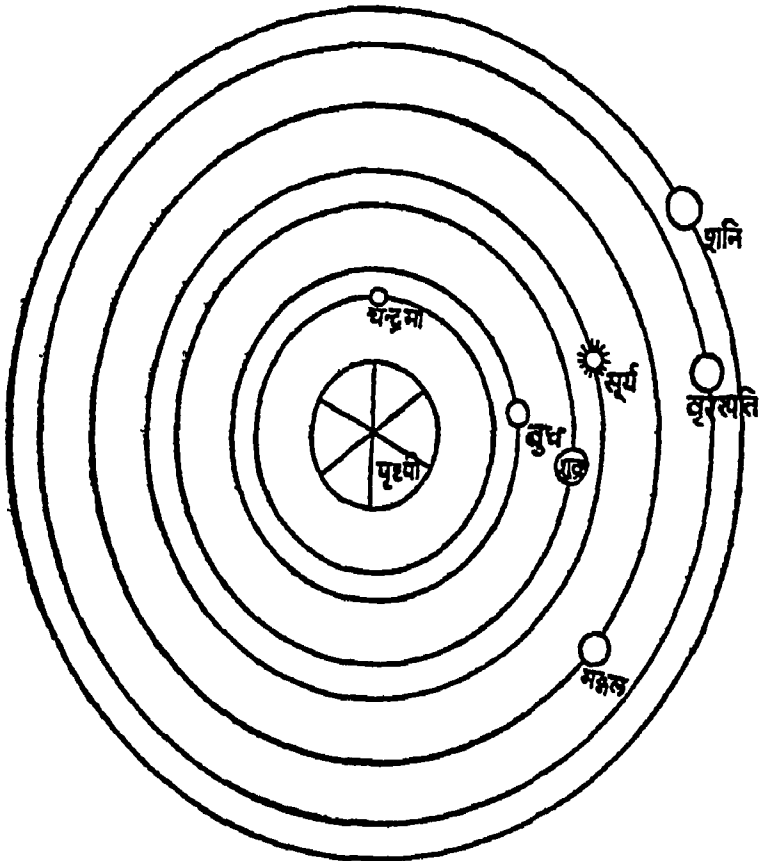
रेखाचित्र १

उस समय तक पृथ्वी गोलाकार मानी जा चुकी थी। ताल्मी के अनुसार विश्व का केन्द्र पृथ्वी ही थी और सूर्य एवं अन्य ग्रह इसके चारों ओर, पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हुए, अपनी भिन्न-भिन्न दूरियों पर ही घूमते रहते थे।

जहाँ तक सूर्य और चन्द्रमा का सवाल था, उनके भ्रमण को लेकर तो कोई दिक्कत हो ही नहीं सकती थी ; क्योंकि यह दोनों

ही पिण्ड हमेशा आगे की ओर ही भ्रमण करते रहते हैं। परन्तु बात आकर अड़ गई दूसरे ग्रहों के भ्रमण को लेकर। यह ग्रह समय-समय पर उलटे या पूर्व से पश्चिम की ओर चलते भी देखे जाते हैं जिसे इनकी वक्रगति कहते हैं। इस दिक्कत को सुलझाने के लिए यह कहा गया कि वह ग्रह छोटे-छोटे वृत्तों पर घूमते हैं। और इन वृत्तों के केन्द्र भी सूर्य की तरह, लगातार एक सीध में ही, पूर्व की ओर, चलते हैं। बुध और शुक्र, इस बात में, अन्य तीनों ग्रहों की तरह ही थे : फर्क सिर्फ इतना ही था कि जिन लगातार सीधे चलनेवाले केन्द्रों के चारों ओर यह घूम रहे थे, वह केन्द्र हमेशा ही उस सीधी रेखा पर होते थे जो सूर्य को पृथ्वी से मिलाती हुई मानी गई थी। इस प्रकार कहा जाता था कि यह दोनों ग्रह कभी भी सूर्य के पीछे की ओर न जाते थे, वह सूर्य और पृथ्वी के बीच ही हमेशा रहते थे।

१४०० वर्षों के इस लम्बे दौरान में नई-नई खोजें हो ही रही थीं। इन ग्रहों के वेध लिए जा रहे थे। ज्यों-ज्यों यह वेध शुद्ध होते गये यह पाया गया कि ताल्मी की ऊपर कही हुई यह धारणा इन वेधों से प्राप्त होनेवाली गतियों का पूरा मेल नहीं बिठा पाती थी। ताल्मी की इस धारणा पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि इसकी मान्यता को बनाए रखने के लिए इसमें कुछ हेरफेर और कर दिए गये जिससे यह वेधों की इस नई मांग को पूरा कर सके। ग्रहों के भ्रमण-वृत्तों को और भी छोटा किया गया। एक बात और भी थी। ग्रीक विचारक पीथेगोरस के

द्वारा प्रतिपादित यह धारणा भी लोगों में जड़ जमाए बैठी थी कि वृत्त ही केवल पूर्ण ज्योमितिक रूप है और क्योंकि आकाश में पूर्णरूपों के सिवाय कोई और रूप हो ही नहीं सकते इसलिए इन ग्रहों की भ्रमण-कक्षाओं को वृत्ताकार मानने के सिवाय कोई और रास्ता भी नहीं था।

ताल्मी के इस सिद्धान्त में जोड़-तोड़ लगाकर इसके प्रेमी इसे किसी प्रकार ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक तो खींच लाये। बीच-बीच में यहां-वहां से विद्रोह की आवाजें उठती तो जरूर रहीं, परन्तु उन्हें कठोरता से दबाकर पनपने नहीं दिया गया। ईसा की चौदहवीं सदी के बाद ऐसे अनेक ईसाई पादरियों का उल्लेख मिलता है जो सब, अरस्तू और ताल्मी के मत के विरुद्ध, यह कहते थे कि पृथ्वी ही वास्तव में घूम रही है ; कि तारों की दुनियाँ बिल्कुल अलग है और यह भी कि अनन्त देश में पृथ्वी की अपनी भ्रमण-कक्षा उन तारों की दुनियाँ की अपेक्षा अत्यन्त नगण्य है। इनमें पादरी गिओर्डानो ब्रूनो प्रमुख थे। ब्रूनो ने बड़े साहस के साथ आगे बढ़कर कहा कि ईश्वर की असीम दया का झुकाव ही इस बात की ओर था कि तारों की संख्या असीम हो। उन्होंने फिर यह तर्क किया ; क्योंकि असीम का कोई केन्द्र हो नहीं सकता, इसलिए यह मानना कि सूर्य अथवा पृथ्वी ही इस विश्व के केन्द्र हैं, बिल्कुल असङ्गत और अर्थहीन है। कोपार्निकस के सिद्धान्त की अपेक्षा, जिसका उल्लेख हम आगे यहीं करेंगे, ब्रूनो के मन्तव्यों ने मानव-

विचारधारा को सम्भवतः अधिक प्रभावित किया था। जो कुछ हो, ब्रूनो ने इस विचार-धारा में जबर्दस्त हलचलें मचाकर कोपर्निकस के सिद्धान्त का मार्ग तो प्रशस्त कर ही दिया। तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों को ब्रूनो के यह तर्क इतने खतरानाक लगे कि सन् १६०० ई० में उन्हें जीवित ही जला दिया गया।

सन् १५१२ ई० में पोलैण्ड के एक प्रतिभाशाली नाक्षत्रिक निकोलस कोपर्निकस ने पूरे ३० वर्षों के सतत अध्ययन के वाद अपनी एक क्रान्तिकारी धारणा प्रस्तुत की। इसमें सूर्य को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर घूमती हुई पृथ्वी एवं अन्य ग्रहों का सिद्धान्त रक्खा गया। कोपर्निकस ने भी इन ग्रहों की भ्रमण-कक्षाओं को वृत्ताकार ही माना, परन्तु उसने ताल्मी के विपरीत यह माना कि सूर्य इन वृत्तों में किसी एक वृत्त का केन्द्र नहीं है और यह वृत्त भी समकेन्द्रक Concentric नहीं हैं। कोपर्निकस ने सिर्फ चन्द्रमा को ही पृथ्वी के चारो ओर घूमता हुआ माना। यही एक बात ऐसी थी जहाँ दोनों ही ताल्मी और कोपर्निकस एक मत थे। कोपर्निकस की धारणा निम्नानुसार थी :—

कोपर्निकस की इस धारणा के अनुसार, पृथ्वी की कक्षा के बाहर के उन तीन ग्रहो की समय-समय पर दिख पड़नेवाली विपरीत गतियों का कारण सिर्फ सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का परिक्रमण revolution ही था। यह बात यों समझी जा सकती है। मान लीजिए आप किसी एक पास की वस्तु को

देख रहे हैं। उस वस्तु के आगे उस तरफ कमरे की दीवार है। उस वस्तु को देखते-देखते ही यदि आप अपने सिर को बाँई
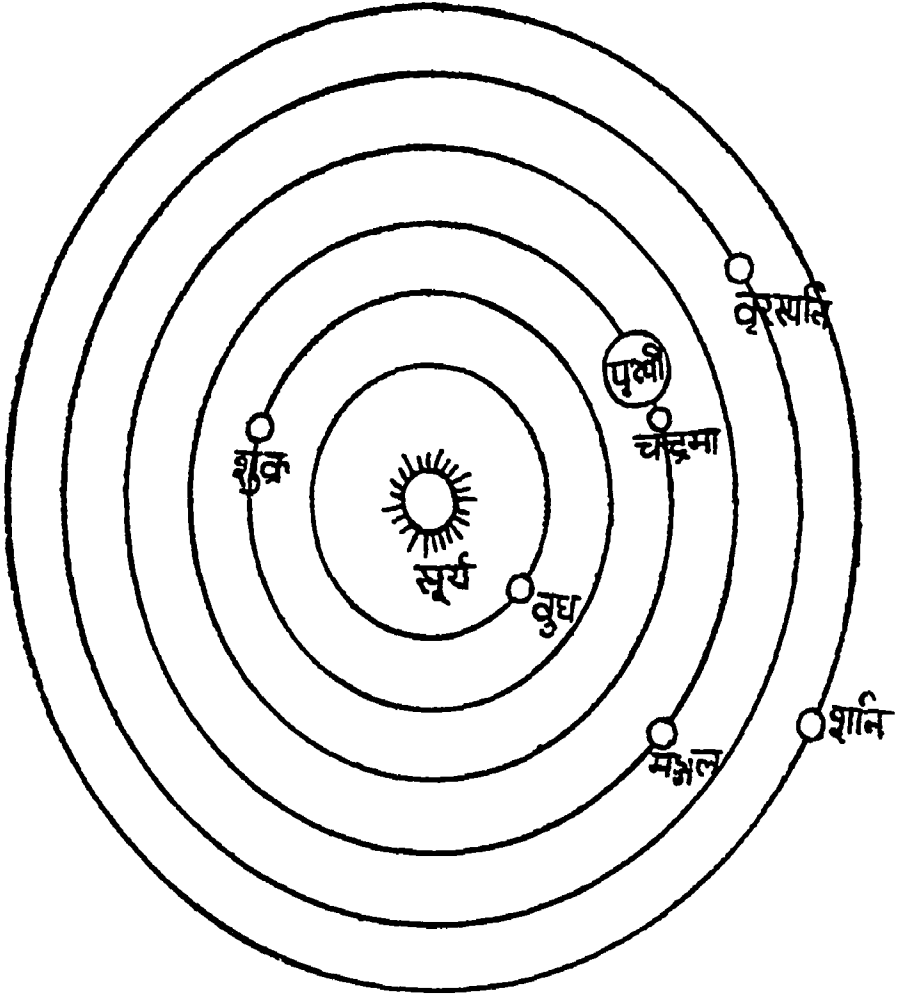
रेखाचित्र २

ओर घुमावें तो दूर की दीवार की पृष्ठभूमि पर वह वस्तु दाहिनी ओर चलती दिख पड़ेगी। चाहे जब आप किसी खिड़की की एक छड़ या किसी एक खम्भे को लेकर यह अनुभव कर सकते हैं। दूर की किसी एक पृष्ठभूमि पर दिख पड़नेवाली पास की

एक वस्तु की ऐसी गति को, जो वास्तव में देखनेवालों की अपनी आँखों के हिलाने-डुलाने का परिणाम ही है, नक्षत्र-विज्ञान में "लम्बन" parallax कहते हैं। इस पुस्तक में इस शब्द का अनेकों बार व्यवहार किया जावेगा। यह एक पारिभाषिक शब्द है और हमारे दैनिक जीवन के ही एक अनुभव को बतलाता है। इस पर कुछ बिस्तार से लिखने की जरूरत है।

यदि हम अपने सिर को पहिले बाँई ओर घुमावे और फिर दाहिनी ओर, तो जिस वस्तु को हम देख रहे हैं वह पहिले तो दाहिनी ओर, और फिर बाँई ओर, चलती दिखाई देगी। अगर वह वस्तु दाहिनी ओर से लगातार बाँई ओर चल रही हो और हम अपने सिर को बारी-बारी एक ओर से दूसरी ओर घुमाते रहें तो ऐसा मालूम होगा, मानो वह वस्तु प्रथम तो दाहिनी ओर, काफी दूर तक, शीघ्रता से चल रही है, और फिर मानो धीरे-धीरे, कुछ थोड़ी दूर तक, बाँई ओर चल रही है। इस तरह बारी-बारी हमें इन गतियों का ही आभास होगा।

ठीक यही बात इन तीनों ग्रहों (मङ्गल, वृहस्पति और शनि) पर भी लागू होती है। समय-समय पर दिख पड़नेवाली इनकी विपरीत या वक्रगति का कारण यही है। कोपर्निकस ने ठीक ही कहा था कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की वार्षिक भ्रमण-गति के कारण एक ओर से दूसरी ओर चलते हुए एवं अपनी

कक्षाओं पर लगातार समान रूप से घूमते हुए यह तीनों ग्रह ठीक ऐसा ही व्यवहार करते हुए हमें दिखाई देंगे।

यह तो हमें मानना ही होगा कि मध्ययुग के उन अज्ञानावृत दिनों में यह बात बड़ी मुश्किल से मानी जा सकती थी। ताल्मी और कोपर्निकस की इन परस्पर बिरोधी कल्पनाओं या धारणाओं को लेकर उन दिनों एक बहुत ही व्यापक वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था। दोनों ही ओर से एक दूसरे के पक्ष की काट और अपने पक्ष के समर्थन में अनेकों युक्तियाँ दी जाती थीं। रोम के प्रधान गिर्जाघर ने, जो अपनी धर्मान्धता के लिए तब तक काफी कुख्यात हो उठा था, इस विवाद को और भी उग्ररूप दे दिया था। उदाहरण के तौरपर हम उस एक युक्ति का उल्लेख कर रहे हैं जो इस धारणा के, कि पृथ्वी चल रही है, विरोध में पेश की गई थी। थी भी यह बड़ी विचारपूर्ण। कहा जाता था कि यदि पृथ्वी चल रही है तो तारों की पृष्ठ-भूमि पर उसकी इस गति का प्रत्याभास अवश्य होता होगा और इस कारण वह तारे, एक ओर से दूसरी ओर, थोड़े बहुत चलते हुए से दिखाई देते होंगे। नक्षत्र-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो वह तारे पृथ्वी की गति के परिणामस्वरूप, अपनी अपनी लम्बीय गति (Parallactic motion) अवश्य दिखाते होंगे।

ऊपर हम कह आये हैं कि कोपर्निकस ने पृथ्वी की गति के इसी प्रत्याभास को लेकर मङ्गल, बृहस्पति और शनि—इन तीनों

ग्रहों की समय-समय पर दिखने वाली वक्र-गति का समाधान किया था। स्वभावतः ही विरोधी दल ने इस बात को आधार बनाकर यह प्रश्न पूछा; तारे क्यों नहीं इस लम्बन-गति को झलकाते ? इस प्रश्न का एक ही सम्भव उत्तर दिया जा सकता था कि ग्रहों की अपेक्षा तारे हमसे इतने ज्यादा दूर हैं कि उनकी यह गति, बहुत सूक्ष्म होने के कारण, पकड़ी नहीं जा सकती। आज तो हम जान चुके है कि यह बिल्कुल ठीक उत्तर था, परन्तु मध्य युग के उस जमाने में तारों की इतनी बड़ी दूरियाँ, आसानी से नहीं मानी जा सकती थी।

सन् १६०९ ई० में इटली देश के एक विद्वान् गेलीलियो गेलिली ने पहले पहल एक दूरबीन बनाई। इसकी मदद से उसने आकाश की छानबीन कर इस तथ्य का साक्षात्कार किया कि यह सब ग्रह काफी बड़े आकार के गोलाकार पिण्ड हैं। यद्यपि इस दूरबीन में इतनी शक्ति तो जरूर थी कि वह इन पिण्डों के नंगी आँखों से दिख पड़नेवाले आकारों को कई गुना बड़े दिखा सकती थी; फिर भी इसके द्वारा देखे जाने पर भी, तारों के दिख पड़नेवाले आकारों में कोई फर्क नहीं पड़ता था। स्पष्टतः ही यह बात टालमी की धारणा के विरुद्ध जाती थी।

गेलीलियो ने अपनी इस दूरबीन से देखकर पता लगाया कि बृहस्पति ग्रह के साथ भी, हमारी पृथ्वी के चन्द्रमा की तरह, चार उपग्रह सम्बद्ध है, जो उसके चारों ओर घूमते रहते हैं। इस बात में यह ग्रह पृथ्वी के ही समान था, पृथ्वी का भी अपना

एक उपग्रह चन्द्रमा है। क्योंकि पृथ्वी गोलाकार है, इसलिए यह ग्रह भी गोलाकार ही होना चाहिए। पृथ्वी के चारो ओर एक चन्द्रमा घूमता रहता है जब कि बृहस्पति ग्रह के चारों ओर चन्द्रमा की तरह के ही चार उपग्रह घूमते रहते हैं। इसलिए निष्कर्ष यही निकाला गया कि पृथ्वी भी सूर्य का एक ग्रह ही है।

यह सब तथ्य और निष्कर्ष बहुत कुछ इस सम्भावना की ओर इशारा करते थे कि पृथ्वी सहित यह ६ हों ग्रह सूर्य के चारों ओर ही घूमते हैं। परन्तु, इतना होने पर भी, कोपर्निकस के विरोधियों को यह कहने का मौका था कि उसकी इस धारणा की पुष्टि में कोई सबल प्रमाण नहीं है। हो सकता है कि हमारी यह पृथ्वी ग्रहों के समान ही हो; फिर भी उनकी अपेक्षा यह अपने कुछ विशिष्ट गुण तो रख ही सकती है और इस कारण यह (पृथ्वी) दूसरे सब ग्रहों की वृत्ताकार गतियों का केन्द्र भी हो सकती है।

यह शुक्र ग्रह के ही वेध थे जिन्होंने अन्त में कोपर्निकस की धारणा का ही पलड़ा भारी किया। गेलीलियो ने यह पता लगाया कि चन्द्रमा की तरह शुक्र भी क्रमशः अनेक रूप लेता है—पहले पूरा, फिर एक कुबड़े के आकार का, बाद में अंग्रेजी वर्णमाला के D डी अक्षर की तरह अर्द्धाकार और फिर एक ही फाँक या कला का।

शुक्र के इन वेधों का निर्णयात्मक स्वभाव रेखाचित्र ३ और ४ से साफ जाहिर होता है। रेखा चित्र ३ में ताल्मी की धारणा के अनुसार शुक्र की भ्रमण-कक्षा दिखलाई गई है। इस में इस ग्रह की ४ अलग-अलग स्थितियाँ और रूप दिखलाए गये हैं। जब यह ग्रह अपनी १ और ३ स्थितियों में होता है, उस समय इसका अँधेरा भाग पृथ्वी की
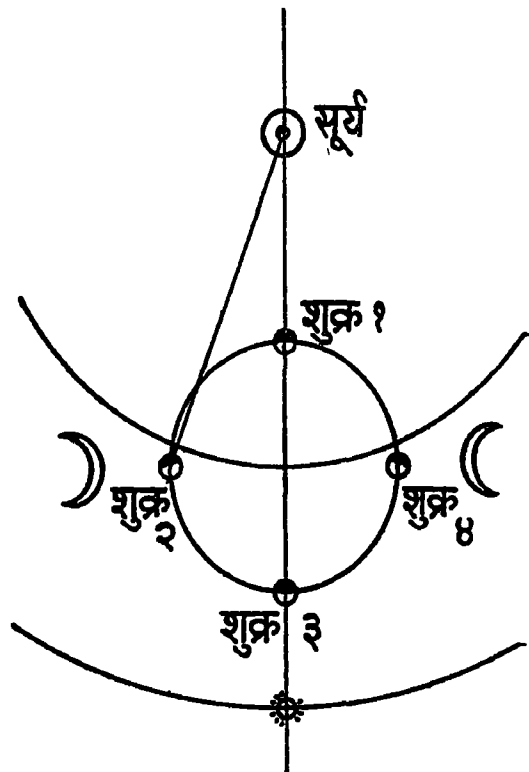
रेखा चित्र ३

ओर होता है। इस कारण इन दोनों ही हालतों में यह ग्रह हमारी पृथ्वी से दिखाई नहीं पड़ता। अपनी २ और ४ स्थितियो में इस का सिर्फ थोड़ा-सा वह भाग ही हमें दिख पड़ता है जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। इन स्थितियों में यह हमें अँधेरे पाख की दूज के चन्द्रमा की तरह ही दिखाई पड़ सकता है। यह रूप इस रेखाचित्र में अलग से दिखलाया गया है। अपनी समूची भ्रमण-कक्षा पर यह ग्रह कहीं भी अपने इस आकार से ज्यादा बड़े आकार का नहीं दिख सकता। जब कभी यह दिख पड़ेगा, हमेशा ही इस सँकरे एक ही कला के रूप में होगा।

रेखाचित्र ४ में कोपर्निकस की धारणा के अनुसार शुक्र की स्थितियाँ दिखलाई गई हैं। इसमें जब शुक्र अपनी स्थिति १ के पास होता है, उस समय इसका सूर्य से प्रकाशित भाग हमारी पृथ्वी की ओर रहता है। तब यह हमें प्रायः गोलाकार दिखाई पड़ता है। अपनी ३री स्थिति में इसका अँधेरा भाग पृथ्वी की ओर रहने के कारण यह हमें बिल्कुल दिखाई नहीं देता—हाँ; जब कि यह सूर्य के बिम्ब को हमारी ओर ठीक सामने से पार करता हो उस समय तो, जरूर, यह सूर्य-बिम्ब पर एक छोटे काले धब्बे के रूप में दीख पड़ेगा। अपनी स्थिति २ और ४ में, जब यह सूर्य से अपनी अधिकतम दूरी पर होता है, अर्द्ध गोलाकार दीख पड़ताहै। नक्षत्र-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में तब यह "आधा कटा हुआ" dichotomised कहा जाता है। जाहिरा तौर पर अपनी स्थिति १ और २ एवं स्थिति १ और ४ के बीच यह कुब्बड़नुमा दीख पड़ता है, जब कि २ और ३
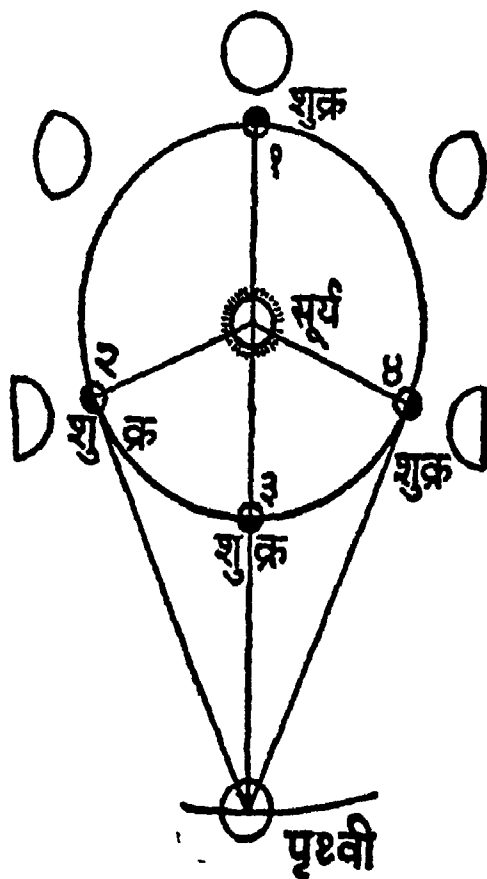
रेखाचित्र ४

एवं ३ और ४ के बीच एक ही फाँक या कला का कृष्णपक्ष की दूज के चाँद की तरह। ज्यों-ज्यों यह ग्रह अपनी स्थिति ३ के नजदीक पहुँचता रहता है, त्यों-त्यों सङ्कीर्ण होता चलता है।

गेलीलियो ने अपनी दूरबीन की मदद से देखा कि शुक्र के दीख पड़नेवाले रूप वास्तव में रेखाचित्र ४ की तरह ही हैं और रेखाचित्र ३ की तरह बिल्कुल नहीं। शुक्र ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमता है, इस बात का यह एक सबल प्रमाण था। इस बात ने ताल्मी की इस धारणा को, कि यह ग्रह पृथ्वी के चारों ओर घूमता हुआ पृथ्वी और सूर्य के बीच किसी एक बिन्दु को केन्द्र बनाकर घूमता है, निराधार सिद्ध कर दिया। गेलीलियो की दूरबीन में इतनी शक्ति न थी कि वह बुध ग्रह की भी ठीक इसी भांति की स्थितियों और दीख सकनेवाले रूपों को पकड़ पाती। क्योंकि बुध आकार में शुक्र से छोटा होने के साथ-साथ उस (शुक्र) की अपेक्षा पृथ्वी से ज्यादा दूर भी था, इसलिए इस ग्रह के बदलते हुए रूपों को देख पाने के लिए एक ज्यादा शक्तिशाली दूरबीन चाहिए थी। बाद में, ज्यादा शक्तिशाली दूरबीनों के निर्माण होने पर, परवर्ती नाक्षत्रिकों ने इनकी सहायता से बुध के इन रूपों को देखा और तब जाकर यह निर्विवाद मान लिया गया कि बुध भी सूर्य के चारों ओर ही घूम रहा है।

अब रहे तीनों बचे हुए ग्रह ; मङ्गल, वृहस्पति और शनि। इन तीनों ही ग्रहों को ध्यान में रखकर यदि हम रेखाचित्र १ और २ का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम जान पावेंगे कि

चाहे हम ताल्मी की धारणा के अनुसार देखें या कोपर्निकस की, दोनों ही हालतों में इन तीनों ग्रहों की क्रमिक स्थितियों और हमें दीख पड़नेवाले उनके रूपों में कोई भी फर्क न पड़ेगा। इन दोनों ही हालतों में यह तीनों ग्रह कभी भी अर्धाकार नहीं दिख पड़ेंगे और न कभी कृष्णपक्ष की दूज के चाँद की तरह। जब कभी भी यह तीनों ग्रह सूर्य से अपनी अधिकतम दूरियों पर रहते समय देखे जावेंगे, उस समय हमेशा ही कुब्बड़नुमा रूप में दिख पड़ेंगे। विशेषता यही होगी कि शनि तो शायद ही कभी इस रूप में दिख पड़ेगा और बृहस्पति बहुत ही कम। परन्तु मङ्गल अवश्य अपने इस रूप को प्रमुखता से दिखलावेगा।

क्योंकि यह तीनों ही ग्रह ताल्मी और कोपर्निकस की विरोधी धारणाओं के आधार पर बनाए गये रेखाचित्र १ और २ के अनुसार अपने एक से ही रूप दिखाते हैं, इसलिए इन ग्रहों का कोई ऐसा वेध नहीं हो सका जो इन दोनों धारणाओं में से किसी एक को अपना समर्थन दे सके।

इन तीनों ग्रहों की गतियों से सम्बन्ध रखनेवाले जो ज्यामितिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं, उन सबका एक मिलता-जुलता सा समाधान इन दोनों ही विरोधी धारणाओं से हो जाता है। रेखाचित्र १ के अनुसार यह माना जाता है कि यह तीनों ग्रह पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं, जब कि रेखाचित्र २ के अनुसार सूर्य के चारों ओर।

पहिली नजर में तो यह बात हमें कुछ अजीब और असं-

गत-सी मालूम होगी कि यह दोनों ही धारणायें, एक-दूसरी से इतनी विरुद्ध होते हुए भी, यहाँ आकर क्यो एक ही सुर में अलापने लगती हैं। परन्तु बात यह है बिल्कुल सीधी-सी। यदि हम रेखाचित्र १ और २ को फिर देखें तो हमें मालूम होगा कि इन दोनों ही चित्रों में, पृथ्वी और सूर्य, इन तीनों ग्रहों (मङ्गल, वृहस्पति और शनि) के भ्रमण-वृत्तों के भीतर ही पड़ते हैं। चित्र १ में, जो ताल्मी की धारणा के अनुसार है, पृथ्वी के बाद, पहिले बुध ग्रह का भ्रमण-वृत्त है, फिर शुक्र का, फिर सूर्य का। उसके बाद मङ्गल का भ्रमण-वृत्त है फिर वृहस्पति का और बाद में शनि का। रेखाचित्र २ कोपर्निकस की धारणा के अनुसार है। इसमें सूर्य केन्द्र में है। उसके बाद बुध का भ्रमण-वृत्त है, फिर शुक्र का और बाद में पृथ्वी का। पृथ्वी के बाद फिर वही क्रम है जो रेखाचित्र १ में है; अर्थात् मङ्गल का भ्रमण-वृत्त, फिर वृहस्पति का और तब शनि का। इन दोनों ही रेखाचित्रों में मङ्गल, वृहस्पति और शनि के भ्रमण-वृत्त पृथ्वी और सूर्य के बाहर की ओर हैं—उन दोनों को घेरे हुए हैं। पृथ्वी और सूर्य के चारो ओर तो हर हालत में यह चक्कर लगावेंगे ही, चाहे हम पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए ग्रहों की कल्पना करें या सूर्य के चारों ओर।

यदि हम रेखाचित्र १ में थोड़ा-सा घटाव-बढ़ाव कर दे तो देख पायेंगे कि इन तीनों ग्रहों में से कोई भी एक, सूर्य को केन्द्र मानकर, एक गोलाकार भ्रमण-मार्ग बनावेगा ही।

रेखाचित्र ५ में इस बात को ज्यामिति के रूपों में स्पष्ट किया गया है। हमें सिर्फ यही करना होगा कि रेखाचित्र १ में पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए सूर्य की भ्रमण-कक्षा की जो कल्पना
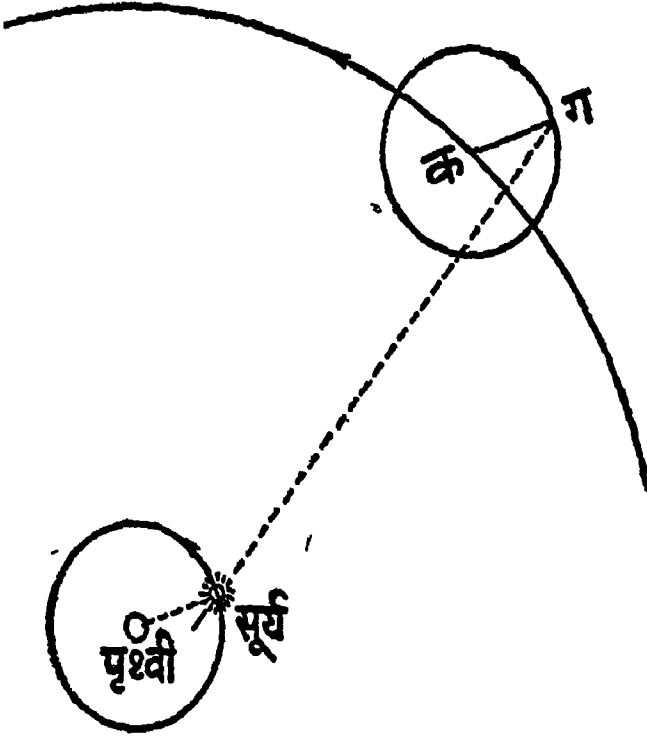
रेखाचित्र ५

हमने की है, उसका व्यास उतना ही मानें जितना कि उस दूसरे छोटे वृत्त का जो कोई एक ग्रह "ग" (मङ्गल, बृहस्पति या शनि) उस केन्द्र "क" के चारों ओर घूमता हुआ बनावेगा, जो स्वयं (केन्द्र-"क") भी लगातार चलता ही रहेगा। यदि हम ऐसा करें और चित्र ५ में यही किया गया है, तो हम देखेंगे कि "सूर्य—ग" रेखा की लम्बाई हमेशा एक ही बनी रहेगी—दूसरे शब्दों में

हम यों कह सकेंगे कि ग्रह "ग" सूर्य को केन्द्र बनाकर एक वृत्त बनावेगा ही।

यह बात ताल्मी की धारणा में भी सम्भव है, क्योंकि उसके अनुसार इन सभी वृत्तों के व्यास "माने हुए ही" हैं; कल्पित हैं।

ऊपर कही गई सारी बातों को देखते हुए कोपर्निकस की धारणा, ताल्मी की अपेक्षा, ज्यादा सन्तोषप्रद है। इस धारणा के अनुसार बड़े आकार के उन तीनों ग्रहों (मङ्गल, बृहस्पति और शनि) की समय-समय पर दिखनेवाली वक्र गति का कारण सिर्फ सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की भ्रमण गति ही है। यही नहीं; इस धारणा में सभी ग्रहों की भ्रमण-कक्षाओं (Orbits) के सापेक्ष व्यासों relative diameters को प्राप्त किया जा सकता है, जैसा हम आगे बतावेंगे।

गेलीलियो के द्वारा किये गये वेधों ने यह सिद्ध कर दिया कि यह सभी ग्रह पृथ्वी की तरह के पिण्ड हैं और यह भी कि शुक्र ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमता है। यद्यपि इस बात का कोई अनुरूप प्रमाण तो नहीं मिल सका कि बाकी सारे ग्रह, जिनमें पृथ्वी भी एक है, सूर्य के चारों ओर घूमते हैं; फिर भी इन वेधों ने ताल्मी की धारणा को एक जबर्दस्त धक्का दे दिया। यह बात, कि सूर्य ही पृथ्वी एवं अन्य ग्रहों की गतियों का केन्द्र है, ज्यादा पुष्ट और सम्भव बन गई। कोपर्निकस की इस धारणा में एक बहुत बड़ा गुण था; यह सरल बहुत थी। इसने इन ग्रहों की वेध-प्राप्त गतियों का अपने आप में ही पूरा-पूरा

समाधान कर दिया। ताल्मी को इनके लिए अलग-अलग ऊपरी मान्यताएँ लादनी पड़ती थीं और इस कारण उसकी धारणा ज्यादा जटिल और बोझिल होती जा रही थी। ऊपर से लादी जाने वाली मान्यताएँ जितनी ही कम हों, उतना ही कोई सिद्धान्त मानव मन को आकर्षित करता है।

आगे जाकर तो डेन्मार्क देश के नाक्षत्रिक टाइको ब्राही Tycho Brahe ने इन ग्रहों की गतियों के बिल्कुल सही वेध ले लिए। समय का तकाज़ा था कि अब और आगे बढ़कर कोई बड़ा कदम लिया जाय। हुआ भी यही और इसका सेहरा बँधा जान केपलर Jahannes Kepler के सर पर। टाइको ब्राही के लिये गये वेधों का उपयोग कर केपलर ने यह सिद्ध कर दिया कि इन ग्रहों की सूर्य के चारों ओर जो भ्रमण-कक्षाएँ हैं, वह वास्तव में दीर्घ वृत्ताकार ellipses हैं और पूर्ण-वृत्ताकार circles नहीं जैसा कि तब तक माना जाता था। उसने यह भी बताया कि प्रत्येक दीर्घवृत्त कक्षा के दो नाभि बिन्दुओं foci में से किसी एक बिन्दु पर सूर्य हमेशा ही होता है; यह भी कि किसी भी एक ग्रह की, अपनी कक्षा पर, गति के वेग के उतार-चढ़ाव variations of velocity एक सीधे और सरल से नियम के अनुसार होते हैं जिन्हें हम गणित की संख्याओं में प्रकट कर सकते हैं। उसने यह भी बतलाया कि प्रत्येक ग्रह को अपनी कक्षा orbit पर एक पूरा चक्कर देने में जितना समय लगता है उसमें और सूर्य से उस ग्रह की कम से कम दूरी

में भी एक सम्बन्ध है जिसे अङ्कों में प्रकट किया जा सकता है।

यहाँ आकर ताल्मी की धारणा को एक घातक प्रहार लगा। ताल्मी की यह धारणा चाहे जितनी मान्यताएँ ऊपर से ओढ़ती फिर भी वह केपलर की इन खोजों को आत्मसात् नहीं कर सकती थी।

ताल्मी की इस मरती हुई धारणा को सर आइज़क न्यूटन Sir Isaac Newton ने खत्म ही कर दिया। अपने अनेक प्रयोगों द्वारा न्यूटन ने यह सिद्ध कर दिया कि कोपर्निकस तथा केपलर ने सौर-मण्डल के इन आकाशीय पिण्डों की गतियों की जो कल्पना की थी, वह सब एक सीधी-सादी मान्यता द्वारा पुष्ट होती हैं। वह मान्यता यह है कि विश्व ब्रह्माण्ड की किसी भी ठोस वस्तु या द्रव्य का कोई भी एक कण दूसरे किसी कण को अपनी ओर खींचता है। इस खिचाव की शक्ति उन दोनों कणों की मात्राओं Masses के गुणनफल के सीधे समानुपातों directly proportional में, एवं उन दोनों के बीच की दूरी के वर्ग square के उलटे समानुपातों में होती है।

न्यूटन के इस सिद्धान्त के बाद ताल्मी की भू-केन्द्रक धारणा geocentric hypothesis बिलकुल ठुकरा दी गई और आज तो आइन्स्टीन Einstein के और भी सरल एवं मौलिक सिद्धान्त उस धारणा की धज्जियाँ उड़ाने को तैयार हैं, परन्तु आइन्स्टीन के जन्म से बहुत पहिले ही बेचारी यह धारणा नक्षत्र-विज्ञान के क्षेत्र से निर्वासित कर दी गई थी और इसकी जगह आ बैठी थी कोपर्निकस की धारणा, जो आज सर्वमान्य है।

दूसरा परिच्छेद

सूर्य और उसका ग्रह-परिवार

पुराने जमाने में मनुष्य की विश्व-विषयक विचारधारा पर जो एक मौलिक असत्य, कि हमारी यह पृथ्वी ही इस समूचे विश्व-ब्रह्मांड का केन्द्र है, हावी हो उठा था, वह जब इस प्रकार दूर हटाकर फेंक दिया गया और यह जान लिया गया कि हमारी यह पृथ्वी सूर्य के बड़े परिवार की ही एक अङ्ग हैं, तब जाकर यह महसूस किया जाने लगा कि अब हम अनन्त के सही मार्ग पर पैर बढ़ा चुके हैं।

सूर्य ही इस परिवार का जनक है। अपने घरों में हम देखते हैं कि जन्म लेने के बाद बच्चे, एक निश्चित उम्र तक, अपने भरण-पोषण और शरीर-वृद्धि के लिये आवश्यक खुराक अपने पिता से ही पाते रहते हैं और, इस कारण, वह उसके ही चारों ओर नाचते-कूदते रहते हैं। ठीक इसी तरह सूर्य के यह बच्चे (ग्रह) अपने लिये आवश्यक ताप और शक्ति अपने उस पिता (सूर्य) से ही पाते रहते और उसीके चारों ओर घूमते भी रहते हैं।

सूर्य के इस परिवार में ६ ग्रह हैं जिनके नाम क्रमशः बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपचून और प्लूटो है। इनमें सब ग्रहों की अपेक्षा बुध ही सूर्य के अधिक निकट है। सूर्य से अपनी-अपनी दूरियों के आधार पर ही ग्रहों का यह क्रम है। इन ग्रहों के भी अपने-अपने कुल ३१ उपग्रह हैं। चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का ही एक उपग्रह है।

इस बड़े परिवार में इनके अलावा, ३०,००० लघुग्रह asteroids भी हैं जो ज्यादातर मङ्गल और बृहस्पति की भ्रमण-कक्षाओं के भीतर-भीतर ही, सूर्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। हजारों धूमकेतु comets और अनगिनत उल्काएँ meteors भी इसी परिवार के कच्चे-बच्चे हैं।

यह उल्काएँ धातुओं और पत्थरों के छोटे-बड़े पिण्ड ही हैं जो प्रायः रात के समय प्रकाश की क्षणिक रेखाएँ-सी बनाकर गिरती देखी जाती हैं। भ्रम और अज्ञान के कारण लोग इनको तारों का टूटना कहते हैं, वास्तव में यह उल्काएँ ही हैं जो सूर्य-मण्डल के विशाल आँगन में इधर-उधर उछल-कूद मचाती हुई बिखरी पड़ी हैं। जब कभी यह उल्काएँ अपनी भाग-दौड़ के जोश में भटक कर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के फन्दे में आ फँसती है तो उसके खिचाव के कारण बड़े तीव्रवेग से पृथ्वी की ओर दौड़ पड़ती हैं। पृथ्वी के चारों ओर २०० मील की दूरी तक वायु-मण्डल फैला हुआ है जो एक सुदृढ़ ढाल की तरह इन बाहरी हमलावरों से इसकी (पृथ्वी की) रक्षा करता रहता है।

वायुमण्डल के संघर्ष के कारण पृथ्वी पर गिरती हुई यह उल्काएँ जल उठती हैं। जलकर भस्म होती हुई इन उल्काओं की चिताग्नि को ही हम प्रकाश की क्षणिक रेखा के रूप में देखते हैं। उल्काओं के जो अंश जलकर भस्म नहीं होते उनको घिस-घिसकर यह वायुमण्डल छोटे-छोटे जर्रों के रूप में बदल देता है। यह कण या जर्रे पृथ्वी की सतह पर रात दिन गिरते रहते और उसे मोटी और अधिक उपजाऊ बनाते रहते हैं।

हमारी यह पृथ्वी हमें स्थिर और अचल दिख पड़ती है, यद्यपि वास्तव में यह हजारों मील प्रतिघन्टे के वेग से दौड़ रही है। इसकी सतह पर खड़े हुए हमें बाकी सभी ग्रह आकाश के आरपार एक संकीर्ण से घिराव में चलते नजर आते हैं। हमारे पूर्वजों ने ग्रहों के इस संकीर्ण गोलाकार पथ को 'क्रान्ति-वृत्त' Zodiac नाम दिया है। आज हम यह जान गये हैं कि तारा-समूहों (नक्षत्रों) के एक बड़े परन्तु पतले और चपटे क्षेत्र का महज एक कल्पित रूप ही यह क्रान्ति-वृत्त है जिसपर हमारी पृथ्वी और अन्य सभी ग्रह, गुरुत्वाकर्षण की शक्ति में हमेशा के लिए बन्दी बने हुए, एक केन्द्रीय तारे (सूर्य) के चारों ओर घूम रहे हैं।

हमारी दृष्टि में सूर्य का चाहे जो महत्व हो, है वह आखिर एक तारा ही और वह भी मँझौले आकार और तापमान का। एक तारा होने के नाते सूर्य का प्रकाश स्वयं उसकी अपनी ही कमाई है—किसी दूसरे से प्रकाश उधार लेकर वह नहीं चमकता।

उसका व्यास पृथ्वी के व्यास का १०८ गुना (८६४,००० मील) है। यदि वह खोखला होता तो हमारी पृथ्वी के बराबर के करीब १३,००,००० पिण्ड उसमें रखे जा सकते थे। उसका गुरुत्वाकर्षण भी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का २८ गुना है। जो वस्तु पृथ्वी पर १ मन वजन की होगी, सूर्य पर जाकर वही वस्तु २८ मन वजन की हो उठेगी। यदि मनुष्य किसी तरह वहाँ पहुँच भी जाय तो उसे वहाँ भारी दिक्कत उठानी पड़ेगी। अपनी उँगलियों को वह इतनी भारी महसूस करने लगेगा कि उनको इधर-उधर हिलाना डुलाना भी उसके लिए मुश्किल हो जायगा।

सूर्य का पिण्ड धधकती हुई आग का एक गोला-सा है। उसकी इस आग की प्रचण्डता का अनुभव हम उससे ९,३०.००,-००० मील दूर रहते हुए भी करते हैं। उसकी चमक इतनी तेज है कि हमारी आँखें उस पर टिक ही नहीं पातीं। इसके चमकते हुए भाग को 'प्रकाशावरण' कहते हैं। इस आवरण के बाहर पतली गैसों का एक ढक्कन-सा है और उसके भी बाहर लाल रङ्ग का एक खोलसा मँढ़ा हुआ है। उन सबके बाहर, चारों ओर, एक 'तेजःपुञ्ज' है। सूर्य के ग्रहण होते समय ही इस 'तेजःपुञ्ज' और उस 'लाल खोल' को देखने में सुविधा होती है और इस कारण सूर्य का अध्ययन करने के लिए हमारे नक्षत्र-शास्त्री प्रत्येक होने वाले सूर्य-ग्रहण को ठीक तरह देख पाने के लिए अपने साजो-सामान लेकर दुनिया के दूर-दूर के, परन्तु तदुपयुक्त स्थानों में कई दिनों पहिले ही जाकर अपने अड्डे जमा लेते हैं।

'तेजःपुञ्ज' से निकली हुई जलती गैसें चारों ओर के आकाश में लाखों मीलों तक ऊँची उठती हुई अपरिमित शक्ति और ताप बिखेरती रहती हैं जिनका कुछ अंश हमारी पृथ्वी के हिस्से में आकर हमें जीवन धारण करने में मदद देता है। सूर्य की 'लाल खोल' का तापमान ६,०००° अंश है और उसके केन्द्र का तापमान तो लाखो अंशों में हैं।

आखिर, सूर्य के इस प्रचण्ड ताप, प्रकाश और शक्ति का स्रोत क्या है? अपनी उत्पत्ति के बाद पिछले करोड़ों वर्षों से सूर्य लगातार अपने चारों ओर के आकाश में बड़ी लापरवाही से अपरिमित ताप और प्रकाश बिखेरता चला आया है, फिर भी उसके भण्डार में कोई कमी होती-सी नहीं जान पड़ती।

उसके इस अक्षय से दिखनेवाले भण्डार के रहस्योद्घाटन में वैज्ञानिकों ने अनेक कल्पनाएँ और मत प्रस्तुत किए हैं। आजका बहुमान्य मत तो यही है कि सूर्य का पिण्ड अधिकतर उद्जन अणुओं का ही बना हुआ है। जिन मूलतत्वों से यह समूचा विश्व बना हुआ है उनकी सूची में प्रथम स्थान उद्जन अणु का ही है। एक उद्जन अणु के केन्द्र या 'नाभिक' में धन विद्युत् का एक कण-प्रोटन-होता है और उसके चारों ओर ऋण-विद्युत् का एक कण-एलेक्ट्रन-घूमता रहता है। आगे चलकर अणुओं के विषय में लिखते समय हम इनको स्पष्ट समझावेंगे।

हाँ तो, सूर्य पिण्ड की उद्जन के प्रत्येक चार अणुओं के नाभिक या प्रोटन एक साथ मिलकर 'हीलीयम' तत्व के एक-

एक अणु बन जाते हैं। इस तत्व के एक अणु के 'नाभिक' में चार प्रोटन और चार ही एलेक्ट्रन होते हैं। उद्जन से हीलियम बनने की इस क्रिया में उद्जन के नाभिक-कणों का कुछ भाग शक्ति energy में परिणत हो जाता है। इस तरह, सूर्य के समूचे पिण्ड के भीतर प्रत्येक सेकन्ड में ५,६४०,०००,००० (पाँच अरब चौंसठ करोड़) टन उद्जन गैस ही उक्त क्रिया द्वारा ५,६००,०००,००० (पाँच अरब साठ करोड़) टन हीलियम गैस में परिणत होती रहती है। शेष ४ करोड़ टन उद्जन गैस, 'शक्ति' energy बनकर प्रगट होती है। उद्जन से हीलियम और शक्ति बनने की यह क्रिया सूर्य के पिण्ड में अनवरत होती रहती है और सूर्य के आन्तरिक तापमान को लाखों अंश ऊँचा बनाए रखती है।

यह तो सच है कि इस क्रिया में सूर्य धीरे-धीरे हलका होता जा रहा है, परन्तु उसका यह हलकाव इतना सूक्ष्म होता है कि अपने पिछले दो या तीन अरब वर्षों के जीवन-काल में उसने अपने पिण्ड की समूची द्रव्य-मात्रा के सौवें हिस्से से भी कम ही अंश खोया है।

इतने ऊँचे तापमान के कारण ही सूर्य अपने चारो ओर आकाश में 'शक्ति' बिखेरता रहता है। शक्ति का यह बिखराव अनेक रूपों में होता है। शक्ति या किरण-प्रसरण का कुछ विखराव लम्बी लहर-वितानों (प्रत्येक किरण तरङ्गों के रूप में बहती हैं; उन तरङ्गों की व्यक्तिगत लम्बाई) long waves में

होता है, जिसे हमलोग 'ताप' के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे कुछ बिखराव छोटी लहर-वितानों small waves में होते हैं, जो हमारे लिए प्रकाश के रूप में व्यक्त होते हैं। कुछ बिखराव और भी छोटी वितानों में होते हैं; परन्तु हमारी आँखें उनका अनुभव नहीं कर पातीं। यह हैं 'क्ष-किरणें' x-rays इत्यादि। इनमें की कोई भी किरणें जब पृथ्वी पर पहुँच कर वहाँ किसी पदार्थ पर आघात करती हैं, तो वह पदार्थ उन किरणों की शक्ति को सोख लेता है और तब तापमान की वृद्धि के रूप में हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उनका अनुभव कर पाती हैं।

इतना सब कुछ देकर भी विश्व-विधाता ने, न मालूम क्यों, सूर्य के दीप्त और सुन्दर शरीर पर कुछ काले-काले से दाग भी लगा दिए हैं। अपने इन दागों को छिपाने के लिए सूर्य ने तीव्र चमक का एक चोगा तो जरूर पहन रक्खा है; फिर भी हमारी दूरबीनों की अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने इनको देख ही लिया है। उसके यह काले धब्बे sun-spots छोटे और बड़े अनेक तरह के हैं। इन दागों या धब्बों की एक बात तो बड़ी ही अनोखी है—प्रत्येक ११ वर्षों के अन्तर पर इनकी संख्याओं और आकारों में काफी बढ़ाव देखा जाता है। जब-जब यह धब्बे दिखलाई पड़ते हैं, हमारी पृथ्वी पर कुछ असाधारण बातें होती देखी जाती हैं। पृथ्वी पर विश्व-किरणों cosmic-rays की बौछारें तो थोड़ी बहुत निरन्तर होती ही रहती हैं; परन्तु सूर्य के पिण्ड पर इन धब्बों के बनने या दीख पड़ने के समय तो इन बौछारों में

असाधारण उग्रता और वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि यहाँ (पृथ्वी पर) रेडियो-लहरों का बहाव बिल्कुल रुक जाता है और इस कारण इन लहरों द्वारा किए जानेवाले समाचारों के प्रसार ठप्प हो जाते हैं। इनको 'रेडियो फेड-आउट्स' radio fadeo-outs कहते हैं।

मौसम पर भी इन धब्बों का असर होता है; पृथ्वी पर तब भीषण सर्दी पड़ने लगती है।

२३ फरवरी सन् १९५६ ई० के दिन तो जब सूर्य-पिण्ड पर ऐसे धब्बे देखे गये थे, और भी एक अनोखी बात देखने में आई। उस दिन सूर्य के पिण्ड पर भीषण विस्फोट हुए, जो अपनी उग्रता में दस लाख उद्जन-बमों के एक ही साथ फट पड़ने के बराबर थे। इन विस्फोटों के ठीक बाद ही पृथ्वी पर विश्व-किरणों की प्रबलतम बौछारें हुईं। हमारे वैज्ञानिकों ने इसके पहिले इतने भीषण विस्फोट और विश्व-किरणों की इतनी प्रबल बौछार कभी नहीं देखी थी। इन घटनाओं का सही स्पष्टी-करण वह अब तक नहीं कर सके हैं।

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि अपने ग्रह-परिवार का मुखिया यह सूर्य स्वयं एक तारा ही है, जो अपने जैसे या अपने से छोटे-बड़े अन्य करोड़ों तारों के समान 'आकाश-गङ्गा' (इसका वर्णन हम आगे एक परिच्छेद में करेंगे) का ही एक नागरिक है। परन्तु इन सभी नागरिकों को एक जगह घर बनाकर आराम से बैठने की सख्त मुमानियत है। अपने बच्चों-

कच्चों (ग्रह-परिवार) को साथ लेकर सूर्य भी तारों की इस आकाश-गङ्गा के केन्द्र के चारों ओर प्रति सेकन्ड २७० कि ो-मीटर के वेग से भाग-दौड़ कर रहा है। उसके इस भ्रमण-वृत्त का अर्द्ध-व्यास करीब ४०,००० प्रकाश-वर्ष है।

सूर्य के ग्रहों पर भी अब हमें एक उड़ती-सी नजर डाल लेनी चाहिए। ऐसा करने के पहिले हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उन पिण्डों को ही हम ग्रह कहते हैं, जो किसी एक तारे के शरीर से जन्मे हों। तारों की तरह यह ग्रह भी हमें प्रकाश से दिपते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु यह उनका निजी प्रकाश नहीं है। जिस तारे से उसने जन्म लिया है, उसके अपने ऊपर पड़ते हुए प्रकाश को ही प्रतिविम्बित कर वह ग्रह चमकता-सा दिख पड़ता है। तारे और ग्रहों की प्रत्यक्ष पहचान यह है कि तारे तो टिमटिमाते या झिलमिल-झिलमिल करते हैं, परन्तु ग्रह ऐसा नहीं करते; उनका प्रकाश स्थिर ही बना रहता है।

सूर्य का निकटतम ग्रह बुध है। उसके चारों ओर घूमता हुआ यह ग्रह अपनी समूची भ्रमण-कक्षा पर उससे ३६० लाख मील दूर रहता है। उसके बाद सफेद रंग का ग्रह शुक्र है। शुक्र के बाद अपने एक उपग्रह चन्द्रमा को लिए हुए पृथ्वी है। फिर लाल रङ्ग का मङ्गल है, जिसके अपने दो छोटे-छोटे उप-ग्रह हैं। उसके आगे अपने १२ उपग्रहों को लेकर बृहस्पति ग्रह है। ग्रहों में यह सब से बड़े आकार का है। फिर है बारीक छल्लों से घिरा हुआ शनि, जिसके अपने ९ उपग्रह हैं। इसका एक उपग्रह

टीटन (Titon) तो आकार में चन्द्रमा से भी बड़ा है। बाद में क्रम से यूरेनस, नेप्चून और छोटा, परन्तु सूर्य से अधिकतम दूर प्लूटो है।

कुछ ज्योतिर्विद् प्लूटो को अब एक ग्रह मानने में हिचकिचाने लगे हैं। इनमें डा० जेराल्ड किपर (Gerald Kuiper) प्रमुख हैं। डा० किपर पिछले कुछ वर्षों से अमेरिका के एरीझोना राज्य के फ्लैगस्टाफ शहर की लावेल वेधशाला में प्लूटो ग्रह के मूलस्रोत के विषय में अन्वेषण कर रहे हैं। अपने इन अन्वेषणों के कुछ परिणाम तो उन्होंने अभी हाल में ५ फरवरी सन् १९५६ ई० को प्रकाशित किए हैं। डा० किपर के मत में प्लूटो स्वयं एक ग्रह न होकर नेप्चून ग्रह का एक उपग्रह ही है, जो आज से करोड़ों वर्ष पहिले अपने उस ग्रह (नेप्चून) से बग़ावत कर बैठा था।

अपने इस मत की पुष्टि में डा० किपर ने निम्नलिखित चार युक्तियां भी पेश की हैं :—

(१) प्लूटो की भ्रमण-कक्षा नेप्चून की भ्रमण-कक्षा को काटकर कुछ-कुछ उसके भीतर जा घुसी है। किन्हीं भी दो ग्रहो की भ्रमण-कक्षाओं का ऐसा व्यवहार सौरमण्डल में अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जाता। वास्तव में, कोई ग्रह अपनी गैसीय द्रव्य-मात्रा में ऐसी एक अनोखी भ्रमण-कक्षा बना ही नहीं सकता।

(२) अन्य ग्रहों की समकेन्द्रक भ्रमण-कक्षाओं की अपेक्षा प्लूटो

की भ्रमण-कक्षा एक जगह तो १७° अंशों से भी कुछ अधिक ही झुकी हुई है।

(३) अपनी धुरी पर अपने ही चारों ओर घूमने में प्लूटो को करीब ६॥ दिन लगते हैं। किसी एक ग्रह के इतने लम्बे परिभ्रमण-काल की कोई विचार-पूर्ण आशा ही नहीं की जा सकती। स्मरण रहे कि नेप्चून का परिभ्रमण-काल १५ घण्टों का है और पृथ्वी का २४ घण्टों से कुछ कम ही।

(४) अन्य ग्रहों को देखते हुए आकार-परिमाण में प्लूटो बहुत अधिक छोटा है—पृथ्वी के पिण्ड का सिर्फ ३० वाँ भाग ही।

इन सब बातों को देखते हुए डा० किपर ने यही निष्कर्ष निकाला है कि आरम्भ में गैस की जिस द्रव्य-मात्रा से नेप्चून ग्रह बना था, उससे टूटकर ३ पिण्ड अलग जा पड़े थे। इनमें से दो को तो किसी प्रकार मनाकर नेप्चून ने अपना अनुवर्त्ती बना लिया, परन्तु हठी प्लूटो न माना और उसने अपनी एक स्वतन्त्र भ्रमण-कक्षा बना ली।

प्लूटो की यह भ्रमण-कक्षा सूर्य से ३,६७०,०००,००० मील दूर है।

यह बात खास ध्यान देने की है कि इन सभी ग्रहों की भ्रमण-कक्षाएँ दीर्घ-वृत्ताकार (elliptical) ही हैं। इन कक्षाओं पर चक्कर देते हुए यह सब ग्रह सूर्य से अपनी दूरियों में और अपनी कक्षाओं पर भागने के वेगों में थोड़ा-बहुत घटाव-बढ़ाव भी करते रहते हैं। अपनी भ्रमण-कक्षाओं पर ही जब वह सूर्य

के निकटतम होते हैं, तव उनके भागने का वेग तीव्रतम हो उठता है और जब वह उससे अधिकतम दूर होते हैं, तब उनका यह वेग भी मन्द हो जाता है। उनकी इन गतियों और वेगों का नियामक वह नाजुक सन्तुलन ही है, जो उनके लगातार सीधे ही, आगेकी ओर, चलते रहने की प्रवृत्ति (inertia) और उनको पकड़े रखने वाली सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के बीच है। यह नाजुक और सूक्ष्म सन्तुलन ही इन ग्रहों को एक ओर तो सूर्य के पाश से छूटकर दूर भटक जाने से रोकता है, और दूसरी ओर इनको सूर्य के धधकते हुए पिण्ड में कूद कर भस्म हो जाने से भी रोकता है।

ठीक यही नियम धूमकेतुओं पर भी लागू है। अपनी अत्यन्त लम्बी भ्रमण-कक्षाओं के आखिरी छोरों पर पहुँच जाने पर सूर्य के इस गुरुत्वाकर्षण का खिंचाव उनकी चालों को धीमी कर देता है और उनको फिर वापिस मुड़ पड़ने को बाध्य कर देता है। इस तरह मुड़कर वह धूमकेतु फिर सूर्य की ओर ही अपनी कक्षाओं पर वापिस भागने लगते हैं। जब वह अपनी कक्षाओं के भीतरी छोरों (सूर्य की ओर) पर आ पहुँचते है, तो इनका 'आगे की ओर सीधे चलते रहने का स्वभाव' मानो जोर पकड़ लेता है। इस कारण उनकी चालें तेज हो उठती है और फिर वह सूर्य से दूर-दूर अपने भ्रमण-मार्ग पर भागना शुरू कर देते हैं। स्पष्ट है कि सूर्य का गुरुत्वाकर्षण ही इन ग्रहों की भ्रमण-कक्षाओं को वनाता है और फिर उनपर हमेशा नियन्त्रण रक्खे रहता है।

सूय और उसके परिवार का परिचय तो हम दे चुके। अब हमें यह देखना है कि कैसे और क्योंकर हमारी अपनी पृथ्वी से इन अन्य ग्रहों और इस बड़े कुटुम्ब के जन्मदाता और पोषण-कर्ता सूर्य की दूरियाँ आँकी गई।

इसके पहिले कि हम आगे बढ़ें, हमें यह जान लेना जरूरी है कि हमारे अपने रोजमर्रा के जीवन में लम्बाइयाँ नापने की जिन इकाइयों (फुटों और इञ्चों) को हम काम में लेते हैं वह आकाश के इन निवासियों पर कारगर नहीं बैठती हैं। इन पिण्डों की दूरियाँ नापने और आँकने के लिये तो हमें ज्योतिर्विज्ञान के "कोणीय मापों" (angular measurements) का ही उपयोग करना होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह माप एक ही अर्थ रखते हैं, भ्रम की गुञ्जाइश नहीं।

इन कोणीय-मापों में हम जिन इकाइयों का उपयोग करते हैं, उनको भी जान लेना जरूरी है। कल्पना कीजिए कि चारों क्षितिजों (उत्तरी, पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी) में घिरा हुआ समूचा आकाश, जो हमें दिख पड़ता है बराबर के ३६० हिस्सों में बँटा हुआ है। इनमें के प्रत्येक हिस्से को हम एक "अंश" (degree) कहते हैं। प्रत्येक "अंश" के भी ६० समान भाग हैं, जिनमें प्रत्येक को एक "कला" (minute) कहते हैं और इस एक "कला" के भी ६० बराबर भाग और हैं जिनमें से प्रत्येक भाग को "विकला" कहते हैं।

अब, किसी भी कोणीय दूरी को इन तीनों ही इकाइयों में

व्यक्त किया जाता है। मान लीजिए, हम कहते हैं कि अमुक वस्तु हम से ३° १६′ ४०″ कोणीय दूरी पर है। इन संख्याओं के सिरों पर जो एक बिन्दु और एक और दो तिरछी पाइयाँ हैं, वह क्रम से अंश, कला और विकला की द्योतक हैं। ज्योतिर्विज्ञान में इन संकेतों से हम ऊपर लिखे हुए द्योतक ही लेते हैं; यद्यपि जगहों के तापमान बताते समय भी इस शीर्षबिन्दु का उपयोग किया जाता है जहाँ यह एक दूसरा ही अर्थ रखता है। इसी प्रकार १ पाई से फुटों और दो पाइयों से इञ्चों का भी बोध्र कराया जाता है। "कला" और "विकला" शब्दों से समय के हिस्सों को भी बताया जाता है। उस-उस विषय के प्रसङ्ग में, इनका उस विषय से सम्बन्धित अर्थ ही समझना होता है।

मिट्टी के बने हुए पृथ्वी के रंगीन गोले globes तो आपने देखे ही होंगे और यह भी देखा होगा कि इन गोलों पर चारों ओर, पूर्व से पश्चिम की तरफ, अनेक समानान्तर-रेखाएँ खींची हुई होती हैं, जिन्हें अक्षांश-वृत्त (the parallels of latitude) कहते हैं। भूमध्य-रेखा-वृत्त या विषुवत-रेखा-वृत्त (the equator) इन्हीं में का एक वृत्त है। यह विषुवत-रेखा-वृत्त न केवल दोनों ध्रुवों के बीच में ही है, अपितु इन अक्षांश-वृत्तों में सबसे बड़ा है। यह एक बड़ा वृत्त है; दूसरे सब अक्षांश-वृत्त इसकी अपेक्षा छोटे ही हैं।

इन गोलों पर ऊपर से नीचे की ओर, पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों को जोड़ते हुए नारंगी की फाँकों की तरह के और

भी वृत्त खींचे हुए रहते हैं ; इन्हें याम्योत्तर-रेखा-वृत्त या रेखांश वृत्त (the meridians of longitude) कहते हैं। अक्षांश-वृत्तों पर यह रेखांश-वृत्त जो कोण बनाते हैं, उन्हें यदि "अंशों" degrees में मापें तो यह देखकर हमें अचरज होगा कि विषुवत रेखा-वृत्त पर के कोई दो स्थान, जो एक दूसरे से १ अंश की दूरी पर हैं, अन्य अक्षांश-वृत्तों पर के किन्हीं भी दो स्थानों की आपसी दूरी, जो स्वयं भी १ अंश ही होगी, की अपेक्षा ज्यादा दूरी पर दिख पड़ेंगे।

पृथ्वी के धरातल पर किसी भी एक स्थान की स्थिति बतलाते समय हम इन्हीं "अक्षांश" और "रेखांश" वृत्तों का प्रयोग करते हैं और उसे अमुक अंश, कला और विकला में व्यक्त करते हैं।

आकाश का जो आधा गोल भाग हमारी नजरों में पड़ता है उसमें भी किसी एक ज्योति-पिण्ड की स्थिति स्पष्ट बतलाने के लिये हम इसी तरह के वृत्तों की कल्पना करते हैं। आकाश के गोले पर कल्पित अक्षांश-वृत्तों को तो "क्रान्ति-वृत्त" (declination और रेखांश-वृत्तों को "विषुवांश" right ascention) कहते हैं। किसी भी एक तारे अथवा अन्य ज्योति-पिण्ड की विषुव-वृत्त से उत्तर या दक्षिण की ओर, जो कोणीय दूरी हैं उसे उस तारे या पिण्ड का क्रान्ति-वृत्त कहते हैं और उसे अंशों, कलाओं और विकलाओं में प्रकट करते है। विषुवांशों को भी इन्हीं इकाइयों में प्रकट करते हैं; परन्तु इनका

अलगाव दिखलाने के लिए इन्हें "समय-अंश", "समय-कला" और "समय-विकला" कह देते हैं।

जब यह कहा जाता है कि किसी एक निर्दिष्ट समय में चन्द्रमा का कोणीय व्यास ३०′ है, तो इसका सिर्फ एक ही मतलब निकलता है—अर्थात्, आकाश के किसी एक बड़े वृत्त की समूची परिधि को पूरी तरह ढॅकने के लिए, ऐसे ३०′ कोणीय व्यास के ७२० चन्द्रमा एक दूसरे से सटाकर रखने होंगे। जब हम कहें कि अमुक दो तारे, एक दूसरे से ३०′ दूर हैं तो इसका मतलब होगा कि जिस बड़े वृत्त पर वह दोनों मौजूद से दिख पड़ते हैं, उस पर चारों ओर यह दोनों ही तारे, अपनी इस ३० कला की आपसी दूरी को बनाए रक्खे हुए, ७२० बार रक्खे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आकाश में दिख पड़ने वाली इन ज्योति पिण्डों की दूरियों को नापने में जिन कोणीय मापों का उपयोग किया जाता है, उनमें भ्रम की तनिक भी गुञ्जाइश नहीं है।

अब हम सौर-मण्डल से आरम्भ करते हैं। हम जानते हैं कि बुध और शुक्र दोनों सूर्य के चारों ओर ही घूमते हैं आर यह भी कि उनकी भ्रमण-कक्षाएं पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा के भीतर ही पड़ती हैं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करने के साथ-साथ बुध और शुक्र की भी परिक्रमा देती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि सूर्य, बुध और शुक्र की कोणीय दूरियां हमेशा ९०° अंशों से कम ही होती है।

वास्तव में यह दोनों ही ग्रह बुध और शुक्र आकाश में सूर्य से पूर्व अथवा पश्चिम की ओर लगातार कुछ-कुछ दूर हटते हुए घूमते रहते हैं। कुछ दिनों बाद उनकी दूर हटने की गति धीमी होती-होती रुक जाती है और कुछ समय रुकने के बाद वह सूर्य की ओर फिर चलने लग जाते हैं। जिस क्षण इनमें का कोई एक ग्रह सूर्य से अपनी ज्यादा से ज्यादा दूरी पर होता है, उस क्षण को उस ग्रह का "महत्तम-सूर्यान्तर-कोण" (maximum elongation) कहते हैं।

समझने में आसानी के लिये हम पहिले यह मान लेते हैं कि महत्तम-सूर्यान्तर-कोण की कोणीय दूरियाँ हमेशा एकही रहती हैं। यदि बुध, शुक्र और पृथ्वी की तीनों ही भ्रमण-कक्षाएँ, सूर्य को केन्द्र बनाकर, गोलाकार वृत्तही बनातीं, तो यह बात बिल्कुल सही होती।

बात को और भी स्पष्ट करने के लिये हम रेखाचित्र ६ दे रहे हैं। इसमें सूर्य, बुध, शुक्र और पृथ्वी को एवं इन तीनों ही ग्रहों की भ्रमण कक्षाओं को, उक्त गोलाकार वृत्त बनाने की धारणा के आधार पर, एक मोटे से पैमाने पर दे रहे हैं। इस आकृति को खींचने में हम बिन्दु "पृथ्वी" से दो सीधी रेखाएँ खींचते हैं। इन दोनों ही रेखाओं द्वारा "पृथ्वी" बिन्दु पर जो कोण बनेगा उसे, शुक्र-ग्रह के महत्तम-सूर्यान्तर-कोण के समय सूर्य और शुक्र के बीच दिख पड़नेवाली कोणाय दूरी के बराबर का बना लेते हैं। इन दोनों सीधी रेखाओं में से

किसी एक पर हम सूर्य को पृथ्वी से, हमारी इच्छानुसार दूरी पर, रखलेते हैं। फिर बिन्दु "सूर्य" से एक सीधी रेखा खींचते हैं जो पृथ्वी से खींची हुई उस दूसरी रेखा को बिन्दु "शुक्र" पर काटती है। इस प्रकार बिन्दु "शुक्र" उस ग्रह (शुक्र) की उसके महत्तम सूर्यान्तर-कोण के समय की स्थिति होगी। क्योंकि यूक्लिद का रेखागणित और हमारा साधारण ज्ञान हमें बतलाता है कि "पृथ्वी-शुक्र" रेखा ठीक उस वृत्त का
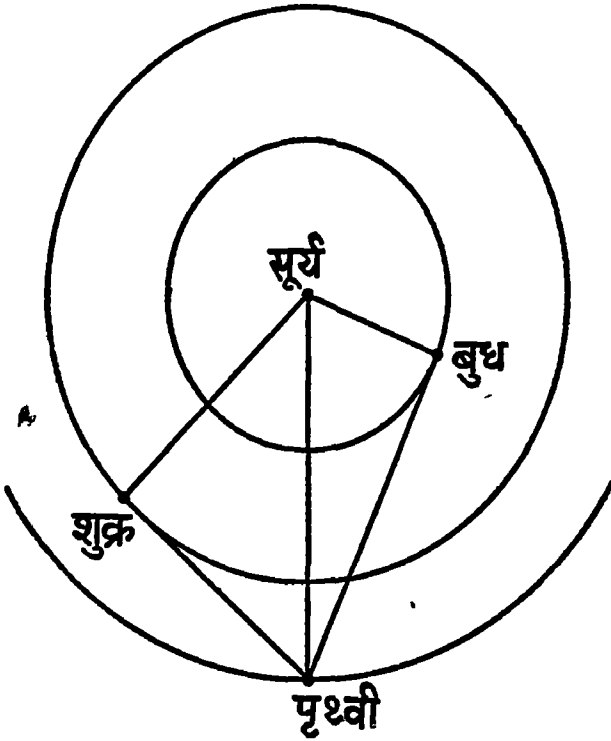
रेखाचित्र ६

एक चाप (tangent) ही होगी जिस वृत्त का केन्द्र होगा सूर्य और जिसका अर्धव्यास होगी "सूर्य-शुक्र" रेखा। दूसरे

शब्दों में हम कह सकेंगे कि इस वृत्त का कोई भी भाग "शुक्र" बिन्दु से होकर गुजरने वाली इस रेखा की बाईं ओर तो कभी भी न होगा। परिणाम यह कि, पृथ्वी से देखे जाने पर शुक्र ग्रह इस बिन्दु पर होते समय सूर्य से जितना दूर दिख पड़ेगा उससे ज्यादा दूर वह कभी भी न दिख पड़ेगा।

अब हम "पृथ्वी-सूर्य" और "शुक्र-सूर्य" रेखाओं को नाप सकते हैं और इस प्रकार सूर्य से पृथ्वी और शुक्र की दूरियों का अनुपात जान सकते हैं। ठीक यही प्रक्रिया हम बुध ग्रह को लेकर भी कर सकते हैं।

इन सारी प्रक्रियाओं को करने में हम यह मानकर चले थे कि इन तीनों ही ग्रहों की भ्रमण-कक्षाएँ वृत्ताकार या गोल हैं, परन्तु तथ्य तो कुछ और ही है। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में व्यूटेम्बर्ग (जर्मनी) के सुप्रसिद्ध गणितज्ञ जान केपलर ने यह सिद्ध कर दिया कि यह तीनों ही कक्षाएँ वास्तव में दीर्घ-वृत्ताकार (elliptical) हैं।

रेखाचित्र ७ से मालूम होगा कि एक दीर्घ-वृत्त क्या है और उसका ज्यामितिक रूप कैसे खींचा जाता है। इसको खींचने के लिए हम एक प्रक्रिया यों कर सकते हैं। एक कागज पर दो आलपीनों को एक दूसरे से कुछ दूर के दो बिन्दुओं पर, जो एक बिलकुल सीधी रेखा में होते हैं,
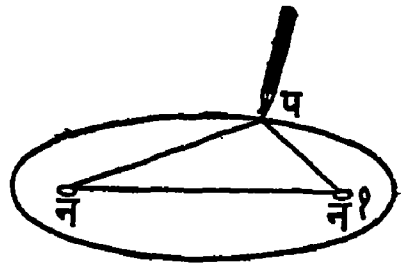
रेखाचित्र ७

टाँक देते हैं। फिर हम एक मजबूत और कड़े धागे को लेते हैं और उससे इन दोनों ही आलपीनों को कसकर घेर देते हैं। फिर इस धागे के दोनों सिरों को एक छिली हुई पेंसिल की नोंक पर मजबूती से गाँठ देकर बाँध देते हैं। अब पेंसिल को उस कागज पर चारों ओर घुमाते हैं। हमें सिर्फ यही ध्यान रखना है कि धागा पेंसिल की लपेट में खूब तना रहे। इस प्रकार घुमाई जाने पर यह पेंसिल एक अण्डाकार आकृति खींच देती है, जो एक शुद्ध दीर्घवृत्त होती है। इस समूची प्रक्रिया में धागे की लम्बाई ठीक वही रहती है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। इसका मतलब होता है यह कि "नप" और "न१प" दूरियों या रेखाओं का जोड़ हमेशा एक ही होगा। वास्तव में, दीर्घवृत्त एक ऐसी वक्र आकृति है जिस पर के किसी भी एक बिन्दु की किन्हीं दो अन्य बिन्दुओं से दूरियों का योगफल हमेशा एक ही या स्थायी रहता है। "न" और "न१" दोनों को ही नाभि-बिन्दु (focus) कहते हैं। किसी भी एक ग्रह की दीर्घ-वृत्ताकार भ्रमण-कक्षा में सूर्य हमेशा इन दोनों नाभि-बिन्दुओं में से किसी एक पर होता है।

"न१प" और "नप", इन दोनों ही दूरियोंका योग स्थायी ही रहता है; परन्तु बिन्दु "प" अथवा पेंसिल जैसे-जैसे वक्र पर चारों ओर घूमता है, दूरी "नप" घटती या बढ़ती रहती है। हम अपनी इच्छानुसार इस दीर्घ-वृत्त को मोटा या संकीर्ण बना सकते हैं; ऐसा करने में हमें इन दोनों आलपीनों की आपसी

दूरी में ही हेरफेर करना होगा, परन्तु धागे की लम्बाई हर हालत में वही रहेगी। अगर हम इन दोनों ही आलपीनों को एक ही बिन्दु पर ले आवें तो उस हालत में जो आकार बनेगा, वह दीर्घ-वृत्त न होकर, वृत्त या गोल ही होगा; उस हालत में "न प" और न१प" इन दोनों की लम्बाइयाँ भी बराबर ही होंगी। यदि हम इन दोनों आलपीनों को एक दूसरी से इतनी दूर रख दें कि बाहर से उनको घेरनेवाला वह धागा बिल्कुल तन जाय और तब फिर पेंसिल को चलावें तो जो आकार हम खींचेंगे वह एक बहुत ही संकीर्ण दीर्घ-वृत्त होगा जिसमें "नप" की लम्बाई, एक ओर तो बहुत ही छोटी हो जावेगी, परन्तु "न१प" की लम्बाई उतनी ही बढ़ जावेगी, और दूसरी ओर "न१प" की लम्बाई बहुत ही छोटी हो जावेगी, परन्तु "नप" की उतनी ही बड़ी।

प्रायः सारे ही ग्रहों की भ्रमण-कक्षाएँ दीर्घ वृत्ताकार ही हैं। और सूर्य से उनकी दूरियों में ज्यादा हेरफेर भी नहीं होता। पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा के आकार को नापने का सबसे सीधा तरीका यह है कि पूरे एक साल भर हम कुछ नियत समयों पर, सूर्य के कोणीय व्यास (angular diameter)के नाप लेते रहें। ऐसा करने पर हमें मालूम होगा कि हर ४ जनवरी को यह कोणीय-व्यास ३२′ ३५″ होता है, और प्रत्येक ६ जुलाई के दिन ३१′ ३२″ होता है। इससे हम जान सकते हैं कि निश्चय ह हमारी पृथ्वी, अपने भ्रमण के सिलसिले में, हर साल ४ जनवरी

के दिन सूर्य से अधिकतम निकट रहती है और ६ जुलाई के दिन उससे ज्यादा से ज्यादा दूर। इस प्रकार जानी गई इन दूरियों के आधार पर यदि हम किसी सुविधाजनक पैमाने पर कोई आकृति खींचे, तो वह पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा की सही आकृति होगी।

शुक्र ग्रह के एक के बाद एक होनेवाले महत्तम-सूर्यान्तर-कोण ठीक उन दिनों होते हैं, जब कि हमारी पृथ्वी अपनी कक्षा पर के कुछ नियत बिन्दुओं पर होती है। हमारे ज्योतिषीय वेध हमें सही-सही यह बता देते हैं कि इनमें के प्रत्येक अवसर पर हमारी पृथ्वी अपनी कक्षा पर कहाँ होगी। परन्तु एक बात है ; इन कई महत्तम-सूर्यान्तर-कोणों के मौकों पर जिन कोणीय दूरियों को हम माप द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमेशा एक-सी नहीं होतीं। शुक्र की सही कक्षा को खींचने में हमें रेखा चित्र ६ की अपेक्षा अधिक सही आकार खींचना होगा। पहले तो हमें ऊपर लिखे अनुसार प्राप्त सूर्य के कोणीय-व्यास के मापों के आधार पर, अथवा किसी अन्य तरीके से, पृथ्वी की समूची दीर्घ-वृत्ताकार कक्षा खींचनी होगी। तब हमें महत्तम सूर्यान्तर कोणोंको प्राप्त करने के लिये रेखाचित्र ६ की तरह आकृति बनानी होगी, जिसमें प्रत्येक अवसर पर पृथ्वी को उसकी अपनी कक्षा पर की तात्कालिक स्थिति में रखना होगा। तब जाकर इस ग्रह शुक्र की एक दीर्घ-वृत्ताकार कक्षा खींची जा सकेगी जो हर सूरत में ठीक और सही होगी।

वास्तव में अब हम निश्चित रूप में यह जान गये हैं कि यह कक्षा एक दीर्घ-वृत्त ही है ; इसलिये इसका आकार खींचने के लिये हमें उस ग्रह की भिन्न-भिन्न समयों की सिर्फ तीन स्थितियाँ ही जाननी प्रर्याप्त होंगी। यदि हम किसी दीर्घवृत्त के एक नाभि-बिन्दु की स्थिति एवं उस दीर्घ-वृत्त पर के तीन अन्य बिन्दु जान पावें तो बड़ी आसानी के साथ उस दीर्घ-वृत्त का पूरा और सही आकार खींच सकेंगे।

इस तरीके से हम यह जान सकेंगे कि यह ग्रह अपनी भ्रमण-कक्षा पर हमेशा एक समान वेग से नहीं घूमता। जब यह सूर्य से अपने अधिकतम सामीप्य में, जिसे ज्योतिर्विज्ञान में "रवि-नीच" (Perihelion) कहते हैं, होता है उस समय यह अपने अधिकतम वेग से चलता है और जब यह सूर्य से अपनी अधिकतम दूरी या "सूर्योच्च" (aphelion) में होता है, तब अपने न्यूनतम वेग से चलता है।

बुध और पृथ्वी ग्रहों पर भी यही बातें लागू होती हैं। जुलाई महीने के अपने वेग की अपेक्षा जनवरी के महीने में पृथ्वी अधिक तेजी से घूमती है और जब हम शुक्र अथवा बुध की भ्रमण-कक्षाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए रेखाचित्र ६ का ज्यादा सही रूप खींचने का प्रयास करते हैं तब पृथ्वी की कई स्थितियों को प्राप्त करने के लिए उसके जुलाई और जनवरी महीनों के वेगों का ध्यान रखना पड़ता है।

बुध, शुक्र और पृथ्वी से आकार में बड़े बाकी ग्रहो को लेकर भी यदि हम ऐसी ही प्रक्रियाएँ करें, तो वह उतनी आसान नहीं होंगी। रेखाचित्र ८ में हम एक बड़े ग्रह को लेकर ऐसा ही प्रयास करते हैं। इसमें सूर्य के चारों ओर घूमती हुई पृथ्वी अपनी भ्रमण-कक्षा पर एवं सूर्य के ही चारों ओर घूमता हुआ वह बड़ा ग्रह भी अपनी भ्रमण-कक्षा पर घूमता हुआ दिखलाया गया है। सरलता के लिए यहाँ हम यह मान लेते हैं कि पृथ्वी की एवं इस ग्रह की भ्रमण-कक्षाएँ बृत्ताकार हैं। यदि यह बड़ा ग्रह ठीक उसी बिन्दु पर स्थिर बना रहता, जहाँ उसे रेखाचित्र ८ में दिखलाया गया है तो अपनी भ्रमण-कक्षा के जिस बिन्दु पर पृथ्वी को दिखलाया गया है वहाँ से, बिना कोई दिक्कत के, तारों की पृष्ठभूमि पर इस ग्रह की स्थिति को हम स्पष्ट देख सकते थे। इसी तरह पृथ्वी घूमती हुई जब अपनी कक्षा पर के पृ १ बिन्दु पर जा पहुँचती. तब भी हम इस ग्रह को देख सकते थे। इन दोनों ही वेधों के बीच के समय को लेकर गणना द्वारा हम इन दोनों बिन्दुओं, पृ एवं पृ १ की स्थितियाँ जान लेते। कोण ∠ पृ ग्र पृ १ को तो हम जानते ही होते, क्योंकि यही वह कोणीय दूरी होती जिसे उस ग्रह ने, इस बीच के समय में तै की होती। इस प्रकार हम उन दोनों ही रेखाओं "पृग्र" और "पृ१ ग्र" को खींच सकते जो एक दूसरी को "ग्र" बिन्दु पर काटती और यह "ग्र" बिन्दु ही उस बड़े ग्रह की तत्कालीन स्थिति होती।

रेखाचित्र ८ में जिन दो बिन्दुओं "पृ" और "पृ१" को दिखलाया गया है, उसमें कोई मनमानी नहीं की गई है ; यही
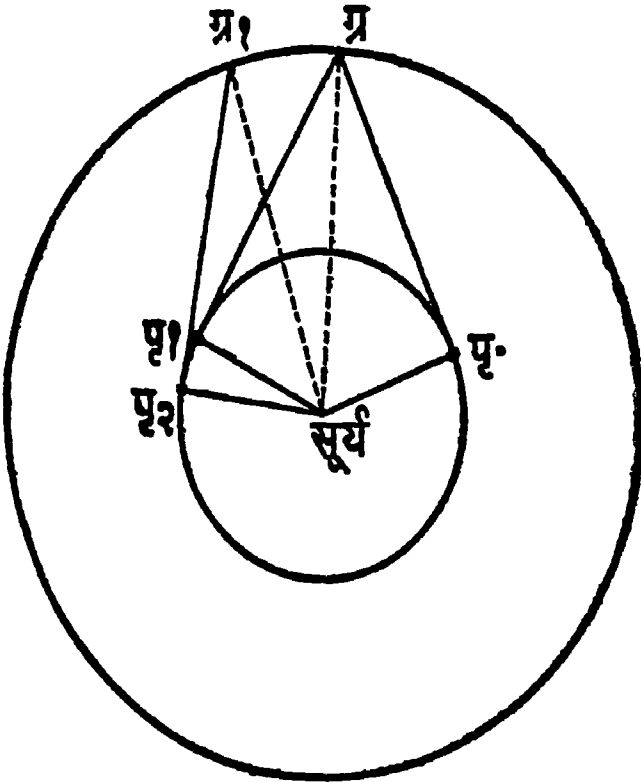
रेखाचित्र ८

वह दोनों बिन्दु हैं जहां सूर्य और वह ग्रह आकाश में एक दूसरे से ६०° दूर होते हैं। इस स्थिति को नक्षत्र-शास्त्र में यों कहेंगे "यह ग्रह समकोणान्तर स्थिति में in quadrature है।" यदि इस ग्रह पर भी कोई नाक्षत्रिक हों तो वहां से पृथ्वी का वेध लेने में वह स्पष्टशः इन दोनों क्षणों में से किसी एक को ही चुनेंगे, क्योंकि उनके लिए पृथ्वी उस क्षण अपने "महत्तम-सूर्यान्तर-कोण" पर होगी। दूसरा कारण एक और भी है कि

इस प्रकार यह जाहिर भी कर दिया जाय कि इस विषय में तारों को तब पृष्ठभूमि के रूप में शामिल करने की भी कोई जरूरत नहीं होती; सारे ही वेधों को हम सौर-मण्डल के सदस्य ग्रहों तक ही सीमित रख सकते।

परन्तु, यहाँ एक बात यह न भूलनी चाहिए कि यह ग्रह' बिन्दु "ग्र" पर, स्थायी तो बना ही नहीं रहता है। जब पृथ्वी अपनी कक्षा पर घूमकर बिन्दु "पृ" से बिन्दु "पृ१" पर आ पहुँची होती है, यह ग्रह भी "ग्र१" बिन्दु पर आ चुका होता है। इसलिए वेध लेते समय यदि हम पीठ पर के तारों पर ध्यान ही न दें और सिर्फ समकोणान्तर-स्थिति के समय को ही ध्यान में रक्खें तो हमें दूसरा वेध बिन्दु "पृ२" से लेना होगा, ऐसा करने में कुछ उलझन तो जरूर होगी। इस ग्रह के परिक्रमण-काल The period of revolution (सूर्य के चारों ओर उसके पूरे एक चक्कर देने का समय) को तो हम जानते ही हैं और इस कारण यह भी जानते हैं कि बिन्दु पृ एवं बिन्दु पृ२ से लिए गये इस ग्रह के वेधों के बीच के समय उस परिक्रमण-काल का कितना अंश बीत चुका है। दूसरे शब्दों में तब हम कह सकेंगे कि कोण ∠ पृ सू पृ१ को हम जान चुके हैं।

भ्रम की कोई गुञ्जाइश न रहने देने के लिए हम अब एक नई आकृति खींचते हैं जो है रेखाचित्र ६।

अभी हमें यह तो नहीं जान पाये हैं कि यह बिन्दु "ग्र"

कहाँ पर है सिवाय यह जानने के कि यह होगा तो कहीं-न-कहीं रेखा "पृ ?ग्र" पर ही। इसी प्रकार बिन्दु "ग्र१" के विषय में भी हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि यह बिन्दु भी रेखा "पृ ?ग्र१" पर ही कहीं होगा। हमें सिर्फ यही करना है कि हम रेखा "सूर्य-पृ२" को इस तरह धकेलें कि (वह रेखाचित्र ८) कोण ∠ ग्र सू ग्र१ के बराबर के एक कोण में से होती हुई अपने साथ-साथ रेखा "पृ२ ग्र१" को, जो उस पर एक लम्ब Perpendicular बनाती है, लेती
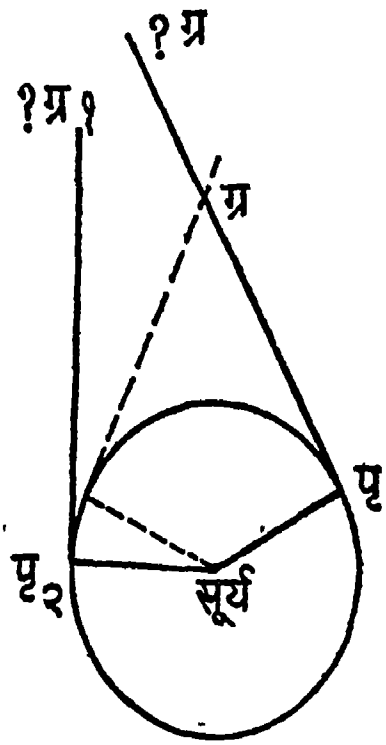
रेखाचित्र-९

चले। रेखाचित्र ९ में यह प्रक्रिया टूटी हुई छोटी रेखाओं के रूप में दिखलाई गई है। अब हम देखेंगे कि ऐसा करने पर रेखाचित्र ९ आगे चलकर रेखाचित्र ८ ही बन जाता है। हम यह जान जाते है कि जब पृथ्वी बिन्दु "पृ" पर थी, उस समय यह बिन्दु "ग्र" ठीक वहाँ था जहाँ यह टूटी धारियोंवाली रेखा उस दूसरी रेखा "पृ ?ग्र" को काटती है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नाक्षत्रिक विद्वान इन ऊपर लिखी प्रक्रियाओं को काम में नहीं लेते हैं। इस तरह के प्रश्नों का हल वह गणनाओं द्वारा ही प्राप्त करते हैं,

न कि ऐसी आकृतिये बनाकर और फिर उनके नाप-जोख लेकर। त्रिकोण मिति के सिद्धान्तो को ही आधार बनाकर वह उनसे इच्छित परिणाम जान लेते हैं। परन्तु त्रिकोणमिति का ज्ञान तो सबको नहीं होता, इसलिए ऊपर लिखी प्रक्रियाओं की सार्थकता इसी बात में है कि साधारण ज्ञान रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इनके द्वारा नाक्षत्रिकों के क्रिया-कलापों को आसानी से समझ जावेगा। यह तो बिल्कुल सही बात है कि रेखाचित्र ६, ८ और ९ को लेकर जो तर्क एवं प्रक्रियाएँ दी गई हैं वह त्रिकोणमिति के सिद्धान्तो और दूसरे ज्योतिषिक यन्त्रों की अपेक्षा ज्यादा तथ्यपूर्ण और सही हैं क्योंकि इनमें ज्यामिति के सर्व परिचित और सर्वमान्य सिद्धान्तों को आधार बनाया गया है। सर आइजक न्यूटन जैसे उच्चकोटि के गणितज्ञ तक ने इन प्रक्रियाओ को काम में लेने में कोई हिचकिचाहट न की थी।

ऊपर हमने आरम्भ में आसानी के लिए इन बड़े ग्रहों की भ्रमण-कक्षाओ को गोलाकार मानकर ही यह सब प्रक्रियाएँ की थीं। परन्तु सत्य तो यह है कि यह बड़े ग्रह भी दीर्घवृत्ताकार कक्षाओं पर ही घूमते हैं। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि रेखाचित्र ८ और ९ की आसान प्रक्रियाएँ पूर्ण एवं कारगर नहीं हैं। रेखाचित्र ६ के सम्बन्ध में हम जिस प्रकार और आगे बढ़े हैं, ठीक वही बात यहाँ भी करनी होगी, ताकि बातें तथ्यों से पूरा मेल खा सकें। प्रत्येक ग्रह की भ्रमण-कक्षा पर के तीन बिन्दुओं को जानकर ही हम उस समूची कक्षा को खींच सकेंगे; क्योंकि

यह तो हम जानते ही हैं कि यह कक्षा एक दीर्घवृत्त ही है, और सूर्य हमेशा इसके किसी एक नाभि बिन्दु पर ही होता है।

एक बात यहाँ और भी कह देने की है ; वह यह कि न केवल सूर्य ही इन ग्रहों को अपनी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति से अपनी ओर खींचता रहता है, अपितु यह ग्रह स्वयं भी एक-दूसरे पर अपनी-अपनी खिचाव की शक्तियाँ डाले रहते हैं। इन सबका मिला-जुला कर नतीजा यह होता है कि सभी ग्रहों की भ्रमण-कक्षाएँ शुद्ध दीर्घवृत्त न रहकर थोड़ी-थोड़ी ऐंठी हुई-सी रहती हैं। यह भी कि जिन वेगों से यह ग्रह अपनी-अपनी कक्षाओं पर घूमते हैं वह वेग भी केपलर के सीधे से नियम के अनुसार घटते बढ़ते रहते हैं। इन प्रभावों को हम स्थान-च्युतियाँ (perturbations) कहते हैं।

ऊपर हमने रेखाचित्रों के द्वारा जिन बातों का खुलासा किया है, उनके आधार पर अब कह सकते हैं कि सौर-मण्डल को, सही-सही खींचने का एक पैमाना तो हम पा चुके। गणित की भाषा में हम यों कह सकते हैं कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की कम-से-कम दूरी को माप की एक इकाई मानकर, सौर-मण्डल के ग्रहों की हमसे दूरियाँ आँकी जा सकती हैं। इस इकाई को ज्योतिषिक इकाई कहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रहों की इन भिन्न-भिन्न दूरियों में से यदि हम किसी भी एक दूरी को मीलों या किलोमीटरों में मालूम कर लें तो सीधी-सी गणनाओं के द्वारा उन बाकी सब दूरियों को भी जान

सकेंगे। जिस प्रकार किसी भी भौगोलिक नक्शे की माप की इकाई जानकर उस नक्शे में के किन्हीं भी दो स्थानों की आपसी दूरी को हम आसानी से जान सकते है, ठीक उसी तरह ग्रहों की दूरियों की इस ज्योतिषिक इकाई द्वारा भी सौर-मण्डल के ग्रहों की आपसी दूरियो को जान सकेंगे।

ग्रहों के विषय में तो हम बहुत कुछ कह चुके, परन्तु पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी के विषय को हमने अबतक छुआ ही नहीं। चन्द्रमा हमारा सबसे अधिक निकट का पड़ौसी है; परन्तु जैसा हम आगे लिखेंगे—यह एक अपेक्षाकृत गौण विषय ही है, महज़ एक ऐसी गली है जो अपने-आप में ही समाप्त हो जाती है। यदि हम इस दूरी को मीलों अथवा किलोमीटरों में जान भी लें तो भी यह जानकारी सौर-मण्डल के अन्य ग्रहों की दूरियाँ बताने में हमें कोई मदद नहीं देगी। हाँ; एक बात जरूर है, इस दूरी की जानकारी, जैसा आगे चलकर मालूम होगा, अन्य ग्रहों की दूरियों के आँकड़ों के सही या गलत होने की जाँच में तो उपयोगी होगी ही।

हमारी पृथ्वी से चन्द्रमा कितना दूर है, यह जानने के लिए हमें चन्द्रमा के लम्बन (parallax) की माप को ही आधार बनाना होगा। इस लम्बन की माप के लिए हमें जैसा कि ग्रहों के विषय में कर चुके हैं, दो अलग-अलग बिन्दुओं से इसे देखना होगा। ग्रहों के विषय में तो हमारे सामने सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि इन दो अलग-अलग बिन्दुओ की आपसी

दूरी को हम मीलों अथवा किलोमीटरों में नहीं जान सकते थे और इस कारण उनकी जगह हमें सूर्य और पृथ्वी की आपस में कमसे कम दूरी को एक ज्योतिषिक इकाई मानकर आगे बढ़ना होता था। परन्तु चन्द्रमा के विषय में हमें एक बड़ी आसानी यह है कि पृथ्वी की सतह पर के ही किन्हीं दो अलग-अलग स्थानों से चन्द्रमा के विम्ब को देखकर हम यह जान लेंगे कि चन्द्रमा का लम्बन काफी बड़ा होता है। क्योंकि पृथ्वी की सतह पर के इन दोनों ही स्थानों की आपस की दूरी को हम मीलों में जान भी सकेंगे, इसलिए बड़ी आसानी के साथ पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी को मीलों में जाना जा सकेगा।

मान लीजिए कि हम ग्रीनविच और केप आफ गुड होप Greenwich and Cape of Good Hope की वेधशालाओं से चन्द्रमा को देखते हैं। इनमें ग्रीनविच तो है इङ्गलैंड में और केप आफ गुड होप है उससे दूर नीचे दक्षिण की ओर, दक्षिणी अफ्रीका के छोर पर। हम यह जानते हैं कि यह दोनों ही स्थान एक दूसरे से बिल्कुल सीधे ५४०० मील दूर हैं। मान लीजिए, चन्द्रमा उत्तर दिशा में ६° क्रान्ति declination पर है। इन दोनों ही वेधशालाओं से देखे जाने पर हम पाएँगे कि केप आफ गुड होप से देखी गई चन्द्रमा की, तारों की पृष्ठभूमि पर, स्थिति ठीक उसी समय ग्रीनविच से देखी गई स्थिति से १°१८ (१ अंश १८ कला) दूर उत्तर की ओर दिखलाई देगी। रेखा-चित्र १०

की तरह एक पैमाने पर, अथवा ज्यादा आसानी के लिए और विल्कुल ठीक होने के खयाल से गणना द्वारा आंके जाने पर, पृथ्वी के केन्द्र से चन्द्रमा की दूरी प्राय: २४०,००० मील बैठती है। यह दूरी लगातार घटती-बढ़ती भी रहती है; क्योंकि न केवल पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा की भ्रमण-कक्षा दीर्घवृत्ताकार है, अपितु यह कक्षा सूर्य की आकर्षण-शक्ति के कारण काफी विचलित भी होती रहती है। अन्य ग्रह भी अपने-अपने आकर्षणों से इसे और भी थोड़ा-बहुत विचलित करते रहते हैं।

रेखा-चित्र १०

एक अकेला व्यक्ति भी पृथ्वी के किसी एक ही स्थान से इस दूरी को जान सकता है। रेखा-चित्र ११ में यह तरीका दिखलाया गया है।
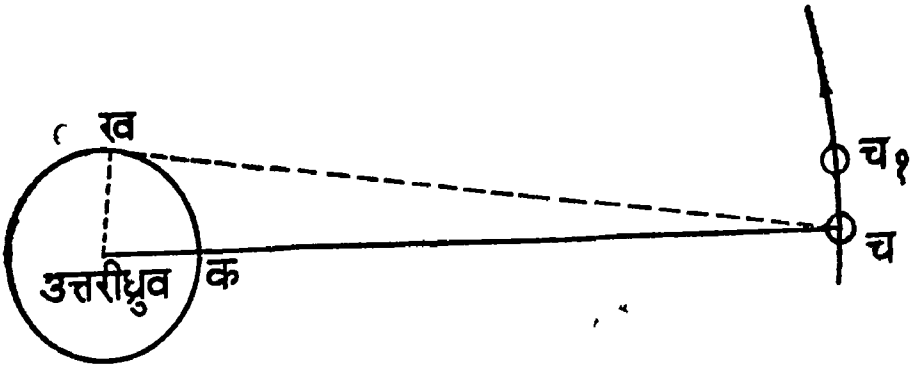
रेखा-चित्र ११

इस चित्र में दर्शक पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव पर खड़ा है। यहाँ से चन्द्रमा को वह उसकी समूची भ्रमण-कक्षा पर देख सकता है। जब चन्द्रमा दर्शक के याम्योत्तर meridian पर, अथवा सीधेसादे शब्दों में, उस बड़े वृत्त पर होता है, जो क्षितिज के दक्षिण-बिन्दु से लेकर "खस्वस्तिक" Zenith (दर्शक के सिर के ठीक ऊपर का आकाशीय बिन्दु) से होता हुआ गुजरता है, उस समय अलग-अलग समयों में, तारों के पर्दे पर, अलग-अलग स्थितियों में देखे गये इसके विम्ब के व्यास को नापकर वह पृथ्वी के केन्द्र के चारों ओर इसकी भ्रमण-कक्षा के आकार को जान सकता है।

यहाँ पर एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि दर्शक पृथ्वी के केन्द्र पर नहीं खड़ा होकर उसकी ऊपरी सतह पर ही खड़ा है। यदि वह पृथ्वी के दोनों ध्रुवों में से किसी एक पर नहीं खड़ा है, तो पृथ्वी की अपनी धुरी पर दैनिक भ्रमण-गति के साथ वह भी वृत्ताकार घुमाया जा रहा है। दर्शक के अपने घुमाव के इस वृत्त का व्यास उसकी अपनी वेधशाला के स्थान के अक्षांश पर निर्भर है।

रेखा-चित्र ११ में हम मान लेते हैं कि दर्शक भौगोलिक विषुव-वृत्त पर खड़ा है और चन्द्रमा खगोलीय विषुव-वृत्त पर है। जब दर्शक की वेधशाला "क" बिन्दु पर है. चन्द्रमा तब याम्योत्तर meridian पर है।' इस स्थिति में पृथ्वी का केन्द्र, दर्शक और चन्द्रमा का केन्द्र—तीनों एक ही सीधी रेखा पर हैं। जिस

प्रकार रेखा-चित्र ८ में हम शुरू में ग्रह को स्थायी मानकर चले थे, इसी तरह रेखा-चित्र ११ में भी सहूलियत के लिए हम चन्द्रमा को भी एक बार स्थायी ही मान लेते हैं। करीब ६ घण्टों से कुछ कम ही समय में दर्शक की वेधशाला, पृथ्वी की दैनिक गति के कारण "ख" बिन्दु पर पहुँच जावेगी, जो कि पृथ्वी के केन्द्र के एक ओर करीब ४,००० मील दूर होगा। उस समय यह स्थायी चन्द्रमा अस्त होता-सा होगा, परन्तु तारों के पर्दे पर इसकी स्थिति ठीक वही न होगी। तब यह मोटे तौर पर करीब १° (एक अंश) पश्चिम की ओर हटा हुआ दिखाई देगा। क्योंकि दर्शक पृथ्वीके अर्द्ध-व्यासकी लम्बाईको मीलों में जानता है, वह तुरन्त ही रेखा-चित्र १० में दिखलाए गये तरीके पर चन्द्रमा की दूरी निकाल सकेगा।

परन्तु सत्य तो यह है कि चन्द्रमा भी एक ही जगह स्थिर नहीं है, वह भी चलता रहता है। जितने समय में दर्शक की वेधशाला पृथ्वी की गति के कारण "ख" बिन्दु पर पहुँचेगी, चन्द्रमा भी उस समय तक "च" बिन्दु से चलकर "च१" बिन्दु पर आ पहुँचेगा। परन्तु जैसा कि हमने रेखा-चित्र ६ की बाबत कहा है, इस बात को हम आई-गई भी कर सकते हैं। हर हालत में, परिणाम एक ही होगा। इस कल्पना के आधार पर चन्द्रमा को जिस समय छिप जाना चाहिए. उसके पहले ही वह छिप जावेगा और जिस समय उसे उगना चाहिए, उसके बाद उगेगा।

पृथ्वी की दैनिक भ्रमण-गति के कारण दीख पड़ने वाले

चन्द्रमा के इस हटाव को उसका क्षैतिज लम्बन horizontal parallax कहते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि यह हटाव क्षितिज की दिशा में हैं—ऐसा तो हर्गिज़ नहीं। इसका मतलब सिर्फ यही है कि उसका यह लम्बन क्षितिज पर है। विषुव-वृत्त पर यह हटाव ५४′ (कला) से लेकर ६१′ तक घटता बढ़ता है। पृथ्वी का अर्ध-व्यास ३९६३ मील है, इसलिये इन लम्बनों की दूरियाँ करीब २,५२,००० और २,२३,००० मीलों के बीच प्रायः घटती बढ़ती रहती हैं।

दुर्भाग्य से, चन्द्रमा की दूरी का यह ज्ञान जो इतनी आसानी से जाना जा सकता है, सौर-मण्डल के नक्शे का एक पैमाना बनाने में हमें कोई भी मदद नहीं देता। रेखा-चित्र २ पर एक नजर डालने से ही हम इसके कारण को जान पाएँगे। यह तो स्पष्ट ही है कि पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए चन्द्रमा की भ्रमण-कक्षा के वृत्त को हम अपनी मर्जी के अनुसार चाहे जिस व्यास का बनावें, चित्र के समानुपातों में कोई फर्क न पड़ेगा। परन्तु इसकी भी एक सीमा है; किसी भी हालत में हम उसे इतना बड़ा तो नहीं बना सकते जिससे चन्द्रमा किसी भी ग्रह के परे जा पड़े। ऐसा करना वेध-प्राप्त तथ्यों के विरुद्ध होगा। आकाश में घूमता हुआ चन्द्रमा कभी-कभी हमारे और किसी एक ग्रह के बीच आ जाता है, जिससे वह ग्रह हमारी आंखों से ओझल हो उठता है। ज्योतिषिक भाषा में उस समय वह ग्रह "ग्रस्त" occulted कहलाता है। शुक्र और मङ्गल जैसे

हमारे निकट के ग्रहों पर यह ग्रास होता है। इन दोनों ही ग्रहों को हम कभी भी चन्द्रमा के चेहरे पर नहीं देख पाते। इसलिये यह तो निश्चित है कि इन दोनों ही ग्रहों की अपेक्षा चन्द्रमा हमसे ज्यादा नजदीक है।

सौर-मण्डल के एक शुद्ध माप दण्ड को पाने के लिये तो हमें अन्यत्र ही कहीं खोज करनी होगी। इसके लिये सिर्फ एक ही रास्ता दिखलाई पड़ता है। वह यह कि जिस तरह हमने चन्द्रमा का लम्बन नापा था उसी तरह पृथ्वी पर ज्यादा-से-ज्यादा आपसी दूरी के दो स्थानों से हम सूर्य के लम्बन को भी प्रत्यक्ष नाप लें। दुर्भाग्य से यह तरीका भी हमें बिल्कुल ठीक परिणाम नहीं देगा क्योंकि यह लम्बन बहुत ही सूक्ष्म होगा। जो कोई भी तरीका अपनाया जाय, हमें करना यह होगा कि उस तरीके से प्राप्त लम्बन की राशि को हमेशा ही उस लम्बन-राशि में बदल लें, जिसे पृथ्वी पर एक दूसरी से ३९६३ मील दूर स्थित दो वेधशालाओं से देखे जाने पर सूर्य का केन्द्र दिखलावेगा। कहना न होगा कि यह ३९६३ मील पृथ्वी का अर्धव्यास है इस संख्या को सौर-लम्बन solar parallax कहते हैं। यदि सूर्य के केन्द्र पर कोई दर्शक हो और वहाँ से वह पृथ्वी को देखे तो उसे मालूम होगा कि पृथ्वी का कोणीय व्यास इस सौर-लम्बन का दुगुना ही है।

तीसरा परिच्छेद

सूर्य और ग्रहों की दूरियाँ, मापदण्ड की खोज

पिछले परिच्छेद में हमने सूर्य के लम्बन का उल्लेख किया है। सौर-लम्बन को जानने का सबसे पहिला प्रयास सूर्य के बिम्ब के आर-पार शुक्र की संक्रान्ति transit के वेध द्वारा किया गया।

हमें पहिले यह देखना है कि शुक्र की यह संक्रान्ति क्या है और क्यों होती है। अपने पूर्वी सूर्यान्तर-कोण elongation से पश्चिमी सूर्यान्तर-कोण की यात्रा और वहाँ से वापिसी में शुक्र दो बार सूर्य और पृथ्वी को मिलानेवाली सीधी रेखा में से होकर गुजरता हैं। इन दोनों ही अवसरों को युतियाँ conjunctions कहते हैं। ज्योतिषिक भाषा में हम यों कह सकते हैं कि शुक्र उस समय सूर्य के साथ युति किये हुए हैं। यह युति जब सूर्य से दूर रह कर होती है तब उसे भिन्न-पार्श्विक युति superior conjunction कहते हैं। परन्तु जब यह युति सूर्य के नजदीक से होती है तो उसे सम-पार्श्विक युति inferior conjunction कहते हैं।

यदि शुक्र की भ्रमण-कक्षा पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा के ठीक

समान तल या सतह पर होती अथवा करीब करीब वैसी होती तो प्रत्येक समपार्श्विक युति के अवसर पर हम शुक्र को सूर्य का बिम्ब पार करते हुए देख पाते। परन्तु, वास्तव में ऐसा होता नहीं है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी और शुक्र की भ्रमण-कक्षाएँ एक दूसरी की अपेक्षा कुछ झुकी हुई या टेढी हैं और इस झुकाव के कारण शुक्र हमेशा ही सूर्य के करीब उत्तर या दक्षिण की ओर से उसे पार करता है। समपार्श्विक युतियां क्रमसे प्राय: प्रत्येक ८, १२२, ८ ११६ और ८ वर्षों के अन्तर से होती है। इन अवसरों पर शुक्र और पृथ्वी दोनो ही ग्रह अपनी कक्षाओं के उन भागों के पास होते है जिन भागों पर उन दोनों ही कक्षाओं के तल या सतहें एक दूसरी को काटते या काटती हैं। ठीक इन्हीं मौकों पर शुक्र अपनी संक्रान्ति में दिखलाई पड़ता है। सबसे पिछला ऐसा अवसर सन् १८८२ ई० में आया था। अगला ऐसा अवसर सन् २००४ ई० में और उससे अगला सन् २०१२ ई० में आवेगा।
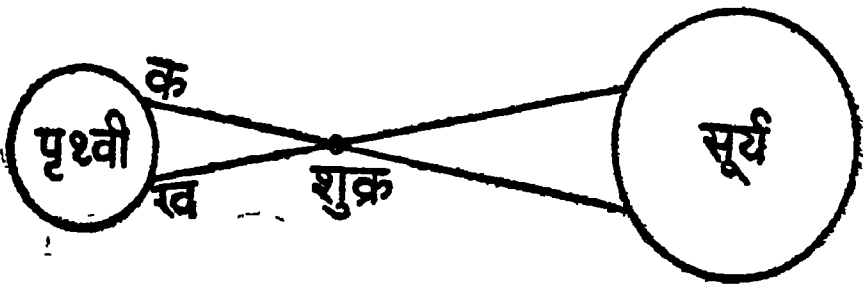
रेखा-चित्र १२

रेखा चित्र १२ में पृथ्वी, शुक्र, और सूर्य-तीनों ही दिख-

लाए गये हैं। इस रेखा चित्र को खींचने में किसी एक निश्चित पैमाने का उपयोग नहीं किया गया है। बात को जरा साफ करने के लिये पृथ्वी और सूर्य को काफी बड़े आकारों में दिखलाया गया है। जब शुक्र अपनी संक्रान्ति में होता है, तब "क" वेधशाला से देखे जाने पर "क शु" दिशा में और "ख" वेधशाला से "ख शु" दिशा में दिख पड़ता है। दूसरे शब्दों में "क" वेधशाला से देखी गई शुक्र की स्थिति की अपेक्षा "ख" वेधशाला से देखी गई इसकी स्थिति सूर्य की उत्तरी पाली northern limb के अपेक्षाकृत अधिक निकट दिखाई देगी। यहां पर यह कह देना जरूरी है कि खगोलज्ञों ने सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी भी अन्य ग्रह के बिम्बों के वास्तविक कोरों को "पाली" limb नाम दिया है। चन्द्रमा अथवा ग्रहों की दीप्ति रेखा terminator को उनके बिम्बों का किनारा कहते है; परन्तु वास्तव में, वह उनके प्रकाशित अथवा अप्रकाशित भागों के वीच की सीमा-रेखा है जिसे "सूर्योदय-रेखा" अथवा "सूर्यास्त-रेखा" भी कहते हैं।
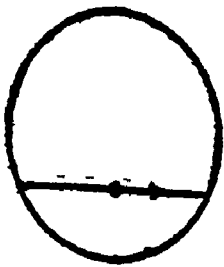
रेखा-चित्र १३ क
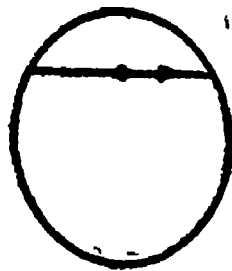
रेखा-चित्र १३ ख

रेखा-चित्र १३ "क" में सूर्य का बिम्ब दिखलाया गया है

जैसा कि वह "क" वेधशाला से दिखलाई देता है। इसकी सतह पर जो गोलाकार काला बिन्दु है वह शुक्र है। सूर्य की सतह पर इसका गति-मार्ग भी दिखलाया गया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रेखा-चित्र १३ क में जहाँ यह मार्ग सूर्य-बिम्ब के दक्षिण भाग की ओर है, वहाँ रेख-चित्र १३ ख में वह उसके उत्तर भाग की ओर है।

पहिले हम इन दोनों मार्गों की कोणीय दूरियां नापते हैं। इसके बाद रेखा-चित्र १२ की तरह की एक आकृति खींचते हैं जिसमें पृथ्वी, शुक्र और सूर्य के बीचका अन्तर ठीक-ठीक सही समानुपातों में है। इसके बाद हम "क शु" और "ख शु" दो सीधी रेखाएँ खींचते हैं। ऐसा करने में हमें यह बात ध्यान रखनी होगी कि इन दोनों रेखाओं के बीच का कोण उन दोनों ही मार्गों की कोणीय दूरी के बराबर हो। हमारा यह पिछला कदम बड़े महत्व का है, क्योंकि रेखा चित्र १२ के "क" और "ख" स्थानो के बीच की दूरी को हम मीलों में जानते ही है। इस प्रकार हम इस चित्र का पैमाना जान सकते हैं। रेखा "पृ शु" की लम्बाई हम मीलों अथवा किलो-मीटरों में नापकर जान सकते हैं। परन्तु, वास्तव में यह सब काम हम गणना के द्वारा ही कर सकते है। "पृ शु" की लम्बाई या दूरी जान चुकने पर हम "पृ सू" की दूरी भी प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि "पृ शु" और "शु सू" का अनुपात २ : ६ है। इस तरह इस तरीकेसे हम पृथ्वीसे सूर्य की दूरी जान सकते हैं।

शुक्र—संक्रान्ति का यह तरीका पहिले पहल सन् १७६१ ई० में प्रयोग में लाया गया। दूसरा प्रयोग सन् १७६६ ई० में किया गया। इस बार पहिले की अपेक्षा कुछ ज्यादा सफलता मिली, सौभाग्य से इन दोनों ही अवसरों पर इस ग्रह ने सूर्य के बिम्ब को उसके केन्द्र से कुछ दूर से ही पार किया। जब यह ग्रह सूर्य के ठीक बीच के भाग से होकर गुजरता है तो उसे इस बिम्ब को सीधे पूरा पार करने में करीब ८ घंटे लग जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि यह ग्रह सूर्य के बिम्ब को उसके केन्द्र के उत्तर या दक्षिण की ओर हटकर पार करता है तो उसे ऐसा करने में अपेक्षाकृत कम ही समय लगता है। यह बात बड़े ही महत्व की है कि पृथ्वी पर उत्तर और दक्षिण दिशा में एक दूसरे से काफी दूर के दो स्थानों से देखे जाने पर इस संक्रान्ति-कालकी अवधि में फर्क पड़ जाता है।

करीब १ शताब्दी पहिले इङ्गलैण्ड के राज ज्योतिषी हेलीने इस बात की ओर इशारा किया था। उसने यह सुझाव दिया था कि वेध करने वाले ज्योतिषियों को संक्रान्ति की सिर्फ इस अवधि को ही नाप लेना चाहिए। सूर्य के बिम्ब पर इस ग्रह की स्थिति को नापने के बखेड़े में उन्हें नहीं जाना चाहिए। यदि संक्रान्ति काल की इन दोनों ही अवधियों को हम जान पावें तो उनकी मदद से इन दोनों गति-मार्गों की स्थितियों को भी हम पकड़ पावेंगे। हम जानते हैं कि यदि हम ग्रह के केन्द्र को ही ध्यान में रक्खें तो इन दोनों ही मार्गों की लम्बाइयाँ उनकी काल-अवधि के प्रत्यक्ष समानुपात में होंगी।

रेखा-चित्र १४ में हेली की योजना बतलाई गई है। शुक्र के संक्रान्ति-काल में चार अवसर ऐसे आते हैं जब कि शुक्र के बिम्ब की पाली सूर्य के बिम्ब की पाली को छूती है। सुविधाके लिये इन चारों अवसरों को हम पहिला, दूसरा, तीसरा और चौथा छुआव कहते हैं। रेखा-चित्र १४ में यह चारों ही छुआव दिखलाए गये हैं। यह तो साफ जाहिर है कि इस पहिले छुआव को हम वेध में नहीं ला सकते; क्योंकि जबतक इस ग्रह का कुछ हिस्सा सूर्य के विम्ब के कुछ भाग को अपने पीछे छिपा कर उसे अदृश्य न कर दे, हम इसे देख नहीं पाते। इसके पहिले कि इस प्रथम छुआव को हम देख पावें, यह आरम्भ हो जाता है। ठीक यही बात चौथे छुआव पर भी लागू होती है। इस पिछले अवसर पर भी यह जानना लगभग मुश्किल हो जाता है कि यह छुआव ठीक कब खत्म हुआ। ऐसा होने पर भी हेली को यह दृढ़ विश्वास था कि कम से कम दूसरे और तीसरे छुआव को तो बिल्कुल ठीक देखा जा सकेगा। उसकी धारणा थी कि इन अवसरों पर यह ग्रह रेखा-चित्र १५ में दिखलाई गई आकृतियों की तरह दिख पड़ेगा। परन्तु वेध करनेवाले ज्योतिषियोंने पाया कि बात ऐसी नहीं है।
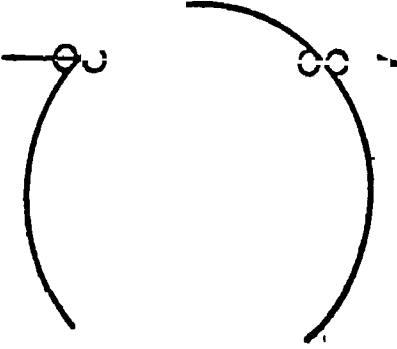
रेखा-चित्र १४

जो कुछ उन्हें दिखलाई दिया वह यह, कि जैसे ही इस ग्रहने सूर्य के बिम्ब पर कदम रक्खा उस समय ऐसा मालूम हुआ
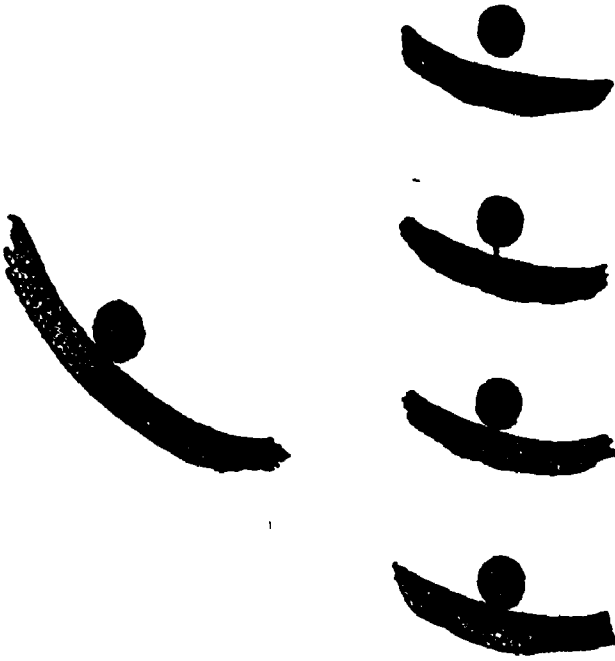
रेखा-चित्र १५ रेखा-चित्र १६

मानो यह ग्रह अपने साथ पीछे की ओर आकाश के एक टुकड़े को खींचे लिए चल रहा हो। यह टुकड़ा धीरे-धीरे सँकरा होता चला गया और अन्त में, ठीक उस समय अदृश्य हो गया जब कि यह ग्रह सूर्य के बिम्ब की पाली के ठीक भीतर जा पहुंचा या जा पहुँचा-सा दिखाई दिया। संक्रान्ति-काल के बाद जब यह ग्रह सूर्य के बिम्ब से दूर हटने लगा तब भी यही बात ठीक उलटे क्रम में दिखाई दी। इसलिए दूसरे और तीसरे छुआव के ठीक क्षणों को लेकर वेध करने वालों को सन्देह बना ही रहा और यह अनिश्चय परिणाम की शुद्धता में कमी लाता था।

यह अजीब दृश्य जिसे कृष्ण-क्षेप Black Drop कहा जाता है, उस समय के ज्योतिषियों के लिए एक रहस्य ही बना रहा। वह इसे सुलझा न सके। आज तो हम इसके सही कारण को जान चुके हैं। यह महज एक दृष्टि-जाल optical effect है। इसके कारण प्रकाशमान् सूर्य-बिम्ब अपने वास्तविक आकार से बड़ा मालूम देता है और अन्धकार में लिपटा हुआ यह ग्रह अपने असली आकार से छोटा। हम जानते हैं कि जिस क्षण (दूसरे छुआव में) यह काला भाग दिखने से रह जाता है और फिर तीसरे छुआव में दिखना शुरु होता है, ठीक उसी क्षण वास्तविक छुआव शुरु होता है। यद्यपि जाहिरा तौर पर तो ठीक उस क्षण यह ग्रह सूर्य की पाली के ठीक भीतर प्रवेश किए हुए-सा दीख पड़ता है। रेखा-चित्र १६ में इस संक्रान्ति की आरम्भिक चार अवस्थाओं को दिखलाया गया है।

हेली के तरीके में एक दिक्कत यह थी कि वेध करने वाले ज्योतिषियों को पृथ्वी की सतह पर दूर उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशोंपर जाकर दोनों स्थानोंसे एक साथ ही वेध लेने पड़ते थे। जिस सीमा तक वेध लेने वाले दोनों ही ज्योतिषी, इस संक्रान्तिके आरम्भ और अन्त का ठीक तौर पर वेध ले सकते थे, उसी पर ही इस तरीके की सफलता निर्भर करती थी। उनको एक सुभीता तो जरूर था कि अपनी-अपनी वेध शालाओं के स्थानों के रेखाओं को सही-सही जानने की उन्हें जरूरत न थी; और न उनकी घड़ियों के लिए यह आवश्यक ही था कि वह ग्रीन-

विच की वेधशाला के ही समय को सही-सही बतलावें। उनका काम तो सिर्फ यही था कि थोड़े से जितने घंटों में यह संक्रान्ति होती थी उनको ही बिल्कुल ठीक पकड़ पावें। यह बिल्कुल ठीक भी था; क्योंकि उन दिनों वेध करने वाले ज्योतिषियों को अपनी अपनी वेधशालाओं तक पहुँचने में महीनों लग जाते थे और तब तक आसानीके साथ, बिना एक सेकण्ड भी फर्क डाले ग्रीनविच का ही समयबताने वाली घड़ियों का विकास भी नहीं हुआ था। ठीक इसी कारण रेखाओं की भी सही जानकारी न होकर मोटा ज्ञान ही रहता था। पिछले १०० या कुछ अधिक वर्षों से कालमापकों chronometers का आविष्कार किया जा चुका है जो महीनों एवं वर्षों तक करीब करीब अवि-चलित समय ही वता सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाजरानी में और रेखांशों को सही जानने में बहुत आसानी हो गई।

इसके पहिले कि सन् १८७४ और १८८२ में शुक्र की दोनों अगली संक्रान्तियाँ होतीं, ज्योतिषियों के हाथ एक और आसान तरीका लग चुका था। यद्यपि इस तरीके में रेखांश एवं ग्रीन-विच समय का सही ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक था, फिर भी इसमें दो बड़ी सुविधाएँ थीं। इस तरीके में इस संक्रान्ति के क्रमिक मार्ग की सिर्फ एक ही अवस्था जान लेनी काफी थी, चाहे आरम्भिक अथवा अन्तिम। दूसरे इस तरीके में वेध कहने वाले ज्योतिषियों को पृथ्वी के दोनों ही ओर उजाड़ एवं

अर्ध-हिमसागरीय अक्षांशो पर दौड़कर अपनी वेधशालाएं स्थापित नहीं करनी पड़ती थीं। इस वेध का काम वह विपुव-रेखा के आसपास रह कर ही कर सकते थे। सच तो यह कि विपुव-रेखा के जितने नजदीक रह कर यह वेध लिए जाते उतने ही ज्यादा वह ठीक भी होते।

फ्रांस देश के एक ज्योतिषी डेलाइल Delisle ने ही यह तरीका ईजाद किया था। रेखा-चित्र ११ में पृथ्वी के एक ही स्थान से वेध लेकर चन्द्रमाकी दूरी जानने के लिए जो तरीका दिया गया है, यह तरीका भी ठीक वैसा ही है। नीचे रेखा-चित्र १७ दिया जा रहा है।
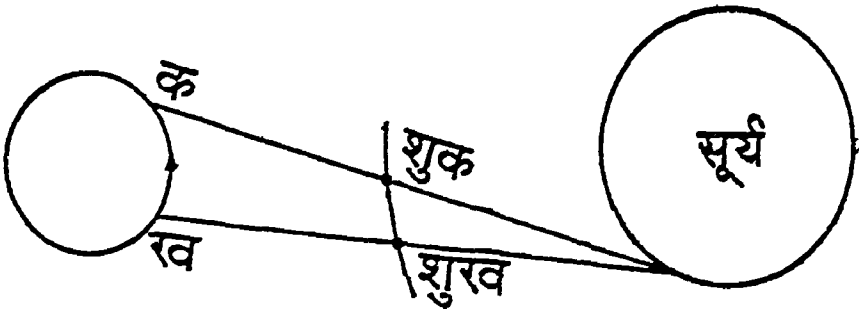
रेखा-चित्र १७

वेध करने वाले दो ज्योतिषी "क" और "ख" विपुव रेखा पर ही हैं; परन्तु उन दोनों की वेधशालाएँ उसी रेखा पर एक दूसरे से काफी रेखांश longitudes दूर दो स्थानों पर हैं। दोनो के पास ग्रीनविच समय दिखाने वाले दो काल-मापक chronometers हैं। उनकी वेधशालाओं के दोनो ही स्थान इस प्रकार चुने गये हैं कि उनमें से एक तो सूर्योदय के ठीक

बाद, ही इस संक्रान्ति का आरम्भ देखेगा, जब कि दूसरा इस को सूर्यास्त के ठीक कुछ पहिले। दोनों ही वेधकर्ता अपने अपने स्थान के ठीक रेखांश को जानते हैं, इसलिए जब कि दोनों ने दूसरे छुआव का यथासम्भव ठीक समय जान लिया है तो वह आकाश में शुक्र और सूर्य से अपनी सापेक्ष सही स्थिति भी जान लेंगे। इसलिए हम ठीक पैमाने पर एक आकृति खींच सकेंगे। हम पृथ्वी के आकार परिमाण को तो जानते हैं। इस पैमाने के आधार पर हम इस आकृति के सभी हिस्सों को मिलीमीटरों या किलोमीटरों में नाप सकते हैं।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि "क" और "ख" के दोनों ही वेधों के अन्तर्वर्ती समय में शुक्र अपनी कक्षा पर कुछ दूर आगे बढ़ चुका होता है। इस अन्तर्वर्ती समय में शुक्र ने अपनी समूची कक्षा का कितना भाग तै किया, यह बात भी हम जान सकते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि घूमती हुई पृथ्वी की सापेक्षता में शुक्र को अपनी समूची कक्षा पर एक पूरा चक्कर देने में ५८४ दिन लगते हैं। इस प्रकार हम इस आकृति के सभी भागों को एक पैमाने पर खींच सकेंगे। रेखा-चित्र ८ और ९ के आधार पर हम ऐसा कर सकेंगे।

शुक्र-संक्रान्ति का यह तरीका सन् १८७४ ई० में अपनाया गया था। और इसके बाद सन् १८८२ में भी यह फिर काम में लाया गया। परन्तु दोनों ही अवसरों पर कृष्ण-क्षेप Black drop से उत्पन्न होने वाली एवं अन्य दिक्कतों ने प्राप्त

परिणामों को काफी दूषित कर दिया। ज्योतिषियों ने इस बीच कुछ दूसरे तरीके भी खोज लिए थे। यह बात महसूस की जाने लगी कि बाद में खोजे गये इन तरीकों से जितना सही परिणाम प्राप्त होता था, उतना शुक्र-संक्रान्ति से नहीं हो सकता था। शुक्र-संक्रान्ति के इस तरीके के प्रति उदासीनता बढ़ती गई। ऐसा मालूम होता है कि अब सन् २००४ ई० में होने वाली शुक्र-संक्रान्तिमें ज्योतिर्विद कोई खास दिलचस्पी न लेंगे।

सन् १६८० ई० से ही फ्राँस के कुछ ज्योतिर्विद् फ्राँस और दक्षिण अमेरिका में वेध करते हुए, मङ्गल ग्रह का लम्बन प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। हमने रेखा-चित्र १० के ऊपर विवेचन करते हुए जो प्रक्रिया बतलाई थी, ठीक वही प्रक्रिया इन प्रयोगों में भी काम में लाई गई थी। यह तो स्पष्ट ही है कि फ्राँस और दक्षिण अमेरिकासे देखे जाने पर, तारों की पृष्ठ-भूमि पर, मङ्गल ग्रहकी स्थितियोंमें कुछ थोड़ा फर्क नजर आवेगा। मङ्गल का लम्बन, उस समय भी जब वह पृथ्वी के अधिक-तम निकट होता है, चन्द्रमा के लम्बन का सिर्फ $\frac{१}{१५७}$ है। इस-लिए जब हम देखते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी में उन फ्राँस देशीय ज्योतिर्विदों का निकाला गया मङ्गल का लम्बन ज्यादा सही न था, तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। जो कुछ हो, इन आर-म्भिक वेधों के आधार पर सूर्य से पृथ्वी की दूरी जो उन दिनों आँकी गई थी, वह सही आँकड़े के बहुत ही नजदीक जा पहुँची थी। इसमें सिर्फ दस प्रतिशत का ही फर्क पड़ा था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मङ्गल ग्रह के और भी ज्यादा सही वेध किए गये। पृथ्वी की सतह पर दो भिन्न-भिन्न स्थानों से वेध करने के बजाय एक ही स्थान से वेध करने में सुगमता पाई गई। सोचा गया कि इस प्रकार पृथ्वी के अपनी धुरी पर किए गये दैनिक भ्रमण के कारण मङ्गल का जो लम्बन होता है वह प्राप्त किया जा सकेगा। यह ठीक वही प्रक्रिया है जो रेखा-चित्र ११ में दिखलाई गई है। परन्तु इस प्रक्रिया में भी एक दिक्कत नजर आई। मङ्गल ग्रह स्वयं एक काफी बड़े कोणीय व्यास का गोला है, इसलिए तारों से इसकी कोणीय दूरी नापने में मुश्किल होने लगी; क्योंकि दूरबीन से देखे जाने पर तारे प्रकाश के सिर्फ बिन्दु मात्र ही दिखाई पड़ते थे। इस दिक्कत को दूर करने के लिए पहिले कुछ उपग्रहों के वेध लेकर उनके अपने लम्बन प्राप्त किए गये। इनका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। यह सब बहुत ही छोटे आकारों के हैं; अधिकांश तो बहुत ही थोड़ी मीलों के व्यासों के हैं। यह सब सूर्य के चारों ओर ही घूमते रहते हैं। इनकी भ्रमण-कक्षाएँ ज्यादातर मङ्गल और बृहस्पति के बीच पड़ती हैं। इनमें से जो ज्यादा चमकदार हैं उनकी कक्षाएँ अच्छी तरह जान ली गई हैं। दूसरे बड़े ग्रहों की तरह यह भी सूर्य के परिवार के ही अङ्ग हैं। इसलिए सोचा गया कि इनमें से किसी एक उपग्रह का लम्बन यदि जान लिया गया तो वह सौर-मण्डल को नापने की एक सही इकाई दे सकेगा। बीसवीं सदी में इनमें से जिनका

वेध किया गया, वह मङ्गल की अपेक्षा ज्यादा दूर थे। इसलिए इनके लम्बन भी मङ्गल के लम्बन की अपेक्षा छोटे थे। परन्तु इनको लेकर एक सुविधा थी; वह यह कि, तारों की तरह ही यह भी दूरबीन से सिर्फ प्रकाश के बिन्दुओं की तरह ही दिखाई देते थे। इसलिए तारों के बीच इनकी स्थितियाँ ज्यादा सही और ठीक नापी जा सकती थीं।

इन उपग्रहों के वेधों से प्राप्त परिणाम मङ्गल के वेधों से प्राप्त परिणामों से बहुत अच्छी तरह मेल खाते थे। फल यह हुआ कि इस शताब्दी के बीतते बीतते सूर्य के लम्बन की राशि काफी तौर से सही और ठीक जानी जा चुकी थी।

सन् १८६८ ई० में एक महत्वपूर्ण उपग्रह, जिसका नाम ज्योतिषियों ने इरोस Eros रक्खा, खोज निकाला गया। इस खोजका सबसे बड़ा महत्व यह था कि सूर्य से इस उपग्रह की न्यूनतम दूरी सूर्य से मङ्गल की न्यूनतम दूरी से बहुत कम है। क्योंकि इस उपग्रह की भ्रमण-कक्षा भी विशेष अण्डाकार है, इसलिए अपने भ्रमण पथ पर यह ग्रह कभी-कभी तो पृथ्वी के इतना नजदीक आ जाता है जितना नजदीक दूसरा और कोइ ग्रह नहीं आता। जब यह पृथ्वी से अपनी न्यूनतम दूरी पर होता है तब इसकी यह दूरी शुक्र की न्यूनतम दूरी के आधे से कुछ ही अधिक होती है और मङ्गल की न्यूनतम दूरी के तो एक तिहाइ से कुछ ही ज्यादा। इसलिए यह धारणा की गई कि ईरोस जब पृथ्वी के नजदीक होता है तब इसके लम्बन के नाप

मङ्गल के लम्बन के नापों की अपेक्षा तीन गुने विश्वस्त और ठीक होंगे और पहिले परीक्षणोंमें व्यवहृत छोटे उपग्रहोंके लम्बनों के नापों की अपेक्षा तो बहुत ही ज्यादा, क्योंकि वह सब तो कभी भी पृथ्वी के उतने नजदीक नहीं आते जितना कि मङ्गल ग्रह ।

यह सब परीक्षण तो हो ही रहे थे। इस बीच दूसरा एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम और भी उठा लिया गया। यह था खगोल-शास्त्र को फोटोग्राफी की मदद । मुक्त आकाश में कोणीय दूरियों के नाप यदि नंगी आँखों की मदद से लिए जाँय तो ऐसा करने में वेधकर्ताओं में बहुत बुद्धिमानी, एवं सूझ-बूझ की आवश्यकता रहती है। साथ ही यह भी एक मुश्किल थी कि एक निश्चित समय में जितने नाप लिए जा सकते थे उनकी भी एक सीमा ही थी। प्रायः ये परीक्षण बहुत ही असुविधा-पूर्ण अवस्थाओं में करने पड़ते थे जिनका बुरा असर परिणामों के सही होने पर पड़ता था। कई अवसर तो इतने क्षणिक होते थे, जैसे कि किसी एक छोटे उपग्रह का आकाश में बिचरते हुए निकल जाना। ऐसे अवसरों पर किसी भी एक वेधकर्ता की कोई गलती बाद में न तो पकड़ी और जाँची जा सकती थी और न सुधारी ही जा सकती थी। इसको रोकने का सिर्फ एक ही उपाय था कि वेध करते समय ठीक एक ही तरह के साधन यन्त्रों को देकर दो या दो से अधिक वेधकर्ताओं को नियुक्त किया जाय। परन्तु ऐसा करने में भी मुश्किल यह थी कि जान-

कार वेधकर्ताओं का मिलना आसान नहीं था और, जिन यन्त्रों को उपयोग में लिया जाता था वह बहुत ही कीमती होने के कारण बहुत कम मिल सकते थे। फोटोग्राफी ने जब खगोल शास्त्रियो का हाथ बॅटाना आरम्भ किया तो सारी स्थिति बदल सी गई। फोटोग्राफी के प्लेटों को आकाश की ओर नियुक्त करने में अधिक जानकारी की जरूरत भी न थी और एक बार जहाँ छवि चित्र ले लिए गये वहाँ वह स्थायी साधन बन जाते थे, जिनका फुर्सत के समय आराम के साथ अध्ययन किया जा सकता था। तारों और छोटे ग्रहों, उपग्रहो अथवा अन्य पिण्डों की दूरियाँ इन प्लेटों पर बॅध चुकने पर चाहे जब और चाहे जितने व्यक्तियों द्वारा नापी जा सकती थी जिससे नाप-जोख में होनेवाली आकस्मिक गलतियाँ पकड़ी और दूर भी की जा सकती थीं। साथ ही एक बड़ी सुविधा यह भी थी कि प्लेटों में बॅधी हुई तारोंकी प्रतिच्छायायें इतनी अधिक होती थीं कि उनसे उस अध्ययन में बहुत ही मदद मिलती थी। नाप जोख में बिताये समय पर भी कोई पाबन्दी न थी। कोई आश्चर्य नहीं कि फोटोग्राफी में आबद्ध ईरोर्स के वेधों द्वारा सूर्य के लम्बन का आधुनिक ज्ञान सत्य के इतना नजदीक है। उन्नीसवीं शताब्दी में आँखों द्वारा इसका जो ज्ञान प्राप्त किया जाता था उसकी अपेक्षा यह बहुत ही सही और विश्वसनीय है।

अभी हाल में ही सर हैरोल्ड स्पेसर जोन्सने सबसे पिछला प्रयोग किया है। उन्होंने अपने इस प्रयोग में सन् १९३० और

सन् १६३१ ई० में दुनियाँ के तमाम हिस्सों में करीब २४ वेध-शालाओ द्वारा लिए गये ईरोस के वेधों का भी उपयोग किया था। सन् १६४३ ई० में रोयल एस्ट्रोनोमिकल सोसाइटी ने उन्हें इस प्रयोग पर एक स्वर्ण पदक भी प्रदान किया था।

सूर्य के लम्बन की यह सबसे ताजी प्राप्त राशि ८".७६०± ०".००१ है। इसका मतलब है कि इस लम्बन की सही राशि ८".७६१ और ८".७८६ के बीच में कहीं पर हैं। क्योंकि पृथ्वी के विषुव रेखा वृत्त का अर्धव्यास ३६६३ मील है, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि सूर्य के केन्द्र से पृथ्वी के केन्द्र की दूरी ६२,६६०,००० एवं ६३,०००,००० मीलों के भीतर ही कहीं पर है। पिछले सभी परीक्षणों से प्राप्त ठीक से ठीक ज्ञान की अपेक्षा इस ज्ञान में बहुत ही कम अविश्वस्तता है।

क्योंकि इस जानकारी के आधारभूत परीक्षण या वेध पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में इतनी वेधशालाओं द्वारा किए गये थे, इसलिए उनको एक साथ रखकर उनके द्वारा इस प्रश्न के कई भिन्न-भिन्न हल प्राप्त किए जा सकते थे जो एक दूसरे की सही या गल्ती को जाँच सकते थे और अन्तिम निष्कर्ष की सच्चाई को अधिक शक्ति प्रदान कर सकते थे। कोई गलती न होने पावे इसके लिए प्रत्येक तरह की सावधानी रक्खी गई थी और प्रत्येक वेध को बड़ी कड़ाई के साथ जाँचा गया था।

पहली नजर में ऐसा मालूम होता है कि सूर्य की इस दूरी के इन दोनों सम्भव आँकड़ों के बीच १०,००० मीलों की

अनिश्चितता का द्योतक यह अन्तर जरूरत से ज्यादा है ; परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह अन्तर ६००० हिस्सों में एक हिस्सा ही है। यह ठीक ऐसा है मानों किसी ६ इञ्च लम्बी एक वस्तु को नापते समय हम लम्बाई बताने में एक इञ्च के दस हजारवें भाग की गलती कर जावें। कम-से-कम अपने इञ्जीनियरों से तो हम यह आशा नहीं रखते कि वह किसी एक दी हुई वस्तु का नाप देते समय हमें इस खगोलीय नाप से ज्यादा सही नाप दे सकेंगे।

यहाँ पर यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि कोणीय माप की एक विकला कितनी छोटी होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम अपने रोजमर्रा के जीवन के कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण देते है। १ इञ्च व्यास के एक पैसे के सिक्के को २०६,२६५ इञ्चों अथवा ३$\frac{१}{४}$ मील की दूरी से देखने पर उसका कोणीय व्यास १″ विकला होगा।

हाल के इन प्रयोगों द्वारा प्राप्त सूर्य के लम्बन की राशि की अनिश्चितता ०″.००२ है। इसको हम यों समझ सकते हैं। मानो एक पैसे के उस सिक्के को हम १६२५ मील की दूरी से देख रहे हों (यदि ऐसा सम्भव हो ?)। मनुष्य के सिर के बाल का व्यास १ इञ्च का ५०० वाँ हिस्सा है। यदि हम चाहें कि यह बाल हमें १″ विकला कोणीय चौड़ाई का दिखाई पड़े तो इसके लिये हमें इसे ३४ फीट से भी कुछ ज्यादा दूर खड़े रहकर देखना होगा।

०".००२ कोणीय चौड़ाई का देखने के लिये तो हमें इसे १५५½ फीट की दूरी से देखना होगा।

इस प्रकार पिछले विवरणों और रेखा चित्रों द्वारा हम यह बतला चुके हैं कि सौर-मण्डल के भीतर सूर्य और ग्रहों की दूरियों को पृथ्वी पर लम्बाई नापने की हमारी व्यावहारिक इकाइयों में किस प्रकार नापते हैं। जिस प्रधान आधार पर हमने सौर मण्डल की इन दूरियों को जाना है वह है "लम्बन" Parallax का ज्ञान। यह ज्ञान हमारे लिये कोई अनोखा या अजनबी नहीं है। अपने रोजमर्रा के जीवन में हम इससे पूर्ण परिचित हैं। कहा जा सकता है कि हमारे पास इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि पृथ्वी से बाहर काफी बड़ी दूरियों को नापने में भी यह उतना ही कारगर हो सकता है जितना हमारे दैनिक जीवन में। पृथ्वी पर तो लम्बन के द्वारा प्राप्त दूरी की जाँच हम नापने के फीते की मदद से कर सकते हैं। परन्तु इन खगोलीय दूरियों के सच-झूठ की जाँच कैसे की जाय? क्या हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है जिसकी मदद से हम जान पावे कि लम्बन द्वारा प्राप्त यह खगोलीय दूरियाँ सच हैं या गलत?

वास्तव में ऐसे कई साधन हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सब से ज्यादा महत्वपूर्ण तरीका, जिससे हम यह जाँच कर सकते हैं, बृहस्पति ग्रह के उपग्रहों के ग्रहणों पर आश्रित है। इन ग्रहणों के वेधों ने ही सबसे पहिले इस सत्य को प्रमाणित किया था कि

प्रकाश एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर एक बँधे हुए वेग से दौड़ता है। स्थान "क" से स्थान "ख" तक पहुँचने में इसे कुछ समय लगता है। इन ग्रहणों के वेधों ने ही पहले पहल यह भी बतलाया था कि प्रकाश की गतिका वास्तविक वेग अमुक है। प्रत्यक्ष परीक्षण के जरिये इन वेधों द्वारा जहाँ हम प्रकाश की चाल के वेग को जान पाते हैं वहाँ यही वेध हमें सूर्य के लम्बन की सही राशि का ज्ञान भी करा देते हैं।

बृहस्पति ग्रहके यह चारों ही चमकदार उपग्रह इस ग्रहके चारों ओर अपने-अपने निश्चित समयों में पूरे चक्कर देते हुए घूमते रहते हैं। इन उपग्रहों को बृहस्पति के चारों ओर एक-एक पूरा चक्कर देने में जो समय लगता है उसे हम बिल्कुल ठीक जानते हैं। समय-समय पर उनमेंसे कोई एक या दूसरा, उस ग्रह की छाया में प्रवेश करता रहता है। थोड़ी देर के लिये तो वह इस छाया के पीछे छिपा रहता है और कुछ समय बाद इस छाया के दूसरे छोर से फिर प्रकट हो जाता है। इन उपग्रहों के इन सामयिक ग्रहणों की हम पहिले से ही ठीक भविष्य वाणी भी कर सकते हैं। मजा तो यह है कि हमारी साधारण दूरबीनों से हम इन्हें देख भी सकते हैं। सन् १६७५ ई० में डेनमार्क के एक खगोलज्ञ ओल रोमर Ole Roemer ने यह पता लगाया कि इन ग्रहणों के समय के विषय में की गई हमारी भविष्यवाणियाँ अक्सर ठीक नहीं बैठतीं। उसने कहा कि यदि हम बृहस्पति के षडभान्तर opposition (जब यह ग्रह पृथ्वीसे अपनी निकट-

तम अवस्थामें होता है) के समय होनेवाले इन ग्रहणोंसे आरम्भ करें तो हम देखेंगे कि अगले ग्रहण हमारी गणना द्वारा पहिले से ही प्राप्त समय से कुछ समय बाद होंगे। यह ग्रह (बृहस्पति) पृथ्वी से जितना ही दूर होता जावेगा धीरे धीरे वह ग्रहण भी गणना द्वारा प्राप्त समयों से पीछे पड़ते जावेंगे। इसके बाद अपनी कक्षा पर घूमता हुआ यह ग्रह ज्यों-ज्यों अपने अगले षडभान्तर के नजदीक आता जावेगा वह ग्रहण भी उन्ही परिमाणों में हमारे उन पहिले से बताये समयों को पकड़ते जावेंगे और उस षडभान्तर के समय तो ठीक उसी समय होंगे जिसका हमने पहिले से ही निश्चय कर लिया है। इन ग्रहणों की इस अनियमितता के कारणों की खोज करते हुए ओल रोमर ने बिल्कुल सही कारण भी पकड़ लिया था। कारण यही था कि अपने भ्रमण की क्रमिक अवस्थाओं में रहते हुए इन उपग्रहों के प्रकाश को हमारी पृथ्वी तक पहुँचने में क्रमशः कम या ज्यादा दूरी पार करनी पड़ती थी। ओल रोलर के समय तक सूर्य के लम्बन की ठीक राशि का ज्ञान नहीं हो सका था, इसलिए प्रकाश की गति के वेग को वह ठीक तौर पर बतला न सका। दूसरे उन उपग्रहों के ग्रहण क्षणिक न होकर कुछ मिनटों का समय लेते थे (उनके ओझल होने और दुबारा फिर दिखाई पड़ने में कुछ मिनट लगते थे)। रोमर उनके समय को भी ठीक तरह पकड़ न सका। आजकल तो खगोलज्ञों के हाथ कुछ ऐसे विशेष तरीके लग चुके हैं, जिनसे वह इन ग्रहणों के ठीक समयों को सही तौर पर जान पाते हैं।

हम अब वास्तविक नाप-जोख के जरिये प्रकाश के वेग को जान गये हैं। ऐसा करने में हमें खगोलीय घटनाओं पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही है। प्रकाश के वेग को एवं उपग्रहों के इन ग्रहणों के समयों में पड़नेवाले फर्कों को जान लेने के बाद गणना द्वारा हम वास्तविक दूरी को जान सकते हैं। इस गणना की क्रिया बहुत ही सीधी है। थोड़ी भी गणित जानने वाला कोई भी व्यक्ति इसे कर सकता है। जब बृहस्पति अपनी युति में in conjunction (सूर्य की ओर पृथ्वी से अपनी अधिकतम दूरी पर) होता है, उस समय जो ग्रहण होते हैं, वह उन ग्रहणों की अपेक्षा जो बृहस्पति के षड्भान्तर के समय होते हैं, एक हजार सेकण्ड पीछे पड़ जाते हैं। इसका कारण यह है कि पहिली अवस्था में रोशनी को दूसरी अवस्था की अपेक्षा ज्यादा दूरी पार करनी पड़ती है। बढ़ी हुई यह दूरी पृथ्वी की कक्षा के व्यास की है। प्रकाश एक सेकण्ड में १८६००० मील के वेग से चलता है। इस गति को १००० से गुणा करने पर गुणनफल १८६,०००,००० मील होता है जो पृथ्वी की कक्षा का सही व्यास है।

सूर्य के लम्बन के इस तरीके की दूसरी जाँच भी है। इसमें हम प्रकाश के अपरेण aberration का उपयोग करते हैं। सच पूछा जाय तो यह तारों का अपरेण है। खगोल शास्त्र का यह एक पारिभाषिक शब्द है। इसको समझने के लिए हम अपने व्यावहारिक जीवन की ही एक घटना लेते हैं। मान लीजिए हम

एक रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं। बाहर बरसात हो रही है और हवा शान्त है। गाड़ी किसी एक स्टेशन पर खड़ी है। उस समय यदि हम बाहर की ओर देखें तो मालूम होगा कि बरसात की बूँदें सिर के ऊपर से ठीक एक सीधी रेखा में नीचे गिर रही हैं। गाड़ी जब चलने लगती है तो भीतर बैठे हुए हमें मालूम होता है कि बरसात की बूँदें तिरछी गिर रही हैं; मानों ठीक सिर के ऊपर से न गिर कर "खस्वस्तिक" Zenith से कुछ दूर किसी एक बिन्दु से।

क्योंकि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है; इसलिए तारों से हम तक आनेवाला प्रकाश भी ठीक ऊपर दिए गये बरसात की बूँदों के उदाहरण की तरह ही व्यवहार करता है। अपनी इस वार्षिक गति में पृथ्वी ६ महीनों तक तो आकाश में एक निश्चित बिन्दु की ओर दौड़ती है, जब कि पिछले छः महीनों में यह उस बिन्दु से दूर वापिस भागने लगती है। पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा के तल से ठीक उत्तर या दक्षिण की ओर स्थित किसी एक तारे का प्रकाश १,८६,००० मील प्रति सेकन्डके वेग से दौड़ना शुरू करता है। पृथ्वी पर पहुँचने पर यह प्रकाश पृथ्वी के धरातल को ठीक उसी दिशा में इसे छूता हुआ हमें नहीं दिखाई पड़ता जिस दिशा में वह उसे छूता, यदि यह प्रकाश तुरन्त एक ही क्षण में वहाँ आ पहुँचता। प्रकाश के इस व्यवहार के कारण वह तारा हमें अपनी वास्तविक proper स्थिति से कुछ दूर हटा हुआ दिखाई देगा। ६ महीने बाद

यही तारा इससे बिल्कुल उलटी दिशा में कुछ हटा हुआ दिखाई देगा क्योंकि उस समय पृथ्वी भी उलटी दिशा में भागती होगी। इन दोनों ही हटावों का वेधगत योग करीब ४१" विकला होगा। स्पष्टतः ही उस तारे का अपनी वास्तविक स्थिति से हटाव इस उपरोक्त राशि का आधा अथवा २०"·५ होगा। इसलिए हम जान पायेंगे कि अपनी कक्षा पर पृथ्वी के भागने का वेग प्रकाश के वेग की राशि का एक बहुत छोटा अंश होगा। यह अंश $\frac{२०\cdot५}{२०६२६५}$ है। इसको प्रकाश के वेग की राशि (१,८६,००० मील प्रति सेकन्ड) से गुणा करने पर हम पाएँगे कि पृथ्वी की अपनी कक्षा पर भागने की गति १८·४८ मील प्रति सेकन्ड है। क्योंकि पूरे एक सौर वर्ष में ३१,५७७,६०० सेकन्ड होते हैं; इसलिए पृथ्वी की कक्षा के पूर्ण वृत्त को जानने के लिए हम सेकन्डों की इस राशिको १८·४८ से गुणा करेंगे। गुणनफल ५८,३५५,४०४,८०० मील होगा। सुगमता के लिए इसे हम ५८,३६०,०००,००० मील ही कहेंगे। इस पिछली राशि को पृथ्वी के अर्धव्यास का दूना (६२८३) से भाग देने पर भागफल ९२.८९०,००० मील होगा जो इस कक्षा का अर्धव्यास होगा।

इन दोनों ही तरीकों में लम्बन एवं पृथ्वी पर नापी हुई किसी दूरी की आवश्यकता नहीं है। इन तरीकों में सिर्फ एक बात मान लेनी पड़ती है; वह यह कि बाहर आकाश में भी प्रकाश का वेग ठीक उतना ही है जितना पृथ्वी पर किसी एक वायु-शून्य प्रदेश में। यह धारणा तथ्य के बहुत कुछ नजदीक

है। यह तो मानना ही होगा कि इन भौतिक प्रयोगों द्वारा सूर्य की दूरी की जो राशि हम प्राप्त करते हैं उसमें एवं लम्बन की नाप द्वारा प्राप्त राशि में बहुत गहरी समानता है। इसलिए हम कह सकते है कि इन प्रयोगों में हमने जो धारणायें बनाई थीं, वह काफी पुष्ट एवं सत्य के नजदीक हैं।

यह तो हम पहिले ही कह आये हैं कि पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी जानकर हम उसके द्वारा सूर्य के लम्बन की राशि के सही या गलती होने की जाँच कर सकते है। यदि हम यह कहें कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारो ओर घूमता है तो हमारी यह उक्ति एक अर्ध सत्य ही होगी। सच है कि पृथ्वी चन्द्रमा की अपेक्षा ८० गुना भारी है। इतने पर भी चन्द्रमा पृथ्वी पर अपनी गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से काफी असर डालता है। इसका परिणाम यह होता है कि चन्द्रमा और पृथ्वीदोनों ही एक ऐसे बिन्दु के चारो ओर घूमते हैं जो उन दोनों के केन्द्रों के बीच में कहीं पड़ता है। यदि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों एक ही द्रव्य-मात्रा mass के होते तो यह बिन्दु उन दोनों के ठीक बीच में होता। क्योंकि पृथ्वी चन्द्रमा की अपेक्षा इतनी ज्यादा भारी है इसलिए निश्चय ही यह बिन्दु चन्द्रमा की अपेक्षा पृथ्वी के ज्यादा निकट है। वास्तव में यह बिन्दु पृथ्वी के भीतर ही पड़ता है; पृथ्वी के केन्द्र से करीब २,९०० मील दूर।

प्रत्येक चन्द्रग्रहण के अवसर पर पृथ्वी का केन्द्र इस बिन्दु के चारों ओर करीब ५,८०० मील व्यास का एक वृत्त खींचता है।

स्वयं यह बिन्दु भी सूर्य के चारों ओर लगातार घूमता रहता है। यहाँ हमें अनायास ही रेखाचित्र १ में प्रदर्शित टाल्मी के सिद्धान्त की याद आ जाती है। पृथ्वी की यह गति ग्रहों की दीख पड़नेवाली गतियों में अपनी झलक फेंकती है और इस प्रकार हमसे उनकी दूरियों को जानने का एक साधन भी प्रदान करती है।

यहाँ हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ऊपर दिया हुआ यह तरीका सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इसमें चन्द्रमा के घनत्व या द्रव्य-मात्रा के ज्ञान की पहिले आवश्यकता पड़ती है। चन्द्रमा के इस घनत्व को जानने के लिए हमें पहिले किसी अन्य तरीके से सूर्य का लम्बन जानना पड़ता है, तब ग्रहों के वेधों द्वारा हमें उस छोटी कक्षा का व्यास जानना पड़ता है, जिसे पृथ्वी का केन्द्र हर महीने अपनी गति द्वारा खींचता है। इनको जान लेने पर हम पृथ्वी एवं चन्द्रमा के घनत्वों का इनके द्वारा अनुपात निकालते हैं जो, जैसा ऊपर कहा है, ८०:१ है। हम देखते हैं कि यह तरीका हमें इस तरह एक चक्कर में डाल देता है और इस चक्कर में घूमते हुए हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँच सकते। पृथ्वी और चन्द्रमा के घनत्व के अनुपात को जानने के और भी रास्ते हैं जो सूर्य के लम्बन के ज्ञान पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी का ज्ञान दूसरे तरीकों से प्राप्त सूर्य-लम्बन के ज्ञान को जाँचने का एक साधन है। यद्यपि यह ज्ञान उस प्राप्त लम्बन राशि में सही दिशा की ओर कुछ सुधार तो नहीं कर सकता।

एक तरीका और भी है। इसमें हम पृथ्वी द्वारा मङ्गल और शुक्र ग्रहों के किए गये विचलनों को जानकर उनकी सहायता से पृथ्वी एवं सूर्य के घनत्वों का अनुपात निकालते हैं। इस अनुपात के आधार पर ही हम पृथ्वी से सूर्य की दूरी निकाल सकते हैं। इस तरीके में सिर्फ एक ही बात ऊपर से मान लेनी पड़ती है; वह यह कि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त सत्य है। वैसे तो इस तरीके में लम्बन के नापों एवं प्रकाश के वेग का ज्ञान—इन दोनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं है। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त पर आधारित इस या अन्य किसी तरीके से प्राप्त सूर्य-लम्बन की राशि एवं अन्य मान्यताओं पर आधारित तरीकों से प्राप्त राशि में बहुत घनी समानता है। पिछले किसी एक अवच्छेद में हमने जिस सम्भावना का उल्लेख किया है वह अब और भी पुष्ट हो जाती है। हमारे पाठक अब यह निर्विवाद जान गये होंगे कि पृथ्वी की तरह ही सारे सौर-मण्डल में लम्बन की क्रिया एक ही प्रकार का व्यवहार करती है; कि हमारी प्रयोगशालाओं में प्रकाश-किरणें जिस वेग से दौड़ती हैं, बाह्य आकाश में भी वह उतने ही वेग से चलती हैं; कि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त एक तथ्य है; और यह भी कि पृथ्वी एवं सूर्य के केन्द्रों की निम्नतम दूरी ९३,०००,००० मील है।

सौर-मण्डल के समानुपातों को ठीक समझने के लिए सर जान हर्शेल ने एक उदाहरण दिया था जो हमारे रोजमर्रा के

जीवन से सम्बन्धित होने के कारण समझने में सुगम है। मान लें कि सूर्य एक गेंद के बराबर है, जिसका व्यास २ फीट है। इस गेंद के केन्द्र से १६४ फीट दूर सरसों का एक दाना पड़ा हुआ है जो बुध है और २८४ फीट की दूरी पर मटर का एक दाना पड़ा है जो है शुक्र ; ४३० फीट दूर मटर का ही एक और दाना भी पड़ा है जो हमारी पृथ्वी है। ६५४ फीट दूर एक बड़ी पिन का एक गोलाकार सिरा पड़ा है जो मङ्गल है। १००० और १२०० फीटों की दूरी के भीतर धूल के कुछ कण पड़े हैं जो इस मण्डल के उपग्रह है। करीब पाव मील दूर औसत आकार की एक नारङ्गी पड़ी है, जो वृहस्पति है। २/५ मील दूर दूसरी एक छोटी नारङ्गी है जो शनि है। पौन मील दूर एक छोटा वेर पड़ा है जो वरुण है और सवा मील दूर, बड़े आकार का एक वेर जो वारुणी है—इसमें हम अब यम ग्रह को भी जोड़ देते हैं, क्योंकि सर जान हर्शेल के समय तक वह अज्ञात था। हमारे इस चित्र में यम एक छोटा-सा दाना है, जो सूर्य के केन्द्र से ३। मील दूर है।

चौथा परिच्छेद

हमारे दिव्य-चक्षु—दूरबीनें

यहाँ से आगे, अब, हमें अनन्त के उन क्षेत्रों की ओर बढ़ना है जो पृथ्वी से बहुत बहुत दूर हैं—इतने दूर कि उनमें के बहुत थोड़े ज्योतिपिण्ड ही हमारी नंगी आँखों से देखे जा सकते हैं और वह भी अस्पष्ट से ही। हमारी आँखों की दृष्टि-शक्ति एक सीमा में ही बँधी हुई है। विश्व-प्रकृति फिजूल खर्च तो हर्गिज नहीं है। जितनी दृष्टि-शक्ति से हमारे दैनिक जीवन का काम मजे में चल जाय, ठीक उतनी ही शक्ति उसने हमारी आँखों को दी है।

परन्तु, अनन्त में झाँकने की हमारी उत्सुकता की तो कोई सीमा नहीं। इन सुदूर क्षेत्रों को देख पाने की हमारी लालसा ज्यों-ज्यों प्रबल होती गई, अपनी आँखों की दृष्टि-शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाने के लिये हम कुछ साधनों का निर्माण भी करते चले गए। समय के तकाजो ने उनको अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने की ओर हमें उद्यत किया। इन साधनों को हम 'दूरबीनें' कहते हैं।

अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये किये गये अभियान में

अनन्त के महापथ पर आगे कदम वढ़ाने से पहिले अच्छा होगा कि हम इन दूरवीनो का पूरा परिचय ले लें।

वात कुछ हजारों वर्ष पहिले की है। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में युद्ध करने को आये हुए दोनों दलो में अपने ही सगे-स्वजनो को देखकर महावीर अर्जुन का मन विषाद-पूर्ण और क्लान्त हो उठा था। उसके मोह और विषाद को दूर करने के लिये श्री कृष्ण ने तव जो दिव्य उपदेश दिया था, उसके सिलसिले में अर्जुन की इच्छा पूरी करने के लिये उन्होंने उसे अपना ऐश्वर-रूप (विश्व-रूप) दिखाना चाहा। परन्तु अर्जुन था तो आखिर एक मनुष्य ही; और इस कारण, उसकी दृष्टि-शक्ति भी सीमित ही थी। इस अड़चन को दूर करने और उसकी आंखो को तदनुरूप सामर्थ्य देने के लिये भगवान श्री कृष्ण ने उसे 'दिव्य-चक्षु' दिए थे :—

न तु मां शक्ष्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे रूपमैश्वरम्॥

(श्री भगवद्गीता ११।८)

"परन्तु तुम्हारे इन नेत्रो से तुम मुझे (विश्व-रूपको) नहीं देख सकोगे; मैं तुम्हें दिव्य-चक्षु देता हूॅ, मेरे ऐश्वर रूप को देखो।"

अर्जुन का यह दिव्य-चक्षु कैसा था, हम नहीं जानते। परन्तु, विज्ञान ने विश्व-रूप को भली-भांति देख पानेके लिये

आज हमें जो दिव्य-चक्षु (दूरबीनें) दिए हैं, उनकी अपनी छोटी-सी कहानी हम यहाँ लिख रहे हैं।

अनन्त शून्य में अठखेलियाँ करते हुए ज्योति-पिण्डों को घूरने और उनका अध्ययन करने में दूरबीनें हमारी प्रबल सहायक हैं। ज्योति-पिण्डों के रूपों को बढ़ाकर दिखाने और उनके अस्तित्वों को बताने में उनकी अपनी अलग-अलग क्रियाओं के आधार पर वह तीन मुख्य किस्मों में विभक्त की जा सकती हैं, जो निम्नानुसार हैं।

(१) वर्तक दूरबीनें ; refraction telescopes.

(२) परावर्तक दूरबीनें ; reflecting telescopes.

(८' रेडियो दूरबीनें radio telescopes.

आजकल पिछली दो भाँति की दूरबीनों का ही अधिक उपयोग किया जाता है। वर्तक दूरबीनों को इच्छानुकूल बड़ी बनाने में कुछ व्यावहारिक मुश्किलें आ खड़ी होती हैं ; और इस कारण, खगोल-वैज्ञानिक अब इनको व्यवहार में कम ही लेते हैं।

जो कुछ हो, नक्षत्र-विज्ञान में दूरबीनों के युग की शुरूआत तो वर्तक दूरबीनों के आविष्कार के बाद ही हुई थी ; और पिछले चार सौ वर्षों के लम्बे दौर में इनका ही बोलबाला रहा था। इन दूरबीनों ने इस बीच ग्रहों और तारों के विषय में अनेक महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी तथ्य खोजकर दिए भी थे।

इनके ऐतिहासिक महत्व को देखकर पहिले हम वर्तक दूरबीनों का परिचय देते हैं।

वर्तक दूरबीनें

एक छोटी वर्तक दूरबीन वास्तव में एक बहुत ही सीधा-सा यन्त्र है। यह एक लम्बी नली है जिसके एक सिरे पर तो एक बड़ा लेन्स lens लगा रहता है। जिसे 'ओब्जेक्ट ग्लास' object glass (वह काँच जो दृश्य वस्तु की ओर हो) कहते हैं और दूसरे सिरे पर होता है एक छोटा लेन्स जिसे 'आई-पीस' eye-piece (आँख की ओर जो काँच हो) कहते हैं। एक लेन्स से हम सब भली-भाँति परिचित हैं। आँखों पर हम जो चश्मे लगाते है, उनमें यह लेन्स ही होते हैं। यह काँच का एक गोल टुकड़ा होता है, जिसका मध्यभाग एक या दोनों तरफ उभरा हुआ होता है।

किसी एक व्यक्ति के मुख, प्राकृतिक छटा के किसी एक स्थल अथवा आकाश की किसी एक नीहारिका का, जो इन लेन्सों के सामने होते हैं, प्रतिरूप बनाते समय वह लेन्स एक-एक बिन्दु करके ही ऐसा करते हैं। जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब बनता है उसके समूचे आकार का प्रत्येक बिन्दु उस लेन्स पर अपनी प्रकाश-किरणें डालता है। उन किरणों को पकड़ कर वह लेन्स उन्हें अपने भीतर एक ओर को मोड़ देता है। इस प्रकार वह सब किरणें उस लेन्स के पेट में एक ही बिन्दु पर आ जुटती हैं। इस बिन्दु को 'नाभिक' focus कहते हैं। नाभिक पर

आकर वह सब किरणें अलग-अलग अपने वैसे ही प्रतिबिम्ब बिन्दु बना देती हैं। वह सब प्रतिबिम्ब-बिन्दु ही मिलकर, एक सम्पूर्ण रूप में, उस दृश्य वस्तु का एक पूरा प्रतिबिम्ब बन जाते हैं। किरणों को इस प्रकार भीतर की ओर मोड़ने की क्रिया को 'वर्तन' refraction कहते हैं।

इस क्रिया को समझाने और 'परावर्तन' reflection की क्रिया से इसका भेद स्पष्ट करने के लिये नीचे हम रेखाचित्र १८ दे रहे हैं।

इस चित्र में बायीं ओर तो वर्तन refraction की क्रिया करता हुआ एक लेन्स है और दाहिनी ओर है एक दर्पण जो 'परावर्तन' की क्रिया कर रहा है। दोनों पर एक तारे के प्रकाश की दो समानान्तर किरणें पड़ रही हैं। दृश्य वस्तु का प्रतिबिम्ब एक लेन्स के तो, पेट में बनता है, परन्तु एक दर्पण के मुख पर—उसकी सतह पर।
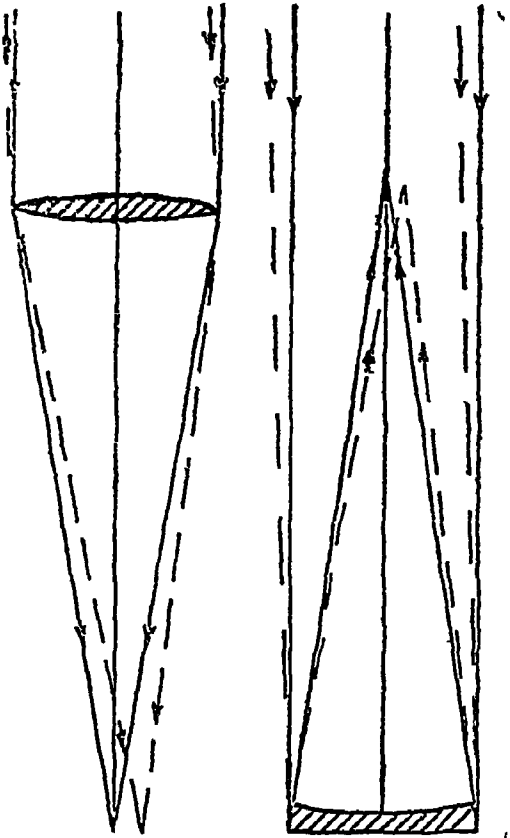
रेखाचित्र १८

एक अकेला लेन्स इन किरणों को बिल्कुल शुद्ध एक बिन्दु पर नहीं ला सकता। ऐसा करने के लिये भिन्न-भिन्न आकारों के दो लेन्सों की, जो भिन्न किस्म के काचों के बने हों, जरूरत होती है। दूर की जिन वस्तुओं को हमें देखना हो वह अपने आकार की छाया उस बड़ी लेन्स (ओब्जेक्ट ग्लास) पर ठीक उसी प्रकार डालती हैं, जिस प्रकार फोटो लेने के एक कैमेरा का लेन्स उसमें लगे हुए फिल्मों, प्लेटों और पर्दों पर डालता है, अथवा जिस प्रकार हमारी आँखों का अगला भाग उनके काले भाग पर ठहरी हुई पुतली retina पर डालता है।

एक कैमेरा में हम देखते हैं कि जब तक 'शटर' shutter (प्रकाश को लेन्स पर पड़ने से रोकने के लिये जो साधन काम में लिया जाता है) खुला रहता है, कैमेरा में प्रतिबिम्बित छाया-आकृति बनी ही रहती है, चाहे उस कैमेरा में कोई फिल्म न भी हो। छोटे-छोटे फिल्मी कैमरों के आज के जमाने में स्टैण्ड कैमरों 'stand' Cameras (बड़े आकार का एक कैमेरा जिसे तीन लकड़ियों की एक तख्ती पर रख कर फोटो लिये जाते हैं) का चलन कम होता जा रहा है। हाँ, कुछ पुराने पेशेवर फोटोग्राफर तो आज भी इनको काम में लेते देखे जाते हैं। इन कैमेरों में 'ग्राउण्ड ग्लास' ground glass और एक 'नाभिक-पर्दा' a focus screen लगे रहते हैं। वर्तन और परावर्तन की क्रियाओं के कारण किरणें जिस पर्दे पर एक बिन्दु 'नाभिक' focus बनाती है उसे एक 'नाभिक-

पर्दा' कहते हैं। इन पर बने हुए प्रतिबिम्बका आकार ठीक उलटा बनता है। फोटोग्राफर कभी-कभी एक विस्तारक कांच Magnifying glass (दृश्य वस्तु को एक बढ़े हुए आकार में दिखाने वाला कांच) के जरिये इस प्रतिबिम्ब को देखता रहता है, ताकि उसे पूरा विश्वास हो जाय कि उसका कैमेरा उस वस्तु को, जिसका फोटो लिया जा रहा हो, ठीक-ठीक पकड़ रहा है। फोटोग्राफर जब ऐसा करता हो, उस बीच यदि कोई व्यक्ति उस नाभिक-पर्दे को यकायक हटा दे, तो उसका वही कैमेरा तुरन्त एक दूरबीन बन जावेगा। यही होगी ज्योतिर्विदों की दूरबीन। नाभिक-पर्दे के हट जाने पर भी 'विस्तारक कांच' के जरिये उस फोटोग्राफर को दृश्य-वस्तु की आकार में बढ़ी हुई छाया दीखती रहेगी। यही नहीं, पहिले की अपेक्षा अब वह छाया अधिक साफ और अधिक प्रकाशित दिखलाई देगी।

क्योंकि यह छाया उस दृश्य-वस्तु को ठीक उलटे रूप में पेश करती है, इसलिए उसे एक सीधा और वास्तविक रूप देने के लिए इन दूरबीनों में कुछ अन्य साधन लगा दिए जाते हैं। नाविक जिन दूरबीनों को काम में लेते हैं वह आकार में लम्बी और इस प्रकार बनी होती है कि उन्हें आवश्यकतानुसार खींच कर बढ़ाया भी जा सके। इस उलटी छाया-आकृति को सीधी करने के लिए नाविकों की इन दूरबीनों में दो लेन्स और भी लगे रहते हैं। स्पष्ट ही यह दूरबीनें काफी लम्बी बन जाती हैं।

मैदानों में दूर के एक दृश्य को देखने के लिए अथवा क्रिकेट या फुटबाल के खेलो को स्पष्ट देख पाने के लिए हम जिन दूरवीनों का उपयोग करते हैं, उनमें उस आकृति को सीधी करने के लिए 'प्रिज्म' (prisms) लगे रहते है। इन प्रिज्मों की चारों भुजाएँ एक समान लम्बाई की होती हैं और इनकी सतहें भी पारदर्शी और इस प्रकार बनी होती हैं कि वह किरणों को 'नाभिक' बनाने को मोड़ दें—संक्षेप में, वर्त्तक होती हैं। इन 'प्रिज्मों' के कारण ही इन छोटी दूरबीनों को प्रिज्मी द्विनेत्रक या प्रिज्मैटिक बाइनोकुलर्स (prismatic binoculars) कहते हैं। प्रिज्मों के कारण ही यह दूरबीनें छोटी बन पड़ती हैं।

ऐसी ही एक दूरबीन और भी होती है जिसे खगोलीय दूरबीन कहते है। दृश्य वस्तु की छाया पकड़ने के लिये इसमें सिर्फ एक ही लेन्स रहता है और साथ ही रहता है एक विस्तारक-कांच जो उस छाया को बड़ी कर दिखा सके। उलटी छाया आकृति की यह दूरबीन हमारे दैनिक उपयोग के अनुकूल नहीं है। परन्तु, ज्योतिर्विद् को इस बात से तो कोई मतलब नहीं कि छाया उलटी पड़ती है या सीधी, क्योंकि सुदूर अनन्त में न कुछ ऊपर है और न कुछ नीचे। ऊपर-नीचे के यह भेद महज़ हमारे अपने व्यवहार के लिए ही हैं। ज्योतिर्विद् को तो केवल यही ध्यान रखना होता है कि उस छाया को सीधा कर देखने के प्रयास में उसका प्रकाश कहीं छीज न जाय।

प्रसङ्गवश हम यह लिख देना चाहते हैं कि गेलीलियो ने

जिस दूरबीन को बनाकर काम में ली थी वह एक और ही भाँति की थी। उसका केवल एक ही गुण था और वह यह कि छाया उसमें ठीक सीधी पड़ती थी। जिन छोटी-छोटी साधारण दूरबीनों को नाटक देखते समय हम काम में लेते हैं उनमें ठीक ऐसी ही दो दूरबीनें एक दूसरी से सटी रहती हैं। इसीलिए कभी-कभी इन्हें गेलीलियो की दूरबीनें कहा जाता है। इन दूरबीनों को बनाने वाले कुछ स्वार्थी निर्माता इन दूरबीनों की दोनों तरफ बड़े-बड़े 'उभार' Projections (जो बाहर की ओर उभरे रहें) लगा देते हैं जिससे कुछ भोलेभाले ग्राहक प्रिज्म दूरबीनों के भ्रम में उनको खरीद लेते हैं।

इन दोनों दूरबीनों की एक खास पहिचान यह है कि बड़े उभारों की इन दूरबीनों में 'आब्जेक्ट-ग्लास' और 'आई-पीस' दोनों एक ही ओर पास-पास लगे रहते हैं, जबकि प्रिज्म दूरबीनों में वह 'ओब्जेक्ट-ग्लास' हमेशा ही 'आई-पीस' से दूर अलग रहता है।

अब हम फोटो लेने के उस बाजारू पेशेवर कैमेरे (स्टैण्ड कैमेरे) की ओर फिर लौट आते हैं। दृश्य-वस्तु की छाया जब उस कैमेरा के 'ग्राउन्ड-ग्लास' पर्दे पर एक 'नाभिक' में उतर आती है तब फोटोग्राफर उसे देखने लगता है, पर्दे की दानेदार सतह भी उसको ठीक वैसी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है—क्योंकि तब वह दोनों एक ही स्तर पर होती हैं। फोटोग्राफर यदि अपनी आँखों को इधर-उधर हिलावे तो भी उसे वह दोनों

वस्तुएँ (छाया और पर्दे की दानेदार सतह) एक दूसरी की अपेक्षा हटती-सी नजर नहीं आतीं। ग्राउन्ड-ग्लास पर्दे की जगह अब अगर एक बहुत ही महीन तार उस कैमेरा की पीठ के आरपार ठीक उसी जगह रख दिया जाय तो दर्शक यही देखेगा मानो वह तार उस छाया पर ऊपर से लदा हुआ हो। यदि वह तार उस छाया के किसी एक खास बिन्दु को छूता हुआ-सा हो तो दर्शक चाहे अपनी आँखों को इधर-उधर थोड़ा हटावे, फिर भी हर हालत में यह तार छाया के उसी विन्दु को छुए हुए-सा उसको दीख पड़ेगा।

आज तो यह सारी बातें हमें बिल्कुल आसान मालूम होती हैं, परन्तु दूरबीन के प्रथम आविष्कार के बाद करीब ४० वर्षों तक इस महीन तार को लगाने का कोई महत्व किसी को भी ज्ञात न था। इसका महत्व यही है कि जिस दूरबीन में एक बहुत ही महीन तार लगा होता है अथवा दो ऐसे महीन तार लगे होते हैं जो उस छाया आकृति की सतह पर एक दूसरे को काटते हैं, वह दूरबीन बहुत ही शुद्ध फल देती है। जबतक महीन तार की इन दूरबीनों का महत्व नहीं जाना गया, ज्योतिर्विद प्रायः आकाश में तारों अथवा अन्य पिण्डों की स्थिति जानने के लिये उनकी ओर इङ्गित करने के कुछ अन्य साधनों को काम में लेते थे—ऐसे कुछ साधनों को जैसे कि निशानों को ठीक साधने के लिये अक्सर बन्दूकों में लगे रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो बन्दूक चला चुका है, जानता है कि निशाने को साधने के

लिये उसे चार अलग-अलग चीजों को बिल्कुल एक सीध में करना पड़ता है। प्रथम तो वह वस्तु जिसे निशाना बनाना हो, दूसरे बन्दूक के मुँह पर लगा हुआ उपनेत्र Foresight, तीसरे पीछे की ओर लगा हुआ उपनेत्र और चौथे निशाना साधनेवाले की आँखे। गोली निशाने पर ठीक लगे, इसके लिये यह चारों एक ही सीध में होने चाहिएँ। पहिली तीनों चीजें आँख से भिन्न-भिन्न दूरी पर होती हैं। इन सबको एक साथ एक ही सीध में रखना बड़ा मुश्किल है। निशाना की जानेवाली वस्तु तो बड़ी नहीं की जा सकती। यह सब देखते हुए आश्चर्य होता है कि एक साधारण बन्दूक से कैसे कोई निशानेबाज़ अपने निशाने को ठीक मार सकता है और यह भी कि ऐसे ही साधनों को अपनी दूरबीन में काम लेते हुए टायको ब्राही और उसके समकालीन अन्य ज्योतिर्विद कैसे कोई उपयोगी वेध कर सके।

अब हम एक ऐसी दूरबीन का उल्लेख करते हैं जिसके नाभिस्थल पर एक दूसरे को पार करनेवाले कुछ तार लगे हुए हैं। इस दूरबीन को काम में लेते समय हमें सिर्फ यही करना होता है कि इस दूरबीन को हम इस प्रकार घुमावें कि एक दूसरे को पार करनेवाले उन दोनों ही तारों का वह बिन्दु, जहाँ दोनों एक दूसरे से मिलते हैं, दृश्य-वस्तु की छाया-आकृति के नाभिक-बिन्दू से पूरा मेल खा जाय। अब जब उक्त दोनों ही बिन्दु ठीक नाभिक पर हैं तो हमारी आँखें यदि 'आई पीस' पर ठीक

जमी हुई न भी हो तो कोई हर्ज न होगा। जिन व्यक्तियों की आँखें कमजोर हैं उनको भी इस दूरबीन में कोई अड़चन न होगी। उन्हें सिर्फ यही करना होगा कि आई-पीस को थोड़ा बहुत घुमा-फिराकर उस छाया को और उन महीन तारों को ठीक नाभिक में बैठा दें।

महीन तारों की इस दूरबीन का आविष्कार विलियम गैस्कोयने नामक एक ब्रिटिश युवक ने किया था। सन् १६४४ ई० में मार्स्टन मूर के युद्ध में वह छोटी उम्र में ही मारा गया। इस आविष्कार का अधिक प्रचार न हो सका। गैस्कोयने की मृत्यु के २२ वर्ष बाद औझो Auzout नामक एक फ्रान्सीसी ने इसे फिरसे अपनाया। इस दूरबीन के आविष्कार और प्रचार ने ज्योतिपिण्डों की स्थितियों को बिल्कुल शुद्ध जानने के इस आधुनिक युग की शुरुआत की।

गैस्कोयने ने और उसके बाद औझो ने यह कहा कि इस दूरबीन को यदि बढ़ावा दिया जाय तो इसके द्वारा छोटी कोणीय दूरियों का सही माप भी हम ले सकेंगे। इस दूरबीन में हमें एक दूसरे के समानान्तर दो महीन तार लगाने होते हैं। इनमें एक तार तो ऐसा होगा कि उसे आवश्यकतानुसार सहज ही उस दूसरे तार के पास या उससे दूर घुमाया-फिराया जा सके। घुमाने-फिराने का यह काम 'स्क्रू' के जरिये किया जाता है। इस दूरबीन को आकाश की तरफ इस प्रकार रखना होगा कि इसका स्थिर या अचल तार तो वेध किए जानेवाले ज्योति-पिण्ड की बिल्कुल सीध में हो। उसके बाद 'स्क्रू' को घुमाकर

उस दूसरे चल तार को आकाश के ही एक दूसरे तारे की बिल्कुल सीध में कर देना होगा। 'स्क्रू' के घुमावों की संख्या एवं उस तार के घुमाव के अंशों द्वारा दोनों छाया-आकृतियों की आपसी दूरी को हम पकड़सकेंगे। तब हम बड़ी आसानी से उक्त दूरीको आकाशकी कोणीय दूरी में बदल कर जान सकेंगे।

उन दोनों महीन तारों पर एक लम्ब Perpendicular बनाता हुआ तीसरा एक तार और भी आवश्यक होगा। इन तीनों तारों को दूरबीन के खोल में चढ़ाकर उसे इस तरह घुमाना होगा कि वह तीसरा तार, जो 'स्थिति-सूचक तार' कहा जाता है, दोनों ही दृश्य पिण्डों की सीध में आ जाय। दूरबीन की खोल में एक अर्ध-वृत्त भी लगा दिया जाता है जिसमें कि दोनों पिण्डों को संयुक्त करनेवाली रेखा की कोणीय-स्थिति जानी जा सके। इन महीन तारों से युक्त एक दूरबीन के मुँह की सतह कैसी दिख पड़ेगी, यह बताने के लिये नीचे रेखा-चित्र १६ दिया जाता है। इस चित्र में दूरबीन के दोनों महीन तार आकाश के दो तारों पर लगे हुए दिखलाये गये हैं।

एक बिकला से भी कम कोणीय दूरियों को नापने में इसकी जोड़ का कोई दूसरा यन्त्र अबतक तो नहीं बना है। जिन महीन तारों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं वह वास्तव में अत्यन्त महीन मकड़ी के
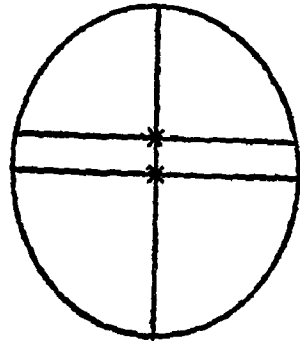
रेखा-चित्र १९

जाले के तानों की तरह होते हैं। एक साधारण व्यक्ति को इस बात पर विश्वास तो न होगा परन्तु है यह बिल्कुल सत्य।

बेसल और हेण्डरसन ने एक दूसरे ही किस्म के यन्त्र को अपनाया था। उसे हीलियोमीटर कहते थे। सूर्य के कोणीय व्यास को नापने के लिए ही इस यन्त्र का आविष्कार किया गया था। ग्रीक भाषा में सूर्य को हीलियस helias कहते हैं एवं नापको मेट्रन metron और इन दोनों शब्दों के मेल से उक्त शब्द की उत्पत्ति हुई। आजकल इसका चलन नहीं रहने से यह यन्त्र उठसा गया है।

एक कैमरा को किस प्रकार एक दूरबीन में बदला जा सकता है, यह बात तो हम ऊपर बतला आये हैं। इस दूरबीन को फिर एक कैमेरा भी बनाया जा सकता है। इस दूरबीन के आई-पीस, माइक्रोमीटर और कुछ अन्य हिस्सों को हटाकर उनकी जगह एक 'प्लेट-होल्डर' लगा देने से ही यह फिर एक कैमेरा बन जावेगी। ठीक यही वह यन्त्र है जिसे आजकल तारांकी निजी गतियां, उनके लम्बन, उपग्रहों एवं धूमकेतुओं की स्थितियां इत्यादि जानने एवं दूसरे और कामों में भी व्यवहृत किया जाता है। ज्योतिर्विज्ञान में आजकल प्रत्येक काम आंखों की अपेक्षा फोटोग्राफी की मदद से ही किया जाता है। हां, कुछ काम तो ऐसे हैं जो बिना इसकी मदद के ही किए जाते हैं जैसे कि बिल्कुल निकटके द्विक् तारोंके नाप, ग्रहोंकी सतहोंपर देखे गये निशानों की ज़ांच-पड़ताल और उल्काओं के अध्ययन!

एक खगोलीय कैमेरा अथवा एक फोटोग्राफिक दूरबीन ठीक वैसा ही होता है जैसा कि साधारण व्यवहार में आने वाला कोई एक कैमेरा, फर्क होता है केवल उनके आकार-परिमाण में ही। साधारण व्यवहार के एक कैमेरा में करीब १ इंच व्यास और ४॥ इञ्च नाभि लम्बाई का एक लेन्स होता है और ३$\frac{१}{४}$×२$\frac{१}{४}$ इञ्चों का एक प्लेट अथवा फिल्म भी लगा रहता है। ग्रीनविच की शाही वेधशाला में तारों के लम्बनों को जानने के लिए जो दूरबीन काममें ली जाती है उसके लेन्स का व्यास २६ इञ्च और नाभि-लम्बाई २२ फीट ५ इञ्च है, जब कि उसमें प्लेट सिर्फ ६ वर्गइञ्च का ही लगा हुआ है। आकाश में जो दो तारे एक दूसरे से १ विकला दूर होते हैं, दूरबीन के प्लेट पर उनकी प्रति-बिम्बित आकृतियां एक दूसरी से ०.००७३ इञ्चों के अन्तर पर बनती हैं। यह संख्या एक इञ्च का हजारवां भाग है।

इस प्लेट पर प्रतिबिम्ब लेने एवं बाद में उसका नाप लेने में बहुत अधिक सावधानी रखनी होती है, ताकि कोई गलती न हो। जिस तारे का लम्बन जानना होता है वह यदि आस-पास के तारों की अपेक्षा अधिक चमकदार हो, और ऐसा प्रायः ही होता है, तो उस अवस्था में प्रकाश-प्रतिरोधक occulting shutter (जो किन्हीं दो वस्तुओं के बीच आकर उनमें से एक को अपने पीछे छिपाले) को काम में लेते हैं, जिससे उस अधिक चमकदार तारे के प्रकाश को समय-समय पर ढंक दिया जाय ताकि दूरबीन के प्लेट पर पड़ने वाली उसकी छाया उन पड़ौसी

तारों की तुलना में अधिक गहरी और लम्बी न हो जाय। प्लेट पर पड़े हुए तारों के प्रतिबिम्बों के बीच दूरी नापने के लिए जिस यन्त्र का उपयोग किया जाता है वह अत्यन्त पेचीदा है इसे बनाने में बहुत सावधानी रखनी होती है।

ग्रीनविच की वेधशाला में लगी हुई यह सबसे बड़ी वर्तक दूरबीन है। परन्तु अनन्त शून्य में झाँकने की इसकी शक्ति की भी एक सीमा है। उस सीमा के आगे भी ज्योतिपिण्ड तो थे ही; क्योंकि सुदूर से आते हुए उनके प्रकाश ही उनके अस्तित्व का भान करा रहे थे। उनको देखने की लालसा ज्योतिर्विदो में प्रबल हो उठी। उधर इस दूरबीन में लगे हुए लेन्ससे भी एक बड़े 'वर्तक' लेन्स को बनाने में अनेक मुश्किलें आ पड़ीं।

वैज्ञानिकों ने तब और रास्ते ढूंढ़े, उनका ध्यान दर्पण की ओर गया। सोचा गया कि इस काम को आगे बढ़ाने के लिए दर्पण को क्यों न आज़माया जाय। न्यूटन और कासेग्रां जैसे पूर्ववर्ती वैज्ञानिक दिशा-संकेत तो कर ही चुके थे। प्रयोग किए गये और सफल भी हुए। ज्योतिर्विज्ञान ने तब दर्पण की 'परावर्तक दूरबीनों' के आधुनिक युग में प्रवेश किया।

परावर्तक दूरबीनें

एक दर्पण से हमारा वास्ता तो रोज पड़ता है, परन्तु हम में से बहुत कम व्यक्ति यह जानते हैं कि एक 'नतोदर दर्पण' लेन्सों की तरह, प्रतिबिम्ब भी बनाता है। यह जान लेना

जरूरी है कि जिस दर्पण का पेट भीतर की ओर बैठा हुआ हो उसे एक 'नतोदर दर्पण' a concave mirror कहते हैं; और जिस दर्पण का पेट बाहर की ओर बढा हुआ या निकला हुआ हो उसे एक 'उन्नतोदर दर्पण' a convex mirror कहते हैं।

दर्पण का आकार यदि एक परवलय a parabola (ज्यामिति की एक शक्ल जिसकी सतह बहुत सूक्ष्म परन्तु बढती हुई वक्रता लिए हुए हो) के आकार का हो, और कोणाकार न हो, तो वह अपनी सतह पर पड़ने वाली किरणोंको वापिस फेंक कर अपनी उस सतह पर ही एक बिन्दुकी ओर मोड़ देता है जहां आकर वह किरणें एक 'नाभिक' focus बनाती हैं। इस क्रिया को परावर्तन reflection कहते हैं। इस क्रिया को रेखाचित्र १८ में स्पष्ट दिखलाया गया है।

जो वस्तु दर्पण के सामने होगी उसके मूर्त रूप का प्रत्येक बिन्दु अपनी-अपनी प्रकाश-किरणें उस दर्पण की सतह पर डालेगा। परावर्तन की क्रिया द्वारा वह दर्पण उस प्रत्येक बिन्दु का एक एक शुद्ध प्रतिबिम्ब-बिन्दु बना देगा। यह सब प्रतिबिम्ब-बिन्दु. एक संयुक्त रूप में, उस बस्तु का शुद्ध प्रतिबिम्ब बन जायेंगे। यह प्रतिबिम्ब उस दर्पणके मुख या सतह पर ही होगा।

इस प्रतिबिम्बको देखने के लिए जब कभी हम उस दर्पण के सामने खड़े होकर उसमें झांकते है तो हमारा सिर उस दृश्य-वस्तु की दर्पण पर पड़ती हुई रोशनीको ढक देता है। लेन्स के व्यव-

थे; क्योंकि लैटिन भाषा में दर्पण को स्पेकुलम (speculum) कहते हैं। इस मिश्रण के बने हुए दर्पण प्रकाश को पूरा परावर्तित नहीं कर पाते थे। पिछली सदी के मध्य भाग में एक ऐसा तरीका जान लिया गया, जिससे काँच पर चाँदी का एक सूक्ष्म खोल चढ़ाया जा सकता था। उस समय के बाद स्पेकुलम धातु का उपयोग बन्द कर दिया गया। उसकी जगह काँच को ही काम में लेने लगे। अभी हाल के कुछ वर्षों में एक सुधार और भी किया गया है। चाँदी की जगह अब शुद्ध एलुमीनियम का खोल चढ़ाया जाने लगा है। इसके व्यवहार में दो बडे लाभ हैं। प्रथम तो यह चाँदी की तरह काँच को कुरूप नहीं करता; दूसरे यह प्रकाश की कासनी और परा-कासनी किरणों (the violet and ultra-violte ray) के काफी बड़े भाग को भी परावर्तित कर देता है। फोटो चित्रों की दृष्टि से नीची फड़कनों की प्रकाश-किरणों की अपेक्षा यह दोनों किरणे अधिक चञ्चल हैं।

सौ इञ्च व्यास की परावतक दूरबीन सन् १९१७ ई० में ही बनकर तैयार हो चुकी थी। जी. डब्ल्यू. रिची ने इसका मुख्य दर्पण बनाया था। इसकी सतह को पूरी दृष्टि-वर्धक और इतनी शुद्ध कि उसमें १/२,०००,००० इञ्च की भी गलती न हो, बनाने में रिची को पूरे ६ वर्ष लगे थे। इसके दर्पण का वजन ५ टन है। इसको माउन्ट विलसन की वेधशाला में बैठाया गया। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य में यह वेधशाला

है। इसको बैठाने में अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुई थीं। किसी प्रकार इसे बैठाया गया और वह भी इस तरह कि आकाश के किसी भी भाग को इसकी पकड़ के भीतर लाने के लिए इसको आसानी से घुमाया जा सके और जिस पिण्ड का वेध लिया जा रहा हो उसके पीछे-पीछे शुद्ध रूपमें इसको चलाया जा सके।

भरसक हाथ-पांव मारने पर भी यह दूरबीन विश्व के तल को न छू सकी। जहाँ तक यह पहुँच पाई, विश्व के कहीं जाकर समाप्त हो जाने के कोई चिह्न इसे दिखाई न पड़े। आगे जाने की तो और भी बहुत गुञ्जाइश थी, परन्तु यह काम इस दूरबीन के बश का न था। परन्तु मनुष्य तो हार मानकर बैठ रहने वाला जीव नहीं। उसने कई गुने अधिक शक्तिशाली एक दूसरे गोताखोर को तैयार कर इस काम में जोता।

वह थी २०० इञ्च व्यास के दर्पण की दूरबीन जो अमेरिका के उसी राज्य में माउन्ट पैलोमरकी वेधशाला में खड़ी की गई। द्वितीय महायुद्धके शुरू होने के पहिले ही इस वेधशाला की विशाल इमारत, चारों ओर घूमते हुए उसके शिखर और उस भीमकाय दूरबीन के २०० इञ्च व्यास के दर्पण के आधार बनकर तैयार हो चुके थे। पैसेडेना शहर में स्वयं इस दर्पण को बनाने का काम भी चालू हो चुका था। अमेरिका भी जब इस महायुद्ध में शामिल हो गया तब यह सारा ही काम एकबार बन्द कर देना पड़ा। सन् १९४५ ई० के खत्म होते-होते यह काम फिर उठाया गया। सन् १९४७ ई० के अन्त तक दर्पण

बन कर तैयार हो गया और सन् १९४९ के प्रारम्भ से इस दूर-बीन ने अपने को सौंपा हुआ काम सम्हाल लिया।

माउन्ट विल्सन की अपनी बहिन से आकार परिमाण में बड़ी होने के साथ-साथ यह दूरबीन अनेक बातों में उससे ज्यादा सुधरी हुई और उन्नत है। इसके विशालकाय दर्पण की सतह, जिसका व्यास १७ फीट से भी ऊपर है, पूरी रौनकदार और साथ ही परवलयाकार वक्रता लिए हुए भी है। यह वक्रता इतनी शुद्ध है कि इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म कोई भी भाग बनावट में १/२,०००,००० इञ्च तक भी गलत नहीं है।

इसको इस प्रकार बैठाया गया है कि इसकी पकड़ में समूचा आकाश, जितना कि माउन्ट पैलोमर से देखा जा सके, आ जाता है। माउन्ट विलसन की दूरबीन को आरूढ़ करते समय उसके आधार के टिकाऊ और कड़े होने पर ही विशेष ध्यान रक्खा गया था। इस कारण उस दूरबीन का आसन इतना ज्यादा कड़ा हो गया है कि उत्तरी ध्रुव के ऊपर करीब ३४ अंशों तक का आकाश-भाग उस दूरवीन से ओझल ही बना रहता है। इस बड़ी दूरबीन को आरूढ़ करते समय इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया था, और इस कारण इसका आरोह इस चतु-रता के साथ किया गया है कि इस दूरबीन के सामने यह दिक़्क़त नहीं आती।

जिस द्रव्य से इस दूरबीन के मुख्य और गौण दोनों दर्पण बनाये गये हैं उसमें भी महत्वपूर्ण सुधार किया गया है। सौ

इञ्च व्यास की दूरबीन का दर्पण तो साधारण कांच का एक ही पूरा टुकड़ा है—उस कांच का जिससे हमारे मकानों की खिड़कियाँ बनाई जाती हैं। साधारण कांच पर वायुमण्डल के तापमान का बहुत असर होता है। तापमान के बढ़ने और गिरने के कारण इसमें क्रमशः काफी फुलाव और संकोच हो जाता है। सभी तरह के कांच ताप का प्रसार बहुत धीरे-धीरे करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दिन की धूप में तप जाने पर दूरबीन का दर्पण रात होने पर जब आकाश की ओर अपना मुख ऊँचा किए रहता है तो उसकी ऊपरी या बाहरी सतह तो शीघ्र ठण्ठी हो जाती है, परन्तु सतह के नीचे वह गर्म ही बना रहता है। ठण्डे होने की यह असमानता दूरबीन की परावर्तक सतह के रूप और आकार में फर्क डाल देती है और इस पर बने प्रतिबिम्ब की रूपरेखा की शुद्धता को कम कर देती है। सच तो यह है कि कुछ घण्टों तक ठण्डा हो चुकने पर ही यह दर्पण कुछ काम कर सकता है। मौसिम यदि असाधारण हो अथवा शरद् ऋतु का महीना हो जब दिन-रात के २४ घन्टों में तापमान में बहुत कम अन्तर आते है, तब यह दूरबीन अपना सबसे अच्छा काम कर दिखाती है।

इस बड़ी दूरबीनं के दर्पण एक दूसरे ही किस्म के कांच के बने हुए हैं। इस कांच की ताप-प्रसार की राशि साधारण कांच की ऐसी राशि की सिर्फ चौथाई ही है। एक बात और भी है; इस दूरबीन का मुख्य दर्पण भी कांच का एक ही पूरा टुकड़ा

नहीं है। इसको ढालने में भी काफी सतर्कता रक्खी गई है। मधुमक्खियों के छत्तों में जिस तरह के छोटे-छोटे खड्डे-से होते हैं, ठीक वैसे ही खड्डे इस दर्पण की पीठ पर भी ढाल दिए गये हैं। इस प्रकार, इसके काँच की मोटाई कहीं भी कुछ थोड़ी इञ्चों से अधिक न हो पाई है। यह केवल इसीलिए किया गया है ताकि यह दर्पण बहुत शीघ्र सर्वत्र एक बराबर तापमान पर ठण्डा हो जाय।

माउन्ट विलसन दूरबीन की तरह यदि इसका दर्पण भी दो या तीन फीट मोटे काँच का केवल एक ही टुकड़ा होता, तो यह भी इतना शीघ्र एक समान तापमान पर ठण्डा न हो पाता। इस ढलाई के कारण ही यह दर्पण, अपने आकार-परिमाण को देखते हुए, हलका भी खूब बन पड़ा है। इतना होने पर भी इसका वजन १५॥ टन तो होही गया है। यह भी यदि काँच का एक पूरा टुकड़ा ही होता तो इसका वजन भी बढ़कर ४० टन हो जाता।

यह दूरबीन इतने बड़े मान पर बनाई गई है कि इसके ढाँचे में, जो इसके गौण दर्पण को और 'मुख्य नाभिक' Primary focus पर लगी फोटो प्लेटो को लादे रहता है, वेध करनेवाला ज्योतिर्विद् भी मजे में घर बनाकर बैठा रह सकता है और वहाँ बैठा हुआ ही घूमने-फिरने का आनन्द ले सकता है। दूरबीन के यन्त्र का चालक एक टेलीफोन द्वारा उस ज्योतिर्विद् के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। टेलीफोन के जरिये वह

ज्योतिर्विद् उस चालक को हिदायतें देता रहता है; और अनन्त के जिस पिण्ड का उसे फोटो-चित्र लेना हो, चालक को कहकर वह उस पिण्ड पर दूरबीन को लगवा सकता है।

दूरबीन का फोटो-प्लेट भी एक वाहक Carrier में लगा रहता है। कुछ पुर्जों की मदद से इस वाहक को चारों ओर सभी दिशाओं में घुमाया जा सकता है, जिससे कि वेध करनेवाला ज्योतिर्विद् अपने उस पिण्ड के प्रतिबिम्ब को ठीक 'नाभिक' focus में रख सके और दूरबीन की चाल में यदि कुछ थोड़ी गलती हो जाय तो उसे ठीक कर सके।

जिस बड़े घर में यह विशालकाय दूरबीन रहती है वह गोल बना हुआ है। उसका व्यास diameter करीब १४० फीट है। इस मकान के सिर पर एक अर्ध-गोलाकार शिखर की टोपी रहती है। इसको बिजली की मोटरों द्वारा गोल पटरियों पर चारों ही ओर घुमाया जा सकता है। शिखर में एक तरफ एक चौड़ा खुलाव है, जो उसकी चोटी और उसके भी आगे तक चला गया है। मोटर-चालित बड़े खिड़कनों से इसे बन्द किया जा सकता है।

माउन्ट पैलोमर की पहाड़ी स्वयं ५५०० फीट ऊँची है—आकाश में जिस ऊँचाई तक कुहरा और धुन्ध छाये रह सकते हैं, उससे ऊँची है। यह उस ऊँचाई पर है जहाँ आकाश प्रायः काफी स्वच्छ रहता है। हवा भी यहाँ प्रायः एक ही धीमी चाल से चलती रहती है, उसकी चाल में विशेष परिवर्तन नहीं होता।

इस कारण यहाँ एक दूसरी के सम्मुख बहती हुई वायु की लहरों की टक्करों के कारण होने वाले उनके कम्पनों के असर महसूस नहीं होते।

इस दूरबीन को अपने काम में पूर्ण समर्थ बनाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दूरबीन समय बीतने के साथ-साथ विश्व के विषय में हमारे ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ावेगी। इसको काम करते हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ है फिर भी अपने पिछले पाँच वर्षों के आकाशीय निरीक्षणों के परिणामों के रूप में इसने आज हमें यह तो बता ही दिया है कि यह विश्व, जितना आज हम उसे देख सके हैं, बाहर की ओर सभी दिशाओं में दो अरब प्रकाश वर्षों के विस्तार में फैला हुआ है।

जब कभी दूरबीनों की शक्ति में वृद्धि की गई, पुरानी समस्याओं के समाधान तो हुए और अनेक अप्रत्याशित तथ्य भी प्रकाश में आये; परन्तु उतनी ही नई समस्यायें और नये प्रश्न खड़े होते गये जिनके सन्तोषप्रद समाधानों के लिये और भी बड़ी दूरबीनें बनानी पड़ीं।

अभी से ही हम यह तो सोचने लगे हैं कि बहुत शीघ्र २०० इञ्च व्यास की इस दूरबीन से किये गये वेधों के परिणाम स्वरूप और भी ऐसे नये प्रश्न उठ खड़े होंगे जिनके उत्तर पाने के लिये, कुछ वर्ष बीतते न बीतते, हम इससे भी बड़ी एक ३०० इञ्च

व्यास की दूरबीन की माँग करने लगेंगे। सचमुच, विश्व-प्रकृति हमारे साथ खिलवाड़ कर रही है।

रेडियो दूरबीनां

जिन वर्तक और परावर्तक दूरबीनों का जिक्र हम ऊपर कर आये हैं उनको खगोल-विज्ञान में दर्शक दूरबीनें The optical telescopes कहते हैं, क्योंकि दूर की वस्तुओं को देखने में यह हमारी आँखों को सहायता देती हैं। विश्व के दृश्य रूप को तो यह दूरबीनें दिखला देती हैं, परन्तु उसका एक रूप ऐसा भी है जो अदृश्य रहता है। जो तारे या उनके गुच्छे स्वयं प्रकाशित हैं वह हैं विश्व के दृश्य रूप, जब कि कुछ तारे या उनके गुच्छे ऐसे भी हैं जो प्रकाशमान नहीं हैं और इस कारण वह अदृश्य रहते हैं। उनको "काले तारे" The Black Stars कहते हैं। आगे चलकर दशवें परिच्छेद में हम इनकी चर्चा करेंगे।

वर्तक और परावर्तक दूरबीनों का सम्बन्ध तो प्रकाश के ही साथ है—वस्तुओं या पिण्डों के प्रकाश को पकड़ कर, वर्तन और परावर्तन की क्रियाओं द्वारा प्रतिबिम्ब बनाकर ही वह उनकी झलक दे सकती हैं। काले तारों पर उनका कोई वश नहीं चलता।

यह काम रेडियो-दूरबीनों Radio telescopes करती हैं। रेडियो-तरङ्गों को पकड़ कर यह हमें उनको भेजनेवाले अदृश्य पिण्डों के अस्तित्व से परिचित करा देती हैं। इङ्गलैंड

देश के चेशायर जिले के एक गाँव "वार्नशो-कम-गूस्ट्री" Barn-show-cum-goostrey में, मैञ्चेस्टर विश्वविद्यालय की जोड्रेलबैंक वेधशाला Jodrell Bank observatory है, इसमें आज की दुनियाँ की सबसे बड़ी रेडियो-दूरबीन बैठाई जा रही है। यह विशालकाय दूरबीन अभी बनाई जा रही है। यह ३०० फीट ऊँची होगी और तुलना में माउन्ट पैलोमर की सबसे बड़ी दर्शक दूरबीन के टक्कर की होगी। माउन्ट पैलोमर की दूरबीन का दर्पण जहाँ २०० इञ्च व्यास का है, वहाँ इस दूरबीन का प्रतिबिम्बक The reflector २५० फीट व्यास का होगा। १७० फीट ऊँचे फौलादी खम्भों पर लटकती हुई यह दूरबीन अनन्त आकाश के किसी भी ज्या-खण्ड arc के किसी भी अंश की ओर आसानी के साथ घुमाई जा सकेगी। ३५० फीट व्यास की एक भ्रमण-कक्षा पर यह दैत्य (दूरबीन) चारो ओर घूम सकेगा। इस भ्रमण-कक्षा को बनाने में २५०० टन इस्पात और कङ्कर लगे हैं।

रेलवे के डिब्बों की तरह के १२ डिब्बों पर यह दैत्य बैठाया जायगा। प्रत्येक डिब्बे के सात-सात पहिये होंगे। इन सबको खींचनेवाले आगे के दो डिब्बे रेलवे-एक्सप्रेसों के इञ्जिनों के बराबर बड़े होंगे। दुनियाँ में अपने ढङ्ग की यह सर्वप्रथम दूर-बीन होगी। अपने विद्युत्-चालित गणक-यन्त्रो Electronic Computers की मदद से गणित की जटिल प्रक्रियाओं को दर्ज करती हुई यह आकाश को शान के साथ घूरा करेगी और

अनन्त के अलख, अगोचर पिंडों के अस्तित्व का ज्ञान दे सकेगी।

रेडियो दूरबीन की अपनी राम कहानी भी काफी दिलचस्प है। इसकी जन्मतिथि पकड़ पाने के लिए हमें दिसम्बर, १९४३ ई० में, द्वितीय महायुद्ध के घमासान में, जर्मनी के एक शहर लीपज़िग Leipezig पर ब्रिटिश हवाई जहाजों द्वारा की गई भयानक बमबारी को याद करना होगा। करीब १०,००० फीट गहरे कुहासे की चद्दर ओढ़े यह शहर सुरक्षित ही मालूम होता था, परन्तु ब्रिटेन का शाही हवाई बेड़ा इसके ऊपर उड़ा और कुहरे की इस मोटी चद्दर को भेदकर इस शहर के एक प्रमुख भाग को तबाह कर आया।

यह करिश्मा उन यन्त्रों का ही था जो इस बेड़े के एक जहाज में लगाए हुए थे। इन्होंने अदृश्य रेडियो-किरणों द्वारा इस शहर के प्रत्येक भाग को जगमगा दिया। बेड़े के रडार-पर्दों पर उन भागों को यह किरणे प्रतिफलित कर रही थीं। बम-वर्षकों को यह इस प्रकार स्पष्ट दीख रहे थे, मानो उनके और इस शहर के बीच कुहरे की घनी चद्दर थी ही नहीं। इस करिश्मे को कर दिखानेवाले वैज्ञानिकों में एक था बर्नार्ड लोवेल।

युद्ध समाप्त हो जाने पर लोवेल अपने रडार-अनुभवों को लेकर मैञ्चेस्टर में प्रोफेसर पी० एम० एस० ब्लैकेटसे आ मिला। इन दोनों ने मिलकर विश्व-किरणों The Cosmic rays की बौछारों को पकड़ने की ठानी।

चेशायर जिले में मैन्चेस्टर विश्वविद्यालय का "जोड्रेल बैंक वनस्पति विभाग" था। इस विभाग ने इन दोनों वैज्ञानिकों को शोध के काम के लिए अपना एक खेत दे दिया। अपने ट्रेलर, रडार के ग्राहक-दण्ड और अन्य यन्त्र लेकर यह दोनों इस खेत मे आ बसे।

धूमकेतुओं ने ही पहिले-पहल इनकी बाँहें पकड़ीं। उन्होंने अपने इङ्गित भेजने शुरू किए। इनसे कुछ पहिले ही, सन् १९४५ ई० में इङ्गलैंड के हे Hey नामक एक वैज्ञानिक ने भी कुछ पुराने यन्त्रों को ठीकठाक कर, अनन्त के रहस्य-भरे प्रदेश से आते हुए इङ्गितों पर काम करना शुरू कर दिया था। सन् १९४८ ई० तक कैम्ब्रिज में भी राइल Ryle और एक आस्ट्रेलियन वैज्ञानिक बोल्टन Bolton ने, एक ही समय, कुछ ऐसे रेडियो-तारे खोज निकाले, जो तबतक खगोल-विज्ञान की तारा-सूची में कहीं भी दर्ज न थे। जो तारे रेडियो-किरणों का प्रसार करते हैं, उन्हें रेडियो-तारे कहा जाता है।

लोवेल और उसके साथियों ने जोड्रेल बैंक में २२० फीट व्यास का एक भारी-भरकम ग्राहक-दण्ड बनाना शुरू किया। लोहे के तारों से गुँथी हुई एक टोकरी की तरह इसे उन्होंने गूँथा। परन्तु इसके व्यवहार में एक मुश्किल थी। एक ही स्थान पर मजबूती से जमाकर खड़ा किया गया यह ग्राहक-दण्ड अनन्त के चारो ओर के भागों की तरफ इच्छानुसार घुमाया नहीं जा सकता था। इस मुश्किल को दूर करने के लिए जो अगला

कदम उठाया गया वही है यह रेडियो-दूरबीन। इसे चाहे जिधर आसानी से घुमा-फिरा सकते हैं।

देखना है कि यह दूरबीन अनन्त के क्या-क्या तोहफे हमें पेश करती है।

पाँचवाँ परिच्छेद

तारों के देश में

अपने पड़ौसी और कुटुम्बी सूर्य और उसके ग्रहों का परिचय तो हम पा चुके; उनकी दूरियाँ भी हमने नापी और आँकी; और एक-दूसरे की अपेक्षा उनकी स्थितियाँ, उनके आकार और पद मर्यादा को भी जाना। परन्तु, अनन्त आकाश में हमारे इस कुटुम्ब के दायरे के बाहर असंख्य प्रकाश-बिन्दु टिमटिमा रहे हैं। कृष्णपक्ष की प्रत्येक रात में चाँदी के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह आकाश के काले लबादे पर टँके हुए इन बिन्दुओं को हमेशा ही हम देखते आये हैं। हमारी नज़रें उन तक टकरा-टकरा कर लौट आती हैं और हमारे कौतूहल को

मानो कोड़े मार कर उकसाती रहती हैं यह जानने को कि कौन हैं यह, क्या हैं यह, और कितने दूर है हमसे यह ? हमने अपनी ओर से इन सबको एक नाम भी दे डाला है—इन्हें तारे कहकर पुकारते आये हैं।

किसी दूरबीन की सहायता के बिना भी, नंगी आँखों से देखने पर खुले आकाश में हम लगभग ५००० तारों को देख पाते हैं। एक छोटी दूरबीन २० लाख तारों को पकड़ कर हमारी आँखों के सामने ला खड़े कर देती है ; परन्तु संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य की माउन्ट पैलोमर वेध-शाला में लगी हुई आज की सबसे बडी दूरबीन तो अरबों और खरबों तारो को हमारे रूबरू पेश कर देती है।

देखने में तो यह तारे एक दूसरे के पास-पास ही दिखाई पड़ते और इस कारण आपस में मिल-जुलकर हमें अनेक तरह की शक्लें दिखलाते हैं ; फिर भी इनकी आपसी दूरियाँ इतनी बड़ी हैं कि उनका अन्दाज़ लगाना ही मुश्किल है। इस बात को हम एक कल्पना द्वारा यों समझ सकते हैं। मान लीजिये कि प्रत्येक तारा एक बिल्कुल अकेला प्रकाश-पोत (जहाज) है जो दूसरे प्रत्येक पोत से करोड़ों ही मीलों दूर रहकर शून्य के एक अत्यन्त विस्तीर्ण और विशाल महासागर में तैर रहा है।

हमारी पृथ्वी के सबसे नजदीक का तारा है सूर्य जो हम से ९३०,००००० मील दूर है। प्रकाश अपनी १८६,३०० मील प्रति सेकण्ड की गति से लगातार सीधा चलता हुआ सूर्य से हम तक

पहुँचने में ८ मिनटों का समय लेता है, इस कारण ज्योति-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में हम कह सकते हैं कि सूर्य हम से सिर्फ ८ प्रकाश-मिनट दूर ही है। सूर्य के बाद हमारा अगला पड़ौसी तारा है आल्फा सेंटारी Alpha centauri जो, इस हिसाब में, हम से ४.४ प्रकाश-वर्ष दूर है। १ वर्ष में प्रकाश ६,०००,०००,०००,०००,०००,००० मील चल लेता है।

ओरायन orion नक्षत्रको बनाने वाले कुछ तारे हैं जो मिल-जुल कर उस नक्षत्र को एक खास आकार देते हैं। इस आकार के कन्धे पर एक बड़ा सा लाल तारा है जिसे बीटलजीअस Betelgeuse कहते हैं, वह हमारी पृथ्वी से ३०० प्रकाश-वर्ष दूर है। इसी आकार के घुटने पर का तारा रीगेल Regel हम से ५५० प्रकाश-वर्ष दूर है।

विश्व के इस विशाल मान-चित्र के पैमाने पर देखे जाने से तो इन तारों की आपसी दूरियाँ कुछ इञ्चों में ही हैं; यह एक दूसरे के मानो पड़ौसी हैं, परन्तु जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, यह वास्तव में एक दूसरे से करोडों मील दूर हैं। पिछले २०-३० वर्षों से ही विश्व के भय-जनक फैलाव और जटिलता का हमें कुछ अस्पष्ट-सा आभास मिल सका है। अब तो हम बखूबी जान गये हैं कि हमारा सूर्य और उसके परिवार के सभी पिण्ड आकाश-गंगा के बाहरी छोर पर ही हैं, एवं उस विशाल चक्र में वह सब मिलकर भी नगण्य से हैं, उनकी वहाँ कोई अहमियत नहीं है। अपनी बारी में यह आकाश-गंगा

भी, जिसे पहिले कभी हम समूचे विश्व के रूप में ही जानते थे, ऐसी अनेक गंगाओं के झुण्ड की एक इकाई मात्र है। यह सब झुण्ड गुरुत्वाकर्षण gravitation के कारण एक दूसरे से बँधे हुए एक ही साथ अनन्त के शून्य में चक्कर काटते रहते है।

वैसे देखने में तो इन तारों में एक दूसरे से कोई विशेष फर्क नजर नहीं आता। हमारी नंगी आंखों को तो यह तारे चाहे जो धोखा दे परन्तु हमारी दूरबीनों को तो वह नहीं छका पाते। इन दूरबीनों ने उनकी इस दिखावटी शान-शौकत की कलई खोलकर उनकी आपस की भिन्नताओ को हमें दिखला दिया है। इन तारों के रूप-रंग अनेक किस्मों के हैं जो वर्णपटदर्शक spectrum की प्रत्येक लहर-लम्बाई wave length के रङ्गो में जगमगाते रहते हैं।

क्योंकि तारे जलते हैं, इसलिए उनके रङ्ग उनके तापमानों पर निर्भर हैं। इस दृष्टि से देखने पर ऐन्टेयर्स Antares और आल्दीबरन Alde baran तारे औरों की अपेक्षा ठण्डे हैं। उनकी सतहों पर के तापमान करीब ६०,००० एफ् (फारेन हाइट तापमान के अंश) हैं। सूर्य की तरह के पीले रङ्ग के तारे हजारों अंश अधिक ऊँचे तापमानों के हैं। सबसे अधिक गर्म तारे हैं पराकासनी रङ्ग ultaviolet के जिनके तापमान १००,००० एफ्० तक जा पहुँचते हैं।

अनन्त आकाश में सर्वत्र जो एक सुव्यवस्था है उसको खोज पाने के अपने अथक प्रयत्नों के वाद नक्षत्र-वैज्ञानिकों ने

यह बात जान ली है कि इन तारों के रूप-रङ्ग और डील-डौल के साथ उनकी उम्र और आकाश-गंगाओं में उनकी स्थितियों का एक खास निश्चित सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के सूत्रों का अध्ययन करने के बाद उनके आधार पर इन विद्वानों ने अनन्त देश के निवासी सभी तारों को दो मुख्य किस्मों में बांट दिया है—तारा-समूह (१) और तारा समूह (२)।

समूह १ में वह तारे हैं जो अलग चित्र २० में दिखलाए गये हैं। यह तारे आकाश-गंगाओं, जिनके विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे, की भुजाओं में पाए जाते हैं। यह भुजाएँ सर्प की कुण्डलियों की तरह होती है। रेखाचित्र २० में दाहिनी ओर बिल्कुल नीचे लाल रङ्ग के छोटे डील-डौल के बौने तारे Red dwarfs हैं। इनके वृत्त का व्यास सूर्य के व्यास का आधा है। बाईं ओर ऊपर की तरफ चलते हुए, कुछ आठ-दस बौने तारों के बाद उनसे ऊँचे तापमान के पीले तारे हैं; जिनमें एक हमारा सूर्य भी है। उसी क्रम से ज्यों-ज्यों हम बाईं ओर ऊपर चलते हैं, तारों के व्यास सूर्य के व्यास से दुगुने तिगुने और चौगुने होते जाते है। उनका रङ्ग भी उसी क्रम में हरापन पकड़ता जाता है। और आगे बढ़ने पर तापमान की वृद्धि के साथ-साथ उन तारों का रङ्ग नीला होता जाता है। आकार में भी वह सूर्य के व्यास के पाँच गुने, और अन्त में इस चित्र के बाईं ओर सिरे पर पहुँचते-पहुँचते सात गुने व्यास तक के हो जाते है। इन तारों को नीले दैत्य

Blue giants कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तारों में उनके रङ्गों और डील-डौलों के बीच एक सीधा-सा रिश्ता है। वह रिश्ता यह है कि अपने डील-डौल में यह तारे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते है उनके रङ्ग भी त्यों-त्यों नीले और अधिक नीले होते जाते हैं। इसी तरह ज्यों-ज्यों इनके डील-डौल छोटे होते है, त्यों-त्यों उनके रङ्ग भी लाल और अधिक लाल होते जाते हैं।

रेखाचित्र २१ में जिन तारो को दिखलाया गया है व :-समूह २ के तारे हैं। अधिकतर यह गोलाकार तारागुच्छकों Globular clusters में ही पाये जाते हैं। यह तारे अपने रङ्गों और डील-डौलों में जो सम्बन्ध दिखलाते हैं, वह कुछ अधिक जटिल है। आरम्भ में तो यह सम्बन्ध-सूत्र ठीक उस ढंग पर ही चलता है जैसा कि वह रेखाचित्र २० के तारों में पाया जाता है—दोनों ही चित्रों में दाहिनी ओर छोटे लाल तारे हैं। परन्तु शीघ्र ही चित्र २१ के तारों का ढङ्ग सहसा बदल जाता है ; विशालकाय परन्तु अपेक्षाकृत ठण्डे और लाल रङ्ग के दैत्य-तारो के रूप में वह उभर उठते हैं। आगे चलकर इन तारों का क्रम एकबार फिर छोटे परन्तु अधिक गर्म घटा-बढ़ी के तारों के क्षेत्र में जा पहुँचता है। इसके बाद ही आते हैं नूतन तारे (इनके विषय में हम आगे कहेंगे)। अन्त में तारों का यह क्रम सफेद बौने तारों के क्षेत्र में जाकर खत्म हो जाता है। तारों के रूपों की यह भिन्नता उनके विकाश-क्रम का ही परिणाम है।

तारों की दो मुख्य किस्मों का हम ऊपर ज़िक्र कर आये हैं। हम यह लिख आये हैं कि खगोल-वैज्ञानिकों ने अनन्त ब्रह्माण्ड के सभी तारों का इन दोनों किस्मों में विभाग कर दिया है। इस विभाग का आधार है इन तारों की अपनी-अपनी स्थितियाँ और अपने-अपने रङ्ग-रूप। समूह १ में सबसे बड़े और सबसे अधिक चमक के तारे हैं नीले दैत्य Blue giants जो अपने चारों ओर के आकाश को नीली आभा से चमकाए रखते हैं। समूह २ के सबसे बड़े और सबसे अधिक चमक के लाल-दैत्य Red giants तारे हैं। अपने चारों ओर के आकाश को वह नारङ्गी रङ्ग में रङ्गा रखते हैं।

इन दोनों ही समूहों में और भी असंख्य धुँधले तारे हैं। इनके भी अनेक रङ्ग हैं और इनकी जातियाँ भी अनेक हैं। समूह १ के सभी तारों को एक ही डोर में पिरोए रखनेवाला उनका आपस का कुटुम्ब-सम्बन्ध साफ जाहिर है। उनके रङ्गों और डील-डौलों में भी एक सीधा और साफ सम्बन्ध है—छोटे तारे लाल रङ्ग के हैं और अपेक्षाकृत ठण्डे भी हैं, जबकि बड़े तारे नीले रङ्ग के और अपेक्षाकृत गर्म हैं।

कुछ एक दश वर्षों पहिले तक खगोल वैज्ञानिक यह मानते आ रहे थे कि तारा जितना ही बड़ा होगा, उतना ही अधिक वह गर्म भी होगा, और यह भी कि यह बात सभी तारों पर एक समान लागू होगी ; हाँ, ऐसे कुछ अपवाद जरूर होंगे जिनको इस नियम में बाँध रखना मुश्किल ही होगा। परन्तु

दूरबीनों ने उनकी गलती सुझा दी। ज्यों-ज्यों यह दूरबीनें अनन्त की गहराइयों में ज्यादा-ज्यादा पैठती गई, त्यों-त्यों इस नियम को न माननेवाले तारों की संख्या बढ़ती गई। देखा यह गया कि बड़े डीलडौलों के दैत्याकार तारे नीले रङ्ग के और अधिक गर्म न होकर लाल रङ्ग के एवं अपेक्षाकृत ठण्डे हैं। यहीं पर ही कुछ अनोखे से तारे भी देखे गये जिनकी चमक घटती बढ़ती रहती थी। इस तरह वैज्ञानिकों ने समूह २ के तारों के रङ्गों और उनके डील-डौलों में आपस के एक सम्बन्ध का खाका खींचना चाहा तो उनके हाथ, वास्तव में, लगा अनियमित वक्रता का वह खाका जिसे हम चित्र २१ में दिखला आये है।

"आणविक-भौतिक-विज्ञान" The nuclear physics (भौतिक-विज्ञान की वह शाखा जहाँ द्रव्यों के अणुओं का अध्ययन किया जाता है) के विकास होने के बाद ही इन उलझनों का एक सन्तोषजनक समाधान हो सका। तारों के जलने की क्रिया कुछ निश्चित नियमों के अनुसार ही होती है; इनको "ताप-आणविक नियम" Thermo nuclear principles कहते हैं। इन नियमों की पूरी जानकारी होने के बाद ही खगोल वैज्ञानिक इस बात को समझ पाए कि तारों की उत्पत्ति के बाद वह एक क्रम में विकास करते रहते हैं और उनके इस विकास-क्रम की अलग-अलग अवस्थाओं को जतलाने वाली ही उनकी यह किस्में है।

आमतौर पर तारों के जीवन-विकास का यह क्रम अपने-आपको इस प्रकार झलकाता है। (१) जबतक यह तारे अपने उद्जन Hydrogen के १५ प्रतिशत भाग को खपा नहीं लेते, तबतक वह लगातार एक ही रफ्तार से जलते रहते है। इस बीच उनके गठन और बनाबट में कोई विशेष फर्क भी नहीं पड़ता है। उद्जन के अपने इस ईंधन को खपाने की उनकी क्षमता या सामर्थ्य उनके अपने डील-डौलों के अनुसार है—बड़े तारे, छोटों की अपेक्षा, अधिक तेज जलते है और इस कारण वह अपनी उद्जन को कुछ जल्दी ही खपा डालते है।

(२) जब कोई एक तारा अपने उद्जन-भण्डार के इस १५ प्रतिशत भाग को खत्म कर चुका होता है, तब वह अपने आकार-परिमाण में बढ़ना शुरू कर देता है। तब तक वह जवान भी हो उठता है और जवानी के इस जोश में वह तारा आँख मूँद कर अपने इस ईंधन के भण्डार को फिजूलखर्ची में उड़ाने लगता है; बाकी बची ८५ प्रतिशत उद्जन को वह बड़ी शीघ्रता से जला डालता है। जोश खत्म होने के बाद यह तारा स्वयं भी ठण्डा होने लगता है। अपनी इस अधेड़ उम्र में मानो उसे दम मारने की फुर्सत मिलती है, और इस आरामतलब अवस्था में आकर वह अपने डीलडौल में काफी फुलाव या फैलाव लेने लगता है; यहाँ तक कि, आगे चलकर यह अपने बचपन के आकार से ५० से लेकर १०० गुना मोटा हो पड़ता है। इस प्रकार मोटाई लेकर वह एक लाल रङ्ग का दैत्य Red

giant या Super giant बन बैठता है। अपने इस रूप में तो वह हमारे सूर्य के ८ करोड़ गुने आकार तक का हो जाता है।

(३) अपनी उद्जन के ६० प्रतिशत भाग को खर्च कर लेने के बाद इसके भीतर का दबाव गिरने लगता है, इसका फूला हुआ आकार भी सिकुड़ने लगता है। ज्यों-ज्यों यह सिकुड़ता जाता है, त्यों-त्यों अस्थिर होता जाता है और तब या तो यह घटने बढ़ने लगता है या एक नूतन तारे Nova के रूप में फूट पड़ता है। इसके बाद यह एक मरे हुए से सफेद रङ्ग के बौने तारे white dwarf के रूप में हो जाता है। इस रूप में रहते हुए यह अपने धीमे सुकड़ाव के कारण होनेवा ी मन्द रोशनी से ही सिर्फ चमकता रहता है। इसका यह धीमाधीमा सुकड़ाव इसके शरीर के द्रव्य को दबा दबा कर इतना छोटा कर देता है कि उस हालत में इसके डील्डौल के प्रत्येक क्यूबिक इञ्च भाग का वज़न कुछ ही थोड़े टनों में रह जाता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि समूह २ के तारे अपने जीवन विकास-क्रम को इस स्पष्टता के साथ क्यों व्यक्त करते हैं ? इसका यही उत्तर है कि तारों के जिन गोलाकार गुच्छों और शंख के आकार की आकाश-गंगाओं में वह होते हैं, उनमें धूल या गैस का अभाव सा-ही है। इन धूलों और गैसों से ही नये तारे बन सकते है। धूल और गैस के अभाव में इन तारों को ऊपर से कोई खुराक नहीं मिल पाती। अपने आप, एकान्त रूप में ही, यह अपना विकास करते हैं—अपने जन्म से लेकर

आगे तक उनको कोई ताज़ा ईंधन या द्रव्य नहीं मिल पाता। इस कारण ही अपनी उम्र के साथ-साथ बढते हुए या बाद में घटकर खत्म होते हुए, यह तारे अपने विकास और ह्रास के प्रत्येक क्रम को स्पष्ट बतला देते हैं।

किसी भी एक तारे की यह जीवन कहानी एक वक्ररेखा के द्वारा हमने चित्र २१ में व्यक्त की है।

समूह १ के तारे भी विकास के ऐसे ही क्रमों में से होकर गुजरते हैं; परन्तु सामूहिक रूप में, उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि कुण्डलीय आकाश-गंगाओं की जिन भुजाओं में वह रहते है उनमें धूल और गैसों की काफी बड़ी राशियाँ भी रहती हैं जिनसे नये-नये नीले रंग के दैत्य-तारे Blue Giants लगातार बनते रहते और उन जल मरने वाले तारों की जगहें लेते रहते हैं।

ठीक इसी कारण हमारा "दुधैला मार्ग" The milky way (हमारे अपने आकाश में दीख पड़ने वाली एक सफेद और चौड़ी-सी पट्टी, जिसे हम अपनी आकाश-गंगा भी कहते है) आज भी अपनी उसी पहिले की नीली चमक से जल रहा है। क्योंकि इसमें समूह १ के ही तारों की बहुतायत है। परन्तु विश्व-विधाता का क्रूर और अटल विधान जो ठहरा; ज्यों-ज्यों इसमें के ब्रह्माण्डीय बादल The cosmic clouds (इन पर हम आगे किसी परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे) रिक्त होते जावेंगे और इसमें के नीले दैत्य-तारें भी बुझते जावेंगे, त्यों-त्यों

यह दुधैला मार्ग क्रमशः धुँधला और पीला पड़ता जायगा और एक दिन मर मिटेगा। आज भी उसकी यह हालत तो हो उठी है कि इसमें के नीले दैत्य-तारो की तुलना में उनसे छोटे और लाल एवं पीले रंग के तारों की संख्या बहुत बड़ी हो गई है। इस "दुधैले मार्ग" के जीवन पर मानों मृत्यु की काली छाया पड़ने सी लगी है। परन्तु अभी इसकी मृत्यु बहुत दूर है; शायद ५० अरब वर्ष और भी बीते इसके पहिले कि इसका अन्तिम धुँधला और धीमा जलने वाला तारा अपनी आखिरी सांस लेकर बुझ मरे और हमारी यह आकाश-गंगा शाश्वत अन्धकार के पेट में समा जाय।

तारों की दूरियाँ

तारों की कहानी का एक मोड़ तो हम कह चुके। अब हमें यह देखना है कि सदियों से अपनी उत्सुक आँखों को इन पर गड़ाए हुए मानव-वैज्ञानिकों ने किस प्रकार यह पता लगाया कि यह तारे हम से अमुक दूरी पर हैं। इस कहानी का यह दूसरा मोड़ है जो बड़ा ही दिलचस्प है।

सूर्य और उसके परिवार के ग्रहों की पृथ्वी से दूरियाँ नाप कर जान लेने के बाद मानव की जिज्ञासा इन तारों की ओर रह-रहकर उछालें भरने लगी। निश्चय ही, यह पृथ्वी से अत्यधिक दूर थे। हमको अपनी पीठ पर लादे हुए हमारी यह पृथ्वी अनन्त के महाशून्य में १८६,०००,००० मील व्यास का एक वृत्त बनाती हुई कुलांचें मार रही है। इसकी इतनी विस्तृत

भ्रमण-कक्षा पर के किसी भी स्थान से देखने पर भी इन तारों की आपस की स्थितियों और दीख पड़ने वाले आकारों में हमें राई-रत्ती फर्क भी नजर नहीं आता। यह था इस चित्र का एक पहलू जो कुछ वर्षों पहिले तक हमारे आकाशीय अध्ययन के साधन-यन्त्रों के अर्ध-विकसित होने के कारण, हमें परेशान किये हुए था। हमारी जिज्ञासा ने इस समस्या के हल करने के मार्ग खोज निकालने शुरू किए। सोचा गया कि सूर्य से पृथ्वी की दूरी उसके (पृथ्वी के) अपने व्यास की, कमसे कम, १०,००० गुनी है। इस दूरी की दुगुनी दूरी तय की जाने पर निश्चय ही कुछ तारों की लम्बन-गतियाँ Parallactic Movements पैदा होंगी जिन्हें सूक्ष्म-ग्राही एवं उचित तरीको से पकड़ा भी जा सकेगा। इस धारणा पर कुछ प्रयास किए भी गये परन्तु सन् १८३८ ई० के पहिले तक कुछ भी सफलता न मिली। पहिले के कई प्रयोग अपने उद्देश्य में विफल तो जरूर हुए फिर भी वह हमें दो बहुत ही महत्वपूर्ण खोजे दे गये।

इनमें से एक खोज थी जेम्स ब्राडले की स्थिर नक्षत्र Fixed Star के अपरेण aberration की। हमने इस पर तीसरे परिच्छेद में कुछ प्रकाश डाला है। प्रकाश की गति के एक निश्चित वेग एवं पृथ्वी की अपनी कक्षा पर भ्रमण-गति का ही यह एक असर है। सन १७२५ ई० में ब्राडले ने एक दूरबीन इस प्रकार लगाई कि वह अपने स्थान से जरा भी हिलडुल न सके। यदि कोई तारा इस दूरबीन के करीब-करीब ठीक सिर के ऊपर

याम्योत्तर meridian (आकाश में दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों के बीच का बिन्दु) को प्रतिरात पार करता तो वह निश्चय ही इस दूरबीन में पकड़ा जाता। ब्राडले की दूरबीन में यह काम अजगर तारे Ydraconis ने किया। अपने लम्बे अध्ययन के बाद ब्राडलेने पता लगाया कि यह तारा पूरे वर्ष भर अपनी स्थिति बदलता रहा। मार्च के महीने में जहाँ यह सुदूर दक्षिण में था, वहीं सितम्बर के महीने में चलकर यह दूर उत्तर में जा पहुंचा। ब्राडले जिस तरीके से इस तारे का वेध करता था, उसमें इतनी क्षमता न थी कि वह पूर्व और पश्चिम की ओर इस तारे के हटाव को पकड़ पाता। ब्राडले ने पता लगाया कि इस तारे के ,उत्तर-दक्षिणी हटाव का पूरा विस्तार ४०" (४० विकला) था। इसको लेकर वह एक उलझन में जा गिरा। यदि यह हटाव लम्बन के कारण था तो अवश्य ही दिसम्बर महीने में इस तारे को सुदूर दक्षिण में एवं जून महीने में दूर उत्तर में रहना चाहिये था।

ब्राडले के सामने अनेक सुझाव आये; परन्तु जब उसने और भी वेध किए और जब उसे यह पता लगा कि यह सुझाव तथ्यों से मेल नहीं खाते तो उसने उन्हें ठुकरा दिया। उसने फिर दूसरी एक और दूरबीन इस प्रकार लगाई कि उससे कुछ और भी तारों का वेध किया जा सके। सन् १७२८ ई० में आखिर उसे इस उलझन का सही स्पष्टीकरण मिल सका यह स्पष्टी करण ठीक वही था जिसे हम परिच्छेद ३ में रेलगाड़ी

एवं बरसात की बूँदों का उदाहरण देकर समझा आये हैं। यह तो हमें नहीं मालूम कि ब्राडलेने किस आधार पर यह सही स्पष्टीकरण प्राप्त किया। हो सकता है गिरती हुई बरसात की बूँदों ने हीं उसे भी इस ओर प्रवृत्त किया हो। इस विषय को लेकर अक्सर इस घटना का जिक्र किया जाता है। कहा जाता है कि एक बार ब्राडले टेम्स नदी को एक जहाज पर पार कर रहा था। उसने देखा कि जब भी जहाज के पाल की दिशा बदली जाती जहाज के मस्तूल पर लगे झण्डे का फहराता हुआ नोकीला भाग भी अपनी दिशा बदल देता। पाल जब जहाज की दाहिनी ओर होता तो झण्डा भी पूर्व की ओर फहराता और जब पाल बाईं ओर होता तो झण्डा भी बदल कर उत्तर की ओर फहराने लगता। उसको यह महसूस हुआ कि यह सब जहाज के आगे बढ़ने की गति के कारण ही हो रहा है, पहिले एक दिशा में और फिर दूसरी में।

हवा का रुख भी इसमें मदद दे रहा था। इस घटना के जहाज की जगह यदि हम पृथ्वी को, झण्डे की जगह दूरबीन को और हवा की जगह प्रकाश को मान लें तो ब्राडले की तरह हम एक निष्कर्ष पर आसानी से पहुँच जावेंगे।

पूरे वर्ष भर कई तारों का वेध कर चुकने पर ब्राडले को मालूम हुआ कि ठीक यही बात है और यह प्रत्येक वेध पर सही उतरती है। उसके बाद आकाशमें किसी भी तारेका वेध करने पर वह वेध अपरेण से प्रभावित दिखाई दिया। उसके इस प्रभाव

की मात्रा पृथ्वी-कक्षा से उसकी सापेक्ष स्थिति पर निर्भर थी। जो तारे इस कक्षा की सतह पर ही थे वह तो आगे और पीछे की ओर एक सीधी रेखा में चलते दिखाई दिए। जो तारे इस सतह पर समकोण बनाती हुई किसी दिशा में थे वह वृत्ताकार पथों पर चलते दिखाई दिए। परन्तु जो तारे मध्यवर्ती स्थितियों पर थे वह एक अण्डाकार मार्ग पर चलते देखे गये।

ब्राडले की खोज वास्तव में बड़ी ही महत्वपूर्ण साबित हुई। इसने कोपर्निकस के इस सिद्धान्त पर, कि पृथ्वी वास्तव में गतिशील है, चार चाँद लगा दिए। इसने रोमर के इस सिद्धान्त को भी पुष्टि दी कि प्रकाश की भी अपनी एक निश्चित गति है। जब इन दोनो गतियों में किसी एक गति को हम जान जाते हैं तो ब्राडले की इस खोज की मदद से हम उस दूसरी गति को भी जान सकते हैं। सूर्य के लम्बन को जानने में भी यह हमें बहुत सहायता देती है। इतना सब होने पर भी यह खोज अजगर तारे Ydracois अथवा किसी भी अन्य तारेकी दूरी हमें नहीं बता सकी।

विलियम हर्शेल भी, जिन्होंने वरुण ग्रह को खोज निकाला था, तारों के लम्बनजन्य हटाव को पकड़ने की कोशिश में लगे। उन्होंने तारो के उन जोड़ों का अध्ययन शुरु किया जो एक दूसरे के काफी नजदीक थे। बहुत से तारे जो हमारी नंगी आंखो से देखे जाने पर एक दिखाई पड़ते हैं वास्तव

में द्विक्तारे Doube stars हैं। दूरबीन ने हमें जो बरदान दिये हैं यह जानकारी भी उनमें से एक है। पुनर्वसुद्वितीय Castor (पुनर्वसु नक्षत्र के दो जोड़ले तारों में का पुनर्वसु द्वितीय तारा Castor) द्विक् तारों का एक सुपरिचित उदाहरण है।

हर्शेल ने पहिले यह धारणा बनाई कि इन द्विक् तारों को बनानेवाले प्रत्येक दो तारों की पारस्परिक नजदीकी एक दृष्टि भ्रम मात्र है। यह भी कि कम-से-कम कुछ जगह तो उनमें का एक तारा दूसरे से बहुत ज्यादा दूर होता है। क्योंकि यह दोनों ही हमारी दृष्टि की एक सीधी रेखा में होते हैं, इसलिये वह हमें एक दूसरे में मिले से दीखते हैं। यदि यह धारणा ठीक होती तो जब पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती हुई मार्च के महीने में, सितम्बर के महीने की अपेक्षा, उसके अधिक निकट जा पहुँ-चती तो निश्चय ही उन दोनों तारों में से एक तारा दूसरे की अपेक्षा एक लम्बन जन्य हटाव दिखाता। बजाय इसके हर्शेल को मालूम हुआ कि ज्यादातर तो यह दोनों ही तारे एक दूसरे के चारों ओर ठीक उसी तरह घूमते देखे गये जिस प्रकार कि पृथ्वी और चन्द्रमा एक दूसरे के चारों ओर घूमते हैं। उनके घूमने का यह वेग बहुत धीमा है। हर्शेल ने यह वेध सन् १७८२ ई० से कुछ पहिले ही आरम्भ किये थे। सन् १८०३ ई० में उसने घोषणा की कि पुनर्वसु द्वितीय के दोनों ही तारो को जोड़नेवाली रेखा लगातार अपनी दिशा बदलती रहती है। उसका यह परिबर्तन इस हिसाब से होता है कि करीब ३४०

वर्षों में यह रेखा एक पूरा चक्कर काट लेती है। उसने यह भी घोषणा की कि उसको ५ और भी इसी किस्म के दिक् तारे मिले हैं जो ठीक ऐसा ही करते पाए गए है। परन्तु प्रत्येक वर्ष उनकी कोणीय दूरी के एक के बाद एक होनेवाले परिवर्तन को वह नहीं पकड़ पाया। यदि उसकी मूल धारणा सही होती तो अवश्य ही वह इस कोणीय दूरी को पकड़ सकता था।

ब्राडले की तरह हर्शेल भी तारो के लम्बनों को पकड़ने में असफल रहा। परन्तु उसके प्रयोगों ने एक और ही तथ्य खोज निकाला। इस तथ्य ने यह सिद्ध करने में पहिला कदम उठाया कि गुरुत्वाकर्षण की जो शक्ति सौर-मण्डल के सदस्यो को उनकी अपनी-अपनी कक्षाओं पर रक्खे रहती है, तारो में भी वह यही काम कर रही है।

हर्शेल की तजबीज सिद्धान्ततः बहुत ही ठीक थी, परन्तु वह यह नहीं समझ सका कि यह कितनी असंगत-सी बात है कि कोई दो प्रमुख तारे, पृथ्वीसे अपनी-अपनी दूरियोमें बहुत ज्यादा फर्क रखते हुए भी, एक दूसरे से सिर्फ कुछ विकलाओं की दूरी पर ही दिखाई दें। वास्तव में, उसने आकाश में सिर्फ उन्हों पिण्डों को अपने प्रयोगों के लिए चुना जोकि निश्चय ही एक दूसरे की अपेक्षा कोई लम्बन नहीं दिखाते थे।

इस पिछले वाक्य को देखते हुए यह बड़ी अनोखी-सी बात मालूम होगी कि सबसे पहिले जिन दो तारों की दूरियां नापी गई वह द्विक् तारे ही थे। उनमें से एक था राजहँस ६१ cygni

जो स्वान तारा समूह का ही एक तारा था। दूसरा था एक चमकीला तारा जोकि दक्षिण में ही उगता है और रहता है। इसका नाम था आल्फा सैंटारी a Centauri। सैंटारस तारा समूह का यह सबसे ज्यादा चमकदार तारा है। यहाँ यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय झण्डे पर ५ तारे अङ्कित रहते हैं। इनमें से ४ तो दक्षिणीय चतुष्पथ Southern cross (तारोंकी एक मिलीजुली आकृति का नाम) के हैं, पाँचवां उनसे कुछ दूर का एक तारा है। यह पाँचवाँ तारा बीटा सैंटारी ५″ विकला पूर्व की ओर है। आल्फा और बीटा दोनों ही एक दूसरे से करीब-करीब उतने ही दूर हैं जितने सप्तर्षिमण्डल Great bear के विख्यात निर्देशक तारे The pointers. (वह दोनों तारे जो इस मण्डल के शीर्ष पर हैं)।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्यों यही दोनो तारे इन प्रयोगों के लिए चुने गये? जब तक ऐसी कोई सम्भावना न हो कि इन दो तारो में से एक तारा दूसरे की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक निकट होगा, लम्बन पकड़ पाने के उद्देश्य से उन दोनों तारों के बीच की कोणीय दूरी नापने की चेष्टा जाहिरा तौर पर महज समय बर्बाद करना ही होगी। इसीलिए ज्योतिर्विद् प्राय: बड़ी सावधानी के साथ उन सूत्रों को जाँचते हैं जोइस बात का जरा भी अन्देशा प्रकट करते हैं कि अमुक तारा, तारों की हमसे औसत दूरी से, ज्यादा नजदीक है। यह बात तो हम करीब-करीब मान सकते हैं कि चमकदार तारे मन्द तारों की अपेक्षा

औसतन हमसे ज्यादा नजदीक हैं। किन्तु इसी धारणा या मान्यता पर और आगे बढ़कर हमारा यह सोचना कि कोई एक खास चमकदार तारा हमारे नजदीक ही है, युक्तिसंगत न होगा। हो सकता है कि यह एक बहुत बड़ा तारा हो और हमसे बहुत ज्यादा दूर भी। कोई एक तारा आकाश में जिस वेग से चलता है, उसकी गति का वह वेग ही उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हमारे पास एकमात्र ऐसा सूत्र था जिसके जरिये हम आगे बढ़ सकते थे।

शायद हमारे बहुत से पाठकों को यह पढ़कर आश्चर्य होता होगा कि तारे भी आकाश में चलते रहते हैं। परन्तु बात यह बिल्कुल सत्य है। ग्रहों और तारों की पृथकता दिखाने के लिए हम कभी-कभी "स्थिर तारे" जैसे शब्द को खगोल शास्त्र में काम में लेते हैं; परन्तु सत्य तो यह है कि सभी तारे अपनी-अपनी गतियों से चलते रहते हैं। सूर्य भी एक तारा ही है और इसलिए वह भी इस नियम का अपवाद नहीं। सूर्य की भी अपनी गति है, और यह गति उसके आसपास के तारों से उसकी सापेक्ष स्थितियों का अध्ययन करने से जानी जा सकती है। अपने कुटुम्बी ग्रहों को साथ लेकर करीब १२ मील प्रति सेकण्ड की गति से सूर्य एक सीधी रेखा में चलता रहता है। सूर्य की यह गति उसके निकट के पड़ोसी तारों की हमें दिखाई पड़नेवाली गतियों में प्रतिबिम्बित होती है। इस बात को समझाने के लिए हमारे दैनिक जीवन से हम एक उदाहरण देते हैं।

मान लीजिए हम एक सड़क पर सरपट दौड़े चले जा रहे हैं। सड़क की दोनों ओर वृक्षों एवं मकानों की कतारें हैं। बीच-बीच में नगरपालिका या म्युनिसिपल बोर्ड के लगाये हुए रोशनी के खम्भे भी है। भागते हुए हम इन वृक्षों, मकानों की कतारों एवं रोशनी के खम्भों की ओर देखते चलते हैं। हम देखते हैं कि हमारे बिलकुल नजदीक के वृक्ष और मकान हमारे पीछे की ओर भागते से नजर आते हैं। जो वृक्ष, मकान और रोशनी के खम्भे हमारे सामने बहुत दूर होने के कारण एक-दूसरे में मिले से दिखाई देते हैं वह, जैसे-जैसे हम भागते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, एक-दूसरे से पृथक् होकर चौड़े होते दिखाई देते हैं और इनमें से जो-जो वस्तुएँ हमारे पीछे छूटती जाती हैं, उन्हें यदि हम अपना मुँह घुमाकर देखें तो एक-दूसरे में मिलती जाती-सी दिखाई देती हैं। ठीक इसी तरह सूर्य की अपनी गति का तारों में प्रतिबिम्ब पड़ता है। क्योंकि सूर्य के साथ-साथ हम भी भागे जा रहे हैं, इसलिए उसके भागने के मार्ग के निकटवर्ती तारे तो हमें हमारे पीछे की ओर दौड़ते नजर आते हैं और जो तारे सूर्य के एवं इस कारण हमारे मार्ग के सामने होते हैं वह एक-दूसरे से दूर फैलते से जान पड़ते हैं। जो तारे इस मार्ग में पीछे की ओर हटते जाते हैं वह हमें पीछे फिरकर देखने से एक-दूसरे में मिलते से जान पड़ते हैं। यह प्रतिबिम्बित गतियाँ तारों की अपनी निजी गतियों पर लदी हुई-सी रहती हैं। कुछ जगह तो यह प्रतिबिम्बित गति उन तारों की निजी गतियों को

अपने में थोड़ा बहुत खपा भी लेती है। यदि किसी एक तारे की असाधारण तेज गति देखी जाती है तो यह धारणा सुगमता से बना ली जाती है कि यह तारा हमारे पास ही है, चाहे यह गति सारी-की-सारी प्रतिबिम्बित हो, अथवा कुछ तो प्रतिबिम्बित और कुछ उसकी अपनी हो।

उन तारों की इन गतियों की राशियाँ बहुत ही छोटी होती हैं जैसा कि प्रत्यक्ष है। यदि ऐसा न होता तो यह तारा समूह अपनी पारस्परिक स्थितियों को कायम न रख सकते थे। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी उनमें ऐसा कोई फर्क नहीं पड़ा है, जो पकड में आ सके। राजहंस ६१ तारा ५" विकला प्रतिवर्ष के कोणीय वेग से आकाश में चलता है--यह एक असाधारण तेज गति है। यदि इस गति से यह तारा लगातार ३६० वर्षों तक चलता रहे तो इतने वर्षों में वह सिर्फ उतनी ही कोणीय दूरी पार करेगा जितना कि चन्द्रमा के बिम्ब का दिखाई पड़ने वाला व्यास। अधिकांश तारे जो चलते-रहते हैं उनकी गतियाँ प्रति शताब्दी कुछ विकलाओं में नापी जाती हैं।

तारों की इन गतियों को उनकी निजी या व्यक्तिगत गतियाँ proper motions कहते हैं। प्रशिया के राज-ज्योतिषी फ्रेडरिक विल्हेल्म बेसल Friedrich Wilhelm Bessel ने कोयनिगबर्ग नगर में वेध करते हुए राजहंस ६१ को सिर्फ इसीलिये चुना था कि उसकी निजी गति काफी बड़ी थी, न कि इसलिये, कि यह एक द्विक् तारा था। उसने इस तारे एवं इसके

पड़ौसी दो अन्य मन्द तारों, जिनकी कोई निजी गतियां नजर न आती थी, के बीच की कोणीय दूरी समय-समय पर पूरे वर्ष भर नापी। ऐसा करने पर उसको मालूम हुआ कि इस राजहंस ६१ तारे की दिखाई पड़ने वाली गति इन दोनों मन्द तारों की अपेक्षा एक लहरदार रेखा में होती है। वर्ष में एक समय तो यह रेखा एक ओर झुकती है तो ६ महीनों बाद ही यह रेखा दूसरी ओर झुक जाती है। प्रत्येक ओर होनेवाला यह झुकाव करीब-करीब एक विकला का एक तिहाई है।

बेसल के किए गए वेधों का यह परिणाम सन् १८३८ ई० में घोषित किया गया। दो वर्ष बाद कुछ और भी वेधकर चुकने पर बेसल ने कहा कि बाद के इन वेधों ने उसके पहिले के प्राप्त परिणाम को और भी पुष्ट कर दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि एक तारे के लम्बन की यह सर्वप्रथम सफल नाप थी। इसके बाद और भी कई अन्य ज्योतिषियों ने राजहंस ६१ के लम्बन का वेध किया। उनके परिणामों ने भी बेसल द्वारा प्राप्त लम्बन राशि को ही पुष्टि दी। यह बात बेसल के वेध करने की असाधारण योग्यता एवं सूझ-बूझ की द्योतक है।

केप के शाही ज्योतिषी टामस हेन्डरसन ने आल्फा सैंटारी को इसलिये चुना कि उसकी निजी गति करीब ४" विकला प्रति-वर्ष है। संयोगकी बात कि यह तारा भी द्विक् तारा ही निकला। परन्तु उसके चुने जाने में उसके द्विक् होने का कोई हाथ न था। हेन्डरसन ने सन् १८३९ ई० में ठीक उसी तरीके से जिसे बेसल

ने अपनाया था. मालूम किया कि इस तारे का लम्बन करीब १ विकला था;—यद्यपि बाद के वेधों ने इस राशि को सुधार कर इसे ०″७६ विकला निश्चित किया।

सन् १८४० ई० में फ्रेडरिक जार्ज बिल्हेल्म स्ट्रब ने सेंटपीटर्सबर्ग (आजकल के लेनिनग्राड) नगर के पास पुलकोवो स्थान से वेध करते हुए अभिजित तारे a lyrae के लम्बन को एक चौथाई ¼ विकला का पाया। इस तारे का दूसरा प्रचलित नाम vega है। बाद की खोजों से मालूम हुआ कि इस तारे का सही लम्बन एक विकला का दसवाँ भाग ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिर्फ दो ही वर्षोंके भीतर एक ही साथ और बिना एक दूसरे की मदद लिए तीन भिन्न-भिन्न देशों के तीन ज्योतिषियों ने यह बड़ा ही महत्वपूर्ण कदम उठाया। शीघ्र ही तारों की इस सूची में और भी कई तारे जोड़ दिए गये। अब यह भान होने लगा कि तारों के फैलाव को नापने का पैमाना या मापदण्ड हाथ मे आनेवाला है।

परिच्छेद ३ के शेष अवच्छेद paragraph में सर जान-हर्शेल ने हमारे भौतिक जीवन की जानी चुनी वस्तुओं को लेकर ही जो माप-दण्ड दिया था, उसी को तारों के क्षेत्र तक बढ़ाकर हम कह सकते हैं कि आल्फा सेंटारी तारे को उस दो फुट व्यास के सूर्य के गेंद से २४,००० मील दूर रखना होगा और राजहंस ६१ तो होगा उससे ६०,००० मील दूर!

यह तो हम पहिले ही कह आये हैं कि २०६,२६५ इञ्चों की

दूरी से देखे जाने पर एक इञ्च की कोणीय चौड़ाई १ विकला दिखाई देगी। ठीक यही बात १ फुट को २०६,२६५ फीटों की दूरी से देखने पर लागू होगी। खगोलीय नाप की एक इकाई को, जो वास्तव में पृथ्वी और सूर्य के बीच की अल्पतम दूरी का ही ज्योतिषिक नाम है, २०६,२६५ खगोलीय इकाइयों की दूरी से देखने पर भी यही बात सही पड़ती है। यदि कोई एक ऐसा तारा हो, जिसका लम्बन १ विकला हो, तो वह हम से २०६,-२६५,×९३,०००,००० मील दूर होगा। आल्फा सैंटारी तारे का लम्बन हम ऊपर ०"७६ विकला बतला आये हैं। इसलिए यह तारा हमसे २०६,२६५×९३,०००,०००÷० ७६ मील दूर हैं। राजहंस ६१ का लम्बन ०.३० विकला होने के कारण यह तारा हमसे २०६,२६५×९३,०००,०००÷०.३० मील दूर है।

तारों के विषय में इन ऊपर दी गई संख्याओं के गुणनफल निकालने का प्रयास बेकार ही होगा, कारण, तारों की दुनिया में लम्बाई या दूरी नापने की हमारी यह मीलें कुछ काम न देंगी। यद्यपि हम यह तो नहीं जानते कि तारों ने एक दूसरे से अपनी दूरियाँ नापने के लिए मापदण्ड की क्या इकाई बना रक्खी है, परन्तु हमारे ज्योतिर्विदों ने खूब सोच-समझ कर इस काम के लिए एक बहुत बड़ी इकाई की कल्पना कर ली है। यह इकाई है एक वस्तु की उतनी दूरी, जहाँ पर उसका लम्बन १ विकला हो। खगोलीय भाषा में इस इकाई को एक पार्सेक (parsec) कहते हैं।

आल्फा सैंटारी तारे की दूरी, इस इकाई से नापने पर १–०७६ अथवा १.३२ पार्सेक है। राजहंस ६१ तारे की दूरी ३.३ पार्सेक है। एक तारे की पार्सेको में दूरी उसके लम्बन के विपर्यय (reciprocity) में या उलटी होती है। तारो की दूरी बताने वाली दूसरी एक और भी ज्योतिषिक इकाई है, जो अक्सर व्यवहार में लाई जाती है। लोकप्रिय साहित्य में तो प्रायः इसी का बोलबाला है। इसको प्रकाश-वर्ष (light-year) कहते है। १८६,००० मील प्रति सेकन्ड के वेग से चलता हुआ प्रकाश एक वर्ष में जितनी दूरी तय करता है, उस दूरी को १ प्रकाश-वर्ष की दूरी कहते हैं। एक पार्सेक ३.२६ प्रकाश-वर्षों के बराबर होता है। यह लगभग ५८,६५,६६,६०,००,००० मील है। प्रकाश-वर्षों मे नापने पर हम देखते हैं कि आल्फा सैंटारी तारा हमारी पृथ्वी से ३.२६×१.३२=४.३० प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है। राजहंस ६१ तारा पृथ्वी से ३.२६×३.३=१०.८ प्रकाश-वर्ष दूर है।

फोटोग्राफी के तरीकों को जब खगोल शास्त्रियों ने अपनी मदद के लिए पुकारा तब जाकर यह सम्भव हो सका कि और अधिक तारो के लम्बन नापे जायँ। फोटोग्राफी ने प्राप्त परिणामो को अधिकाधिक शुद्ध भी किया। जो कुछ हो, एक बात यह थी कि लम्बनों के द्वारा दूरी नापने के इस तरीके में अपनी कुछ कमियाँ थी। प्रथम तो, बात यह थी कि हमसे सर्वापेक्षा निकट के तारों के लम्बन भी बहुत ही छोटे होते थे। उदाहरण के

लिए प्रोक्सिमा सैंटारी नामक तारे को ही लीजिये; वह एक मन्द तारा है जो आकाश में आल्फा सैंटारी से दूर नहीं है। इसका लम्बन ०"७६ है। आज तक जाने गये तारों में वह उन सब की अपेक्षा हमारे अधिक निकट है। दूसरा अगला तारा आल्फा सैंटारी उससे कुछ ही दूर आगे है, क्योंकि उसका लम्बन ०"७६ है। इस ०"७६ लम्बन की बात को ठीक समझ पाने के लिए हम अपनी एक परिचित वस्तु का ही उदाहरण देते हैं। हमारे पास एक पैसे का एक सिक्का है। यदि हम चाहें कि इस सिक्के के व्यास को ०"७६ कोण का देखें तो हमें उसे अपने से २६१, १०० इञ्चों की दूरी (करीब ४ मील से कुछ और भी दूर) पर रखकर देखना होगा।

अब तक हम कुछ थोड़े से ही तारों को जान पाये हैं जिनके लम्बन ०"१ से कुछ ज्यादा हैं। यह ०"१ लम्बन पार्सेकों में बदले जानेपर १० पार्सेकोंके करीब होगा। इसे ही यदि हम प्रकाश-वर्षों में बदलें तो यह लम्बन ३२.६ प्रकाश-वर्षों के बराबर होगा। ज्यों-ज्यों दूरियाँ बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों लम्बन भी क्रमशः छोटे होते जाते हैं; और इसी क्रम से उनके द्वारा प्राप्त दूरियों की शुद्धता में सन्देह बढ़ता जाता है। ०"०१ (१०० पार्सेक दूर) लम्बन से भी छोटे लम्बनों पर निकाले गये परिणाम तो निश्चय ही सन्देहग्रस्त होंगे।

यह ऊपर लिखी अनिश्चितता या सन्देहात्मकता इस बात को देखते हुए और भी बढ़ जाती है कि अत्यन्त ही दूर पर स्थित

जिन तारों की पृष्ठभूमिपर हम अन्य तारों के लम्बन निकाल लेते हैं और दूर के जिन तारों को हम सुभीते के लिए "पृष्ठभूमि के तारे" Reference stars कहकर पुकारते हैं स्वयं उन तारों की दूरियों के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल नहीं के बराबर है। हमने सिर्फ अपनी आसानी के लिए यह मान लिया है कि वह इतने ज्यादा दूर हैं कि हम उनके लम्वनों को किसी प्रकार भी पकड़ नहीं पाते। हम उनके लम्बनों को जानने की चेष्टाएँ तो करते ही हैं। कभी-कभी तो हमें मालूम होता है कि उनके लम्बन निषेधात्मक negative हैं—विल्कुल नहीं के बराबर। ऐसा मालूम होता है मानो यह तारे भी ठीक उसी दिशा की ओर झुके चले जा रहे हैं जिधर हमारी पृथ्वी। यदि हम एक क्षण ठहरकर इस पर गौर करें तो मालूम होगा कि यह कोई रहस्य की बात नहीं है—इसका सिर्फ एक ही अर्थ होगा कि हमने शुरू में ही एक गलत धारणा बना ली है। हो सकता है कि जिन तारों के लम्बन जानने की हम कोशिश करते हैं उनकी अपेक्षा, इन "पृष्ठभूमि के तारों" में से ही, कोई एक या अधिक तारा हमारे ज्यादा नजदीक हो। ऐसी हालत में ज्योतिषी एक ही रास्ता अपनाता है, वह यह जानने की कोशिश करता है कि इन तारों में से कौन-सा तारा यह गड़बड़ मचा रहा है। इसको जानकर वह उसे भी उन तारों की सूची में जोड़ देता है जिनकी दूरियाँ उसे निकालनी हैं।

हमारे दैनिक जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब

चलते-चलते हम अपने सामने, परन्तु दूर, किन्हीं दो वस्तुओं को देखते हैं। क्योंकि वह दोनों ही वस्तुएँ हमारी दृष्टि की एक ही रेखा में पड़ती हैं, इसलिए हम भ्रम में पड़ जाते हैं कि इन दोनों वस्तुओं में कौन सी वस्तु दूसरी की अपेक्षा हमसे नजदीक है। यह जानने और भ्रम मिटाने के लिए हम सड़क के एक किनारे की ओर कुछ हट जाते है। मान लीजिए हम सड़क के दाहिने किनारे की ओर हट गये है। यदि ऐसा करने पर वह वस्तुएँ हमको एक दूसरी से कुछ पृथक् हटी हुई सी दिखाई दें तो हम तुरन्त जान जाते हैं कि दाहिनी तरफ दिखाई देनेवाली वस्तु, दूसरी वस्तु की अपेक्षा ज्यादा दूर है। यदि वह वस्तुएँ एक दूसरी की ओर नजदीक आती-सी जान पड़ें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि बाईं तरफ की वस्तु दूसरी की अपेक्षा हमसे ज्यादा दूर है। वस्तुओं की इन अपेक्षाकृत दूरियों को जानने के इस तरीके को व्यवहार में लाते समय निश्चय ही हम "लम्बन" जैसे शब्दों का खयाल भी नहीं करते, "निषेधात्मक लम्बन" की तो बात ही क्या। ठीक यही सिद्धान्त या प्रक्रिया है जो तारों पर भी लागू की जाती है।

सिद्धान्त रूप में यह सम्भव तो है कि हम 'पृष्ठभूमि के तारों' के बिना भी अपने काम में आगे बढ़ सकें। पृथ्वी पर ही यदि कई वस्तुएँ बड़ी मजबूती के साथ अपने स्थानों पर चिपकी हों तो उनकी अपेक्षा तारों की स्थितियों को हम नाप सकते हैं। कुछ दूरबीनों को बड़ी दृढ़ता से एक स्थान पर जमा कर उनको

कुछ वृत्तों में बाँट कर भी यह काम कर सकते हैं। जिन तारों के लम्बन अपेक्षाकृत बड़े होते हैं उनको लेकर तो यह प्रयोग किए भी जा चुके हैं। परन्तु इन प्रयोगों में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं; इनके प्राप्त परिणाम भी विशेष शुद्ध नहीं हैं और इनके परिणामों की मात्रा भी बहुत कम है। आवश्यक नापों को लेने में बहुत ज्यादा समय लग जाता है। ठीक उतने ही समय में हम फोटोग्राफी की मदद से बहुत ज्यादा तारों से निबट लेते हैं और फिर धीरे-धीरे अपनी फुरसत के समय हम इन फोटोग्राफों की मदद से उन दूरियों का अध्ययन कर सकते हैं।

जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, सौर-मण्डल के दायरे के भीतर काम करते हुए लम्बन के तरीके की पुष्टि अन्य तरीकों से भी हो चुकी है। सौर-मण्डल के बाहर के आकाश में यह तरीका काम नहीं करता—ऐसा सोचने का भी कोई आधार तो नहीं है।

मान लेते हैं कि तारों के देश में भी लम्बन उतना ही कारगर है। हम अपने परीक्षणों द्वारा अब जहाँ तक पहुँच चुके हैं उसका संक्षिप्त विवरण दे देना चाहते हैं। सूर्य हमारी पृथ्वी से करीब ९३०,०००,००० मील दूर है। यदि इस संख्या को हम ३००,००० से गुनें तो गुणनफल नीलों की संख्या में पहुँच जावेगा। आज तक हम जितने तारों को जान सके हैं उनमें से सबसे पास का तारा हमारी पृथ्वी से नीलों मील की इस संख्या से भी ज्यादा दूर है। अधिकांश तारे तो इतनी दूरी पर हैं कि

उनकी दूरियाँ बताने में हमारे अंकगणित की जानी हुई संख्याएँ अपनी असमर्थता पर रो देती हैं। इन तारों की एक विशाल राशि तो लम्बन के तरीके की पहुँच के भी बाहर हैं। यह तरीका अपने हाथ-पैर मारकर भी उन्हें छू नहीं सकता। पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा वास्तव में काफी बड़ी नहीं है। यदि सौर-मण्डल के तीनों ही बड़े ग्रहों पर कोई ज्योतिषी हों तो वह शायद तारों की दूरियाँ नापने के विषय में हमसे ज्यादा भाग्यवान् होंगे—यद्यपि अपने वेधों का फल जानने में उन्हें हमारी अपेक्षा ज्यादा समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। बृहस्पति ग्रह के ज्योतिषी को हमारी काल गणना के १२ वर्षों तक अपने वेध के फल को जानने के लिए इन्तिजार करना होगा। परन्तु वह जिस नतीजे पर पहुँचेगा वह हमारे प्राप्त परिणाम से पाँच गुना ज्यादा ठीक होगा। शनि ग्रह के ज्योतिषी को यद्यपि हमारे ३० वर्षों के समय तक प्रतीक्षा करनी होगी परन्तु उसका परिणाम करीब १० गुना ज्यादा ठीक होगा। जिन तारों का लम्बन पृथ्वी से देखे जाने पर सिर्फ ०″०८ है, उन ग्रहों के ज्योतिषी को वह अपनी दूरी ठीक उसी तरह बतला देंगे जैसे कि प्रोक्जिमा सैंटारी तारा अपनी दूरी हमें बतला देता है। उन बड़े ग्रहों के ज्योतिषी अनन्त आकाश के जितने विस्तार को लम्बन की मापों के द्वारा खोज सकेंगे वह हमारे द्वारा इसी तरीके से खोजे गये विस्तार का १ हजार गुना होगा।

छठा परिच्छेद

तारों के भ्रमण-शील झुण्ड और डोपलर का सिद्धांत

दूर, बहुत दूर, अनन्त की गोद में भीषण वेग से भाग-दौड़ करनेवाले तारों की हमारी पृथ्वी से दूरी नापने के लिए हमने 'लम्बन' parallax के माप-दण्ड का सहारा लिया था। पिछले परिच्छेद में हम यह बता आये हैं कि इस माप-दण्ड के आधार पर किस प्रकार कुछ तारों की दूरियाँ आँकी गईं। अब तो हम और भी कुछ ऐसे तरीकों को जान गये हैं जिनसे उन तारों के लम्बनों को बिना जाने भी उनकी दूरियाँ आँक सकते हैं, यद्यपि यह सब तरीके तारों की दूरियों को बताने में स्वयं कुछ प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते, फिर भी वह हमें ऐसे कुछ सूत्र दे देते हैं, जो इस काम में हमारी अत्यधिक सहायता करते हैं। इनका वर्णन हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

फिलहाल हम अन्य दो महत्वपूर्ण तरीकों पर विचार करना चाहते हैं जो यद्यपि थोड़े तारों पर ही लागू पड़ते हैं फिर भी 'लम्बन' के तरीके पर आश्रित न होने के कारण अत्यन्त महत्व के हैं। सूर्य के चारों ओर घूमती हुई पृथ्वी अपनी १८ करोड़ मील का भ्रमण-कक्षा की आधार-शिला यदि हमें न भी देती तो भी यह तरीके काम आते। लम्बन के तरीके की जाँच के लिए

यह बड़े कीमती साधन हैं। यह दोनों साधन हैं, डोपलर का सिद्धान्त और द्विक्‌तारे।

भ्रमण-शील ताराझुण्डों की दूरियां बतानेके साथ-साथ डोपलर का यह सिद्धांत हमें विश्व के भयजनक, दुरूह और जटिल फैलाव को आसानी से समझने में भी मदद देता है, जिसको हम आगे चलकर, बारहवें परिच्छेद में समझावेंगे।

पहिले हमें यह देखना है कि तारों के यह भ्रमणशील झुण्ड क्या हैं? पांचवें परिच्छेद में हम यह तो पहिले ही कह आये हैं कि कुछ तारों को हम अपनी सहूलियत के लिए 'स्थिर तारे' अथवा 'पृष्ठभूमि के तारे' कहते हैं—सिर्फ इसीलिये, ताकि हम घुमक्कड़ ग्रहों से अलग उनको बखूबी पहिचान सकें। सच तो यह है कि वह तारे भी उतने ही घुमक्कड़ हैं। हाँ, यह बात तो जरूर है कि वह भिन्न-भिन्न दिशाओं में भागते हैं और उनके कोणीय वेग भी अनेक हैं। उन तारों के यह निजी या व्यक्तिगत वेग हैं। अनन्त शून्य के किसी एक भाग में खूब तेजी से भाग-दौड़ करने वाले उन तारों के निजी वेगों को यदि हम एक नक्शे पर छोटे-छोटे तीरों के रूप में अङ्कित करें तो हम देखेंगे कि इधर-उधर बिखरे से इन तीरों में कुछ तो ऐसे हैं जो सब के सब एक ही बिन्दु की ओर चलते से नजर आते हैं। नीचे हम दो रेखाचित्र २२ और २३ दे रहे हैं।

इन दोनों रेखाचित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होगा कि चित्र २२ में बहुत से तीर है जो आकाश के किसी एक खास

भाग के तारों के द्योतक है। इन तारों की निजी गतियों को सही तौर पर जान भी लिया गया है। प्रत्येक तीर की लम्बाई उस
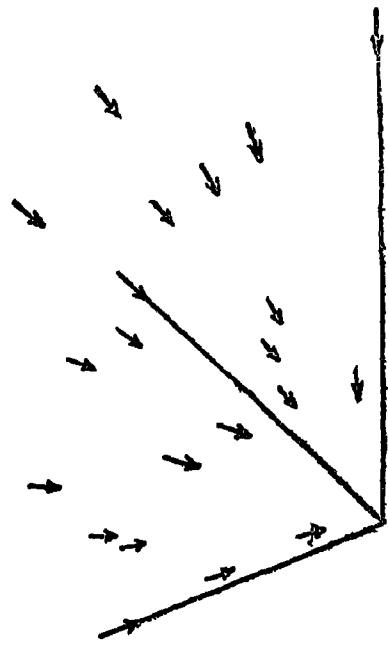
रेखाचित्र २२ रेखाचित्र २३

तारे की गति के एक निश्चित अनुपात में है। जो तारा आज अपने द्योतक तीर की पूँछ पर है वही, यदि उसकी गति ऐसी ही बनी रहे तो, आज से १००० वर्ष बाद उस तीर के सिरे पर जा पहुँचेगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि इन रेखाचित्रों में दिये हुए तारों के नक्शे काल्पनिक ही हैं। वास्तव में यह आकाश के किसी एक खास भाग के सही चित्रण नहीं है।

रेखाचित्र २३ सिर्फ थोड़े से उन्हीं तारों को दिखलाता है जिनके द्योतक सारे तीर एक ही बिन्दु की ओर दौड़ रहे हैं।

इस चित्र के यह सब तारे ही मिलकर अपना एक भ्रमणशील झुण्ड बनाते हैं। पहिली नजर में तो ऐसा मालूम होता है मानो यह सब तारे आपस में एक होड़ बदकर एक निश्चित ध्येय की ओर एक दूसरे से पहिले पहुंचने की धुन में छलांगे मारते भाग रहे हैं। परन्तु यह कल्पना तो स्पष्टतः हास्यास्पद ही है। एक ही बिन्दु की ओर दौड़ते से दिखने वाले इन तारों की गतियों को ठीक-ठीक समझने के लिए तो और ही कहीं देखना होगा। यह मान लिया जाता है कि यह सब तारे समानान्तर मार्गों पर ही दौड़ रहे हैं। एक ही लक्ष्य-बिन्दु की ओर दौड़ते से जो यह दिखाई देते हैं, वह तो महज एक दृष्टि-भ्रम ही है।

यह महज एक दृष्टि-भ्रम है इस बात को ठीक तरह समझाने के लिये हम एक उदाहरण देते है। मान लीजिये, हवाई जहाजों का एक बेड़ा कतार बांधकर आकाश में उड़ रहा है। एक जगह खड़े होकर हम इस बेड़े को देख रहे हैं। उड़ते हुए हवाई जहाज हम से दूर-दूर चले जा रहे हैं। आकाश में उनके मार्गों को हम देख रहे है। नीचे रेखा-चित्र २४ में हम हवाई जहाजों के एक उड़ते हुए बेड़े को एवं अपने पीछे घने होते हुए धुएँ के जो गोट छोड़ते वह जा रहे हैं उनको दिखला रहे है।

जो छोटी-छोटी रेखायें एक दूसरी की ओर दौड़ती हुई-सी दिखलाई गई है वह उस दूरी का बोध कराती हैं जितनी उस एक ही समय में इस योजना हीन सी कतार के जहाजोंने तै की है। सभी पथ एक ही बिन्दु की ओर लुढकते से मालूम होते

है। यह बिन्दु इतना दूर है कि जब यह सब जहाज उस तक पहुंचते हैं तो सारा का सारा ही बेड़ा एक बिन्दु के रूप में सिमटा हुआ-सा दीख पड़ता है। एक ही बिन्दु की ओर इनका दौड़ते से दिखाई पड़ना दृष्टि का एक भ्रम ही है।

यदि कोई दर्शक किसी एक बहुत ऊँचे उड़ते हुए जहाज में बैठा हो और वहाँ से वह कतार बांधकर उड़ते हुए इन जहाजों को देखे तो उसे यह जहाज और उनके पथ ठीक ऐसे दिखाई देंगे जैसे कि रेखा-चित्र २५ में।
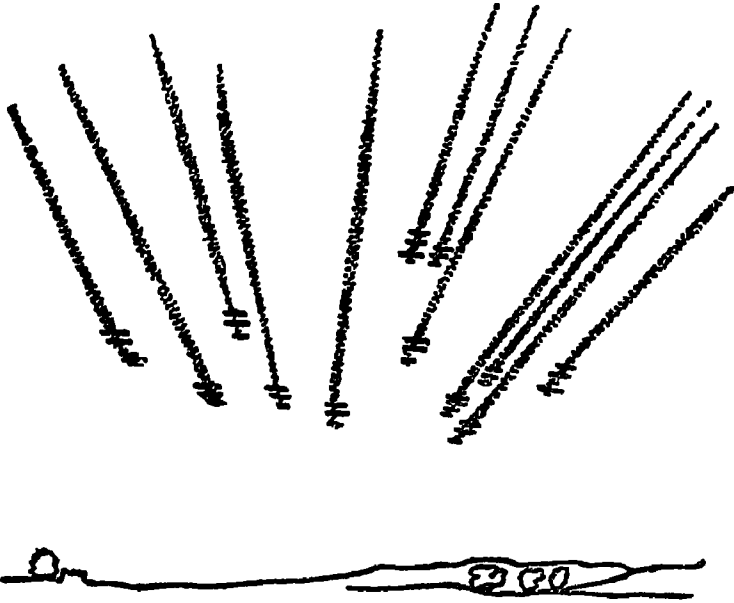
रेखाचित्र २४

इस चित्र में दर्शक की स्थिति "द" बिन्दु पर है। सभी पथ समानान्तर हैं। सवाल उठता है कि जमीन पर ही एक स्थान "द" पर खड़े होकर देखने से क्या हम रेखा-चित्र २५

को खींच भी सकेंगे। जरूर; यदि हमें इन हवाई जहाजों के स्थलीय वेगो का (स्थल पर दौड़ने के उनके वेगों का) ज्ञान हो और एक निश्चित समय के अन्तर से हम इन जहाजों के दो फोटो चित्र भी ले सकें। छाया चित्रों में व्यवहार किए जाने वाले
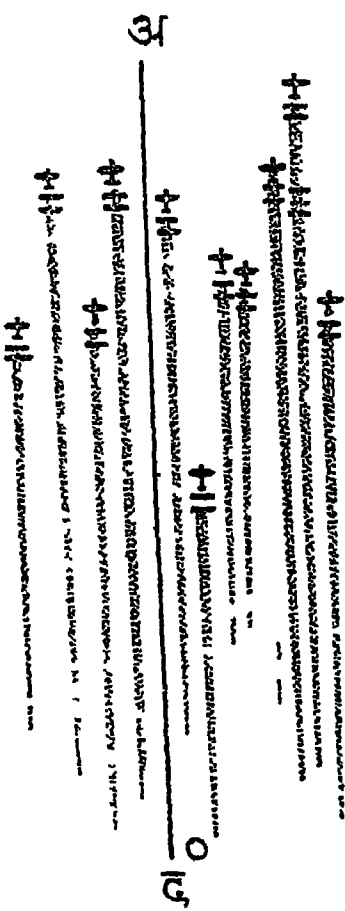
रेखा-चित्र २५
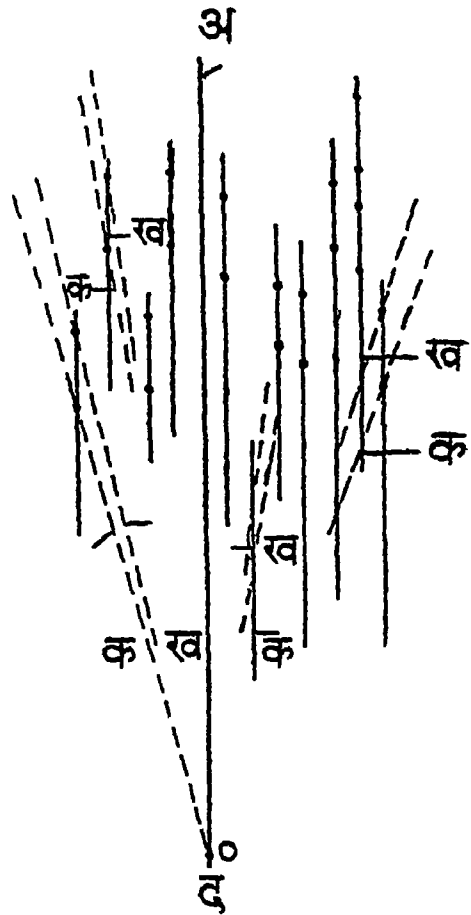
रेखा-चित्र २५-अ

फिल्मों को काम में लेकर हम यह पूरी जानकारी पा सकेंगे। इन फिल्मो के द्वारा एक सेकन्ड के २४ वें भाग के फर्क से कुछ चित्र खींच कर ही हम यह जान सकेंगे। इस प्रक्रिया में हमें

इन जहाजोंके पथो को देखना न होगा। इस फिल्म के दो फ्रमों को, जो एक दूसरे से २४ फ्रेमों के अन्तर पर हों, एक साथ मिलाकर छापने से हम रेखा-चित्र २६ की तरह का एक खाका वना पाएँगे। इन छाया-चित्रों से यदि हम कुछ रेखायें खींचे, तो वह एक दूसरी को "अ" बिन्दु पर काटेंगी। पृथ्वी की सतह पर की कुछ वस्तुओं की अपेक्षा में यदि हम इनकी परीक्षा करे, तो जान सकेंगे कि यह बिन्दु "अ" दक्षिण—दक्षिण-पश्चिम की ओर है। हम जान जाते है कि रेखा-चित्र २५ में रेखा "अ" किधर है।
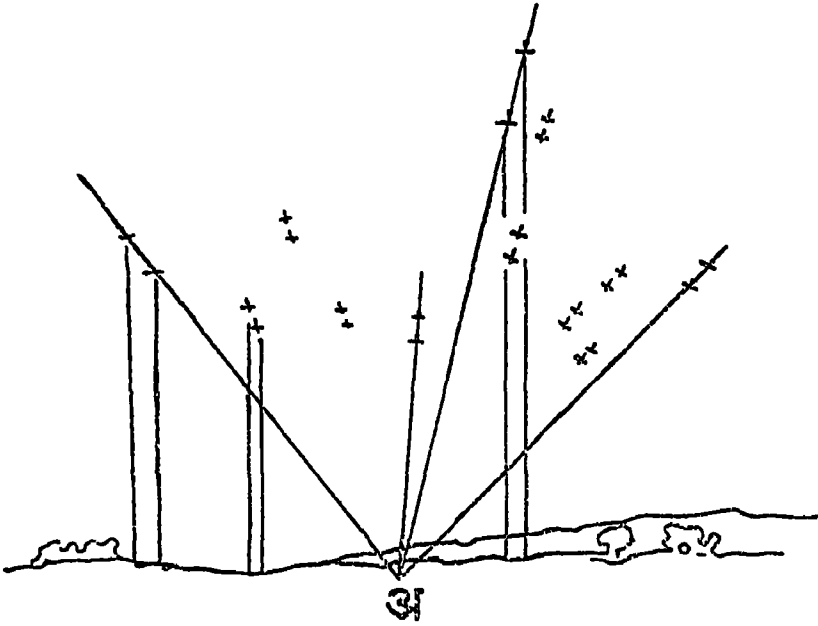
रेखा-चित्र २६

सभी जहाज इस रेखा के समानान्तर ही उड़ रहे है। फोटोग्राफ पर ही हम (रेखा-चित्र २६) बिन्दु "अ" और प्रत्येक

जहाज के ठीक सीधे नीचेकी ओर के बिन्दु के बीच की कोणीय दूरी को नाप लेते हैं। ऐसा करने पर हम रेखा-चित्र २५-अ से मिलती-जुलती रेखाएँ खींच सकेंगे। हम जानते हैं कि प्रत्येक जहाज इस नक्शे की रेखाओ में से किसी एक पर ("क" पर) था जब कि पहली फ्रेम ली गई; और दूसरी एक सेकन्ड बाद, दूसरी फ्रेम लिए जाने के समय, इनमें से किसी दूसरी रेखा ("ख") पर था। यह जान लेने पर कि एक सेकन्ड में यह हवाईजहाज उड़कर ३५० फीट दूर चला गया है, इन रेखाओं के प्रत्येक जोड़े पर बिन्दु "क" के समानान्तर ३५० फीट की दूरी नापने पर हम इन दोनों रेखाओं के ठीक बीच उस जहाज की स्थिति जान सकेंगे। इस तरह प्रत्येक जहाज की, इन दोनों ही क्षणों में, ठीक स्थितियाँ निश्चित हो जाती हैं और किसी एक क्षण में प्रत्येक जहाज की "द" बिन्दु से दूरी को हम नक्शे पर नाप भी सकते हैं। वास्तव में यह नापी गई दूरी पृथ्वी पर उस स्थान की होगी, जो उस समय उस जहाज के ठीक नीचे होगा। यही बात रेखा-चित्र २५ और २५-अ से साफ जाहिर है।

यह सारी बातें निर्भर करती हैं हमारे इस ज्ञान पर कि हवाईजहाज प्रति सेकन्ड कितने फीट के वेग से उड़ रहे हैं। इस वेग को जानने वाली उनकी यह गति एक लम्बी एवं सीधी रेखा में ही होनी चाहिए। उनके कोणीय वेग अथवा आकाश में दिखनेवाले उनके वेगों की जानकारी के भरोसे हम कोई परिणाम नहीं निकाल सकते। ठीक इससे मिलता-जुलता ही भ्रमणशील

तारो के झुण्डों का हाल है। परन्तु जब तक हम पृथ्वी की सापेक्षता में तारों की प्रति सेकन्ड मीलों अथवा किलोमीटरों में गति के वेग को न जान सकें, तारों के इन झुण्डो के विषय में हमारी जानकारी में आगे नहीं बढ़ सकेंगे। यह तो सच है कि उनकी इन गतियों के ज्ञान के बिना भी हम रेखा-चित्र २५-अ की तरह का एक नक्शा किसी एक झुण्ड के प्रत्येक तारे के विषय में खींच सकेंगे, परन्तु इस नक्शे के पैमाने को नहीं जान सकेंगे। जब तक हम पृथ्वी से सूर्य की दूरी को मीलों अथवा किलोमीटरो में नहीं जान पाए थे, तब तक सौर-मण्डल की भी यही स्थिति थी। हम सौर मण्डल को एक नक्शेपर बिल्कुल-सही खींच तो सकते थे, परन्तु इसके पैमाने का सही मान हमें नहीं मालूम था।

डोपलर के सिद्धान्त की मदद से अब बहुत आसानी से तारों की गतियों के इन वेगों को जान सकते हैं। डोपलर एक भौतिक वैज्ञानिक था जिसने इस सिद्धांत को जन्म दिया था।

डोपलर के इस सिद्धान्त के एक पहलू से तो हम भली प्रकार परिचित हैं। हम किसी एक रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़े हैं। खूब तेजीसे दौड़ती हुई एक रेलगाड़ी धड़धड़ाती हुई हमारे पास होकर सीटी बजाती हुई निकल जाती है। रेलगाड़ी का एञ्जिन ज्यों-ज्यों हमारे पास से होकर आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी सीटी की आवाज की तेजी क्रमशः धीमी पड़ती जाती है। सीटी देता हुआ एञ्जिन जब तक हमारी ओर बढ़ता आता है सीटी की आवाज भी तेज और अधिक तेज होती जाती है ;

परन्तु हमारे पास से होकर आगे बढता हुआ यह एञ्जिन ज्यों-ज्यों हमसे दूर भागता चला जाता है, सीटी की आवाज भी त्यों-त्यों धीमी पड़ती जाती है। यह तो हम जानते हैं कि आवाज हवा में कम्पनशील लहरों को पैदा करती हैं। रेलगाड़ी के एञ्जिन की सीटी की तेजी में पड़ते हुए जिस फर्क का हम ऊपर जिक्र कर आये है उसका कारण ठीक यही है। मान लीजिए कि सीटी की आवाज, जैसा कि रेलगाड़ी का चालक (ड्रायवर) सुनता है, हवा को प्रति सेकन्ड ५५० कम्पन के हिसाब से कँपा रही है। वास्तव में, भौतिक-विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि आवाज की फड़कनें Frequency प्रति सेकन्ड ५५० है। शब्द की गति का वेग ११०० फीट प्रति सेकन्ड माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेलवे एञ्जिन के सीटी वजाने वाले पुरजे से नाप कर ११०० फीट की दूरी तक एक बराबर दूरी की ५५० लहरें होती हैं। इस तरह प्रत्येक लहर की लम्बाई २ फीट होती है। मान लीजिए कि सीटी बजाने वाला एञ्जिन का यन्त्र ५० फीट प्रति सेकण्ड के हिसाब से हमारी ओर बढा चला आ रहा है। ऐसा करने पर वह अपने द्वारा पैदा की गई इन लहरों को पकड़ता और दवाता भी आ रहा है। प्रत्येक नया कम्पन, अपने से तुरन्त पहिले के कम्पन की अपेक्षा, हमारे अधिकाधिक पास आने वाले $\frac{५०}{११००}$ फुट अथवा आधा इञ्च से कुछ थोड़े ही ज्यादा फासिले के बिन्दु से उत्पन्न होता आ रहा है। इसके परिणाम स्वरूप इन कम्पनों

से हवा में होने वाली लहरों की लम्बाई भी प्रति दो फीटों से उतनी ही कम होती जाती है परन्तु इनकी फड़कनें उतनी ही अधिक बढती जाती हैं। हवा में आवाज की गति का वेग तो वही प्रति सेकण्ड ११०० फीट ही है। क्योंकि ११०० फीट के दायरे में इन छोटी लहरों की संख्या अधिक होती जाती है इसलिए इनकी प्रति सेकण्ड संख्या भी बढती जाती है। इसी कारण एञ्जिन के चालक की अपेक्षा सीटी की आवाज हमें ज्यादा तेज सुनाई देती है। हम महसूस करते हैं जैसे कि इसकी फड़कने ५६२.८ प्रति सेकण्ड हैं। इसी तर्क एवं गणना को लेकर यदि हम उलटे चले तो जान सकेंगे कि एञ्जिन का सीटी देने वाला यन्त्र ज्यों-ज्यों हमसे दूर आगे की ओर निकलता जाएगा त्यों-त्यों उसकी आवाज की तेजी भी क्रमशः धीमी होती जावेगी। हम यह भी जान सकेंगे कि अमुक समय यह कितनी धीमी पड़ी। डोपलर का सिद्धान्त ठीक यही है।

इसके पहिले कि हम इस सिद्धान्त को तारों पर लागू करें एक बार फिर रेखाचित्र २४, २५ और २६ के हवाई जहाजो की ओर लौट पड़ते हैं। हमने मान लिया था कि इन जहाजों की गति के वेगों को हम जानते है, परन्तु हमने वहाँ यह निर्देश नहीं किया था कि किस प्रकार हम इन वेगों को जान सके। यदि कोई दूसरा अच्छा साधन नहीं हो तो भी सीटियों और ट्यूनिंग-फोकों (एक यन्त्र जो चोट करने पर एक खास ध्वनि उत्पन्न करता है) की मदद से हम इन वेगों को नाप सकेंगे। मान लीजिए

कि प्रत्येक जहाजमें एक निर्दिष्ट तेजीकी आवाज पैदा करनेवाली सीटी लगी हुई है। हमारे पास कई ट्यूनिगफोर्क अथवा कई ऐसे ही अन्य साधन हैं जिनसे हम आवाजों की तेजी जान सके। जब जब हवाई जहाज हमारी ओर आता है, उसमें लगी सीटीकी आवाजकी बढती हुई तेजीको हम जान सकते हैं। इसी प्रकार जबजब यह हमसे दूर-दूर आगे की ओर उड़ा जाता है, सीटी की आवाज की तेजी भी क्रमशः गिरती जाती है जिसे हम इन ट्यूनिंग फोर्कों की मदद से जान सकते हैं। ऊपर दिए हुए तर्क के जरिये हम इस हवाई जहाज की प्रति सेकण्ड फ़ीटों में गति के वेग को जान सकते हैं। सच तो यह है कि जब कभी हवाई जहाज ठीक हमारी सीध में उड़ता हुआ हमारी ओर आता है अथवा हमारी सीध में ही उड़ता हुआ हम से दूर जाता है और उस समय उसमें लगी सीटी की आवाज की तेजी या धीमेपन को लेकर हम उसकी गति का जो वेग जान पाते हैं वह बिल्कुल ठीक उतरता है। परन्तु जब यह ठीक हमारी सीध में न होकर जरा इधर उधर उड़ता हुआ हमारी ओर आता या हमसे दूर जाता है उस समय हम इसके वेग के सिर्फ उसी भाग को जान सकते हैं जो उस रेखा की सीध में, जो हमको उस जहाज से जोड़ती है, उड़ान भरते हुए इसका होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अमुक वेग से इस जहाज की हमसे एक सीधी रेखा में दूरी बदल रही है।

जिस क्षण यह जहाज ठीक हमारे सिर पर होता है, हम

कह सकते हैं कि इसकी हमसे दूरी बदल नहीं रही है। ठीक उस क्षण इसने हमारी ओर बढना तो बन्द कर दिया है परन्तु हमसे आगे की ओर दूर जाना भी शुरु नहीं किया है। यही बात उस जहाज पर भी लागू होती है जो हमारे ठीक सिर पर होकर नहीं उड़ रहा है। जिस क्षण हमको इस जहाज से जोड़ने वाली रेखा इस जहाज की उड़ान की रेखा पर एक समकोण बनाती है, ठीक उस क्षण यह जहाज न तो हमारी ओर आता ही है और न आगे की ओर हम से दूर ही चला जाता है। उस क्षण इस जहाज में लगी सीटी जो आवाज फेंकती है और जब यह आवाज हम तक पहुँचती है, उसकी तेजी ठीक वही होती है, जैसी कि वह विमान-चालक के द्वारा सुनी जाती है। इस क्षण से कुछ थोड़ी ही देर पहिले या बाद में हमारी ओर आने या हम से दूर जाने की इसकी गति का वेग छोटा होता है और इस कारण इस सीटी की जो आवाज हम सुनते हैं, उसकी तेजी में जो अन्तर आता है वह भी छोटा होता है। यही कारण है कि जब हम किसी रेलवे स्टेशन के प्लैटफार्म के किनारों से पीछे की ओर हट कर खड़े हों और तेजी से दौड़ती हुई कोई रेलगाड़ी प्लैटफार्म के पास से होकर गुजरती हो, उस समय वहाँ खड़े-खड़े यदि हम उस रेलगाड़ी के एञ्जिन की सीटी की आवाज सुनें तो जैसे-जैसे सीटी बजाने वाला एञ्जिन हमारे पास से होकर आगे बढ़ता जाएगा सीटी की आवाज की तेजी में भी उसी क्रम से धीरे-धीरे परिवर्तन होता जाएगा। यदि हम प्लेटफार्म के

किनारे के पास खड़े हों तो सीटी की आवाज की तेजी में जो परिवर्तन होगा वह इतना धीरे-धीरे न होगा।

हवाई जहाजों के उदाहरण को लेकर जो बातें हम ऊपर कह आये हैं उस पर अब हम इस बातको लागू करते हैं। कुछ व्यावहारिक कारणों को लेकर हम माने लेते हैं कि इनमें से सिर्फ एक ही हवाई जहाज में सीटी लगी हुई है। रेखाचित्र २७ में हम हवाई जहाज की वह स्थिति दिखलाते हैं जो प्रथम फोटो लेते समय ठीक उस क्षण की है। उस क्षण सीटी की आवाज की तेजी में जो गिरावट हुई उसको हम जान लेते हैं। मानलीजिए
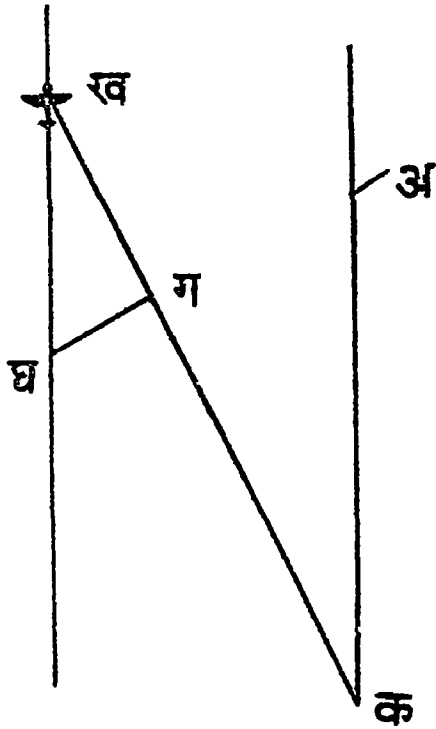
रेखा-चित्र २७

कि यह ३०० फीट प्रतिसेकण्ड के वेग के आस-पास है। परन्तु

यह तो सिर्फ वही वेग है जिस पर उस क्षण रेखा "क ख" लम्बी बढती जा रही है। अब हम रेखा "अ" के समानान्तर अपने मार्ग पर उड़ते हुए हवाई जहाज के वेग को जानने के लिए इस रेखा-चित्र के नक्शे पर "ख" से ३०० मिली मीटर दूर एक बिन्दु "ग" को खोज लेते हैं। रेखा "क ख" पर हम एक लम्ब "ग घ" खींचते हैं जो इस हवाई जहाज के मार्ग को "घ" बिन्दु पर काटता है। स्पष्ट है कि अपने मार्ग पर उड़ते हुए हवाई जहाज की गति का वेग "ख घ" दूरी की मिलीमीटरों की संख्या के बराबर है,

जैसा कि हम पिछले परिच्छेदों में लिख आये हैं, व्यवहारतः यह सब परिणाम हम गणनाओं द्वारा ही प्राप्त करते है, रेखा-चित्रों एवं नक्शों के द्वारा नहीं। बात को स्पष्ट समझाने के लिए ही हमने इन रेखा-चित्रो का प्रयोग किया है।

अब हम तारों की ओर लौटते है जो हमारे मुख्य विषय हैं। यह तो सच है कि तारे हम तक कोई आवाज तो नहीं भेजते; हाँ, हमारी ओर वह अपने प्रकाश को तो जरूर ही फेंकते हैं। इस प्रकाश में ही कुछ ऐसे सूराग होते हैं जो इसकी लहरों की लम्बाई या फड़कनें frequencies पकड़ने में हमारी मदद करते हैं।

प्रकाश एक किश्मकी गतिशील लहरों का बना होता है। इसकी फड़कनों (एक निश्चित समय में होने वाले कम्पनों का सँख्या) और इसकी लहरों की लम्बाइयों में ठीक वैसाही एक

सम्बन्ध होता है, जैसा कि ध्वनि की लहरों में। यह तो हम बता ही आये हैं कि ध्वनि की गति का वेग ११०० फीट प्रति सेकण्ड है। इसलिए अगर इसकी फड़कने ५५० हैं, तो इसकी एक लहर की लम्बाई, $\frac{११००}{५५०}$=२ फीट होगी। वास्तव में; वेग और कुछ नहीं, सिर्फ फड़कनों और लहर की लम्बाई का गुणनफल ही (५५०×२=११००) है, ठीक यही बात प्रकाश पर भी लागू है। उसकी फड़कनो frequencies को उसकी लहर-लम्बाई से गुणा करने पर उस प्रकाश का वेग निकल आता है।

बेतार wireless की लहरें भी प्रकाश की तरह ही हैं; फर्क सिर्फ इतना ही है कि बेतार की लहरों की लम्बाई बहुत ज्यादा बड़ी है और उनकी फड़कनें बहुत ही थोड़ी हैं। रेडियो-स्टेशनों के छपे हुए प्रोग्रामों में प्रत्येक ध्वनिक्षेपक transmitter की फड़कनें और लहर-लम्बाइयाँ दी जाती हैं। फड़कनें प्रायः किलो-सायकलो में दी जाती हैं। १००० कम्पनों का एक किलो सायकल होता है। लहर-लम्बाई प्रायः मीटरों में दी जाती है। अगर हम इन दोनों संख्याओं को एक दूसरे से गुणा करें और फिर उस गुणनफल की संख्या को १००० से गुणा करें तो प्रत्येक हालत में गुणनफल ३००,०००,००० या इसके आस पास ही होगा। बेतार की लहरों और प्रकाश-लहरों का प्रति सेकण्ड मीटरों में यही वेग है। मानलीजिए कोई एक रेडियो ब्रोड-कास्टिंग स्टेशन ३४२.१ मीटर पर ८७७ किलोसायकलों की फड़कनों से ध्वनिक्षेपण कर रहा है। जैसा हम ऊपर कह आये

हैं एक किलोसायकल १००० कम्पन का होता है। इन तीनो संख्याओ का गुणनफल २६६,०२१,७०० है। दूसरा एक प्रोग्राम दो लहर-लम्बाइयों पर प्रसारित किया जा रहा है। यह है १५०० मीटर (२०० किलो सायकल) एवं २६१.१ मीटर (११४६ किलोसायकल)। दोनों को ही अलग-अलग गुणा करने पर (मीटर × किलोसायकल × १०००) हमें गुणनफल की दो संख्यायें क्रमशः ३००,०००,००० और ३००,००३,६०० प्राप्त होती है।

बिजली के बल्ब की रोशनी में अथवा किसी अन्य ठोस वस्तु की, जो खूब गर्म हो चुकने पर सफेदी पकड़ लेती है, रोशनी में फड़कनों का एक मिला-जुला झुण्ड-सा होता है। परन्तु हमारी आँखें इनमें के सिर्फ एक अष्टक को ही पकड़ पाती हैं। इसका मतलब यह है कि बैंगनी प्रकाश की फड़कनें लाल प्रकाश की फड़कनों की करीब दूनी होती हैं। इस अष्टक में एक किनारे पर तो लाल प्रकाश की फड़कने होती हैं और दूसरे किनारे पर होती हैं बैंगनी प्रकाश की फड़कने। इन दोनों ही प्रकाशों की फड़कनों के बीच और भी ५ रङ्गों के प्रकाशों की फड़कनें रहती हैं; इस प्रकार यह होती हैं ७ किस्म की फड़कने। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, बैंगनी प्रकाश की फड़कनें लाल प्रकाश की फड़कनो की दूनी होती है, इसलिए ७ की इस संख्या को बढ़ाकर यह एक अष्टक बना देती है। इस अष्टक में और भी सभी फड़कने रहती है, जो असंख्य होती हैं; शर्त सिर्फ यही है कि वह सब इस एक अष्टक में समा सकें।

कांच के बने झाड़-फानूसों को तो आपने देखा ही होगा। पुराने रईसों की बैठकों और महफिलों में यह छतों में लटकाए जाते थे। इनमें जगह-जगह तीन पहलुओं की छोटी-छोटी कांच की फलियाँ लगी रहती हैं; इन्हें त्रिफलक कहते हैं। अब, प्रकाश को यदि हम ऐसे एक त्रिफलक के द्वारा देखें तो यह प्रकाश भिन्न-भिन्न किस्मों के ७ रङ्गों में बँटा दिखाई देगा। इसके एक छोर पर तो लाल रङ्ग की फड़कनें होंगी और दूसरे छोर पर होंगी बैंगनी रङ्ग की। इन दोनों रङ्गों के बीच क्रमशः होंगी (लाल छोर से) नारंगी, पीले, हरे, आसमानी और नीले (बाद में बैंगनी) रङ्गों की फड़कनें।

तारों के एवं सूर्य के, क्योंकि यह भी एक तारा ही है, प्रकाश में कुछ ख़ास फड़कनें गायब रहती हैं; इसलिए उनका प्रकाश बिजली बत्तीके प्रकाशसे कुछ थोड़ा भिन्न होता है। यह खोई हुई फड़कनें उस तारेके ठण्डे बाहरी खोल या "चमड़ी"के भीतर रहने वाले कई तत्वों द्वारा निगल ली जाती है। तारों के इन बाहरी ठण्डे खोलों को वर्णमण्डल (Chromosphere) कहते हैं। इन कुछ फड़कनो को निगल लेनेवाले तत्व है; हाइड्रोजन, कैल्सियम, लोहा, सोडियम एवं कई और। यह सब तत्व ठीक वही हैं जो हमारी पृथ्वी पर पाये जाते है। पृथ्वी पर अपनी प्रयोग-शालाओं में जब हम इन तत्वों के टुकड़ों को गर्म करते हैं तो वह ठीक उन्हीं फड़कनों के प्रकाश को जन्म देते हैं जिनको कि वह इन तारों के खोलों या वर्णमण्डलों में बैठे रहकर मजे में निगल लेते हैं।

वर्णपटदर्शक (Spectroscope) एक यन्त्र है; इसमें कांच के त्रिफलक (Prism) लगे रहते है। तारों से आती हुई रोशनी को पकड़ कर यह यन्त्र उन्हें इन्द्रधनुषी रङ्गो के झुण्ड में फैला देता है। इस इन्द्रधनुषी झुण्ड को वर्णपट (spectrum) कहते हैं। इस वर्णपट में वह लुप्त फड़कनें सॅकड़ी, काली रेखाओं के रूप में अपनी झलक देती हैं। इन काली रेखाओं को फ्रौन हूफर की रेखाएँ कहते है, क्योंकि फ्रौन हूफर (Fraun Hofer) ने ही सर्वप्रथम इनका अध्ययन किया था।

लोहे के एक टुकड़े को हम बिजली द्वारा खूब गर्म कर लेते हैं। गर्म होने पर यह टुकड़ा प्रकाश देने लगता है। इस प्रकाश को हम वर्णपटदर्शक में से प्रसारित करते हैं। हमको देखना यह है कि इस प्रकार उत्पन्न हुई चमकीली रेखाये तारों के वर्ण-पट की काली रेखाओं की स्थिति के साथ पूर्णतः ठीक बैठती हैं या नहीं। यदि वह ठीक बैठती हैं, तब तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह तारा न तो हमारी ओर बढ़ा चला आ रहा है और न हमसे दूर आगे की ओर भागा ही जा रहा है। यदि वह ठीक नहीं बैठतीं परन्तु, पृथ्वी पर हमारी प्रयोगशाला के लोहे के टुकड़े से निकलने वाली चमकीली किरणों की तुलना में, वर्णपट के लाल प्रकाश वाले किनारे की ओर हटी हुई हैं तो हम यह नतीजा निकालते हैं कि वह तारा हमसे दूर-दूर चला जा रहा है। अगर यह हटाव इस वर्णपट के नीले भाग (ऊँची फड़कनों का किनारा) की ओर है तो हम जान जाते हैं कि

तारा हमारी ओर बढ़ा चला आ रहा है। इस हटाव का नाप एवं उसपर आधारित गणनाओं द्वारा हम प्रति सेकन्ड मीलों अथवा किलोमीटरो में इन तारों के हमारी ओर आने अथवा हमसे दूर भागने की गतियों का वेग जान सकते हैं; ठीक उसी तरह जिस प्रकार ऊपर दिए उदाहरण में रेलवे एञ्जिन की सीटी की आवाज की तेजी द्वारा हम यह जान सके थे कि वह एञ्जिन किस वेग से हमारी ओर आता या हमसे दूर भागता है। कहना न होगा कि यह कोणीय वेग न होकर सीधी रेखा का वेग ही होगा। इस प्रकार जिन वेगों को हम जान पाते हैं उन्हें हम "दृष्टि-रेखा वेग" (sightline velocities) कहते है। जब हम किसी एक तारे को देखते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि हमारी आँखे उस तारे पर एक सीधी रेखा में पड़ती हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हमारी आँखों और उस तारे को जोड़ने वाली उस सीधी रेखा के एक छोर पर तो हमारी अपनी आँखें हैं और उसके दूसरे छोर पर वह तारा है। इसे 'दृष्टि-रेखा' कहते हैं। वास्तव में यह एक कल्पित रेखा ही है। इस रेखा पर बिल्कुल सीधे हमारी आँखों की ओर अथवा उसी रेखा पर आगे की ओर वह तारा जिस वेग से भागता होता है, उसे 'दृष्टि-रेखा-वेग' कहते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि प्रकाश के वेग की तुलना में तारों के वेग इतने छोटे होते हैं कि यह हटाव वर्णपट की सम्पूर्ण लम्बाई का एक बहुत ही छोटा अंश होता है।

हमने हवाईजहाजो का उदाहरण देकर जो प्रक्रिया समझाई है, उसके द्वारा हम किसी भी एक झुण्ड के सभी तारों की दूरियें जान सकते है। जहाजो के विषय में हमने ध्वनि या आवाज का सहारा लिया था; इन तारों के विषय में हम प्रकाश का आश्रय लिए लेते हैं। जहाजों के वेग जहाँ प्रति सेकन्ड कई सौ फीट थे, उनकी जगह तारों के वेग प्रति सेकन्ड कई किलोमीटर होंगे। जहाजों के उदाहरण में जहाँ ध्वनि की फड़कनें ५०० या उसके आस-पास थी, वहाँ प्रकाश की फड़कनें प्रति सेकन्ड कई लाख होंगी और सेकन्डों की अवधि की जगह होंगी कई शताब्दियाँ। जो हो, सिद्धान्ततः प्रक्रिया ठीक वही होगी।

रेखा-चित्र २५ में तो हमने उस स्थिति को दिखाने का प्रयास किया था, जैसी कि वह ऊँचे उड़ते हुए एक हवाईजहाजसे दिखाई पड़ती। इसलिए हमने वहाँ तो नीचे उड़नेवाले जहाजी बेड़े के एक जहाज के ठीक नीचे जमीन पर के स्थानों की स्थितियो एवं दूरियोंको काममें लिया था। परन्तु तारोंके विषयमें तो हमें स्वयं उन तारों की ही दूरियाँ जाननी हैं; इसलिए भ्रमणशील झुण्ड के प्रत्येक तारे को लेकर हमें अलग-अलग विचार करना होगा। ऐसा करने में हमें रेखा-चित्र २३ के उस मिलन-बिन्दु से प्रत्येक तारे की सच्ची और ठीक कोणीय दूरी लेनी होगी। यदि हम नक्शों द्वारा इस प्रश्न को हल करना चाहें तो रेखा-चित्र २५ और २५-अ के बजाय हमको रेखा-चित्र २७ की तरह के अनेक नक्शे बनाने होंगे।

झुण्ड बनाकर चलने वाले तारों की जो दूरियां इस परिच्छेद में दी हुई प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त की गई हैं, उनकी पुष्टि लम्बनों के द्वारा किए गये नापों एवं कई अन्य प्रयोगों से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह दोनों ही प्रक्रियायें एक दूसरी की जांच-सी करती हैं। इस जांच का जो परिणाम निकलता है, उससे उनकी समानान्तर गति की धारणा की ही पुष्टि होती है।

इस पुस्तक के तीसरे परिच्छेद में हमने सौर-मण्डल के ग्रहों की दूरियोंको लम्बन के तरीके से आंक कर उनकी सत्यता की जांच के लिए कई अन्य प्रयोगों का भी उल्लेख किया था। वर्णपटदर्शक की सहायता से जिन 'दृष्टि-रेखा' वेगों को हम प्राप्त करते हैं, वह भी इनकी सत्यता की जांच के एक और साधन हैं। सूर्य के चारों ओर चक्कर मारते हुए शुक्र के एक पूरे चक्कर की अवधि को तो हम जानते ही हैं। इस ग्रहके हमारी पृथ्वी की ओर आने और दूर भागने की गति के वेग को हम वर्णपट दर्शक की मदद से आंक सकते है और इस जानकारी को लेकर एक मामूली-सी जोड़ बाकी की क्रिया द्वारा हम इस ग्रह की कक्षा की परिधि को मीलों या किलोमीटरों में जान सकते है। इसी प्रकार सौर-परिवार के अन्य ग्रहों के मानों को भी हम प्राप्त कर सकते हैं। बहुत वर्षों पहिले जे. एवरशेड ने इसी तरीके से सूर्य के लम्बन का मान हासिल किया था। तत्कालीन खगोल-शास्त्रियों ने उसे

अपर्याप्त या बहुत ही थोड़ा करार दे दिया था। स्पेंसर जोन्स ने ईरोस ग्रह के वेधों द्वारा, जिनका वर्णन हम पाँचवे परिच्छेद में कर चुके हैं, हाल में इस लम्बन का जो मान निकाला है, एवरशेड का उक्त मान उससे कितनी साम्यता रखता है?

सूर्य अपनी धुरी पर अपने ही चारों ओर जो चक्कर मार रहा है, उसके समय की अवधि भी हमें मालूम है। सूर्य की आमने-सामने की पालियों की मध्य-रेखा के बिन्दुओं के एक ओर आने एवं वहाँ से दूर हटने के वेगों को नापा जा सकता है। इन नापों के द्वारा सूर्य की परिधि का मान तुरन्त जान लिया जा सकता है। क्योंकि जनवरी महीने में पृथ्वी सूय के अधिकतम नजदीक रहती है और जुलाई महीने में अधिकतम दूर; इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ष के पहिले आधे भाग में तो यह सूर्य से दूर भागती रहती है (अप्रेल महीने में तो सर्वाधिक तेजी से) ओर दूसरे आधे भाग में सूर्य के प्रति इसका प्रेम मानो उमड़ पड़ता है और यह तब उसकी ओर आतुर-सी दौड़ने लगती है। अक्टूबर महीने में तो यह अधिक तेजी से छलांगें भरने लगती है, जब कि इसका अनुराग मानों पराकाष्ठा पर पहुँच गया होता है। पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण उस पर रहने वाला कोई भी दर्शक उगते हुए सूर्य की ओर सम्मुख जाता-सा एवं छिपते हुए सूर्य से विमुख जाता-सा दिखता है। वर्णपट दर्शक की सहायता से यह सभी चालें पकड़ी और नापी जा सकती हैं। यह तो सच है कि सूर्य से

सम्बन्धित पृथ्वी की इन चालों के द्वारा वर्णपट की रेखाओं का हटाव बहुत ही सूक्ष्म होता है और इसलिये यह वर्णपट बिल्कुल सही मान तो नहीं दे सकता; परन्तु जहाँ तक इसकी सामर्थ्य है, यह दूसरे साधनों से प्राप्त निष्कर्षों की जाँच कर उन्हें पुष्ट तो कर ही देता है।

इसके पहिले कि हम इस विवेचना को खत्म करें, हमें रेखा-चित्र २७ में दिए गये तर्कों की एक गलती स्वीकार करनी है और उसे दुरुस्त भी करना है। यह तो एक तथ्य है कि प्रकाश की चाल की अपेक्षा ध्वनि बहुत ही धीमी चाल से चलती है। इसलिये जिस क्षण हम किसी एक खास बिन्दु पर रेखा-चित्र २७ के हवाई जहाज को देखते हैं, उस क्षण तक उस बिन्दु से चली इसकी सीटी की आवाज हमारे पास पहुंची नहीं है— यह हमारी ओर भागी तो जरूर चली आ रही है। ठीक तो यही होगा कि उस जहाज को किसी एक बिन्दु पर देखने के बजाय उसकी सीटी की आवाज सुनकर ही हम उसकी स्थिति निर्धारित करे। झुण्ड बाँधकर घूमने वाले तारों के विषय में तो हम अकेले द्रुतगामी प्रकाश की ही मदद लेकर उनके वेगों को जानने के लिये उनकी स्थितियाँ निर्दिष्ट करते हैं; इसलिये यहाँ कोई गलती होने की सम्भावना नहीं रहती।

द्विक् तारे

अब हम लगे हाथ द्विक् तारों The Binary stars से भी निबट लेना चाहते हैं। यहाँ पर यह लिख देना जरूरी है

कि यह तारे "जोड़े तारों" Double Stars से भिन्न हैं। प्रसङ्ग जब आ ही गया है, तो पहिले हम इन "जोड़े तारों" के विषय में ही दो शब्द लिख देते हैं।

आकाश-गंगा के असंख्य तारो में कुछ थोड़े ही तारे ऐसे है, जैसा कि हमारा सूर्य, जो अकेले ही घूमना पसन्द करते है। वास्तव में; तीन चौथाई से अधिक तारे तो एक या एक से भी अधिक तारों को साथ लेकर ही घूमना चाहते हैं। उनकी इस मित्रता का आधार होता है उनका एक ही गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र के चारो ओर घूमना। जोड़े बना कर या और भी बड़े गिरोह बाँधकर घूमने वाले तारो में एक बात आम तौर पर देखी जाती है ; जो तारे आपस के खिंचाव की शक्ति के कारण बदरूप हो जाते हैं, वह अपनी कक्षाओं पर अपने ही चारों ओर घूमते रहने के साथ-साथ अपने मित्रो के चारों ओर भी शीघ्रता से घूमते रहते हैं। अपने इस शीघ्र वेग के कारण ही वह अपने बाहर की गैसों ;को अनन्त आकाश में चारो ओर बिखेरते चलते हैं। ऐसा करते हुए वह अपने आपको इन गैसों के एक गोल या कोणाकार घेरे में बन्द कर लेते हैं।

सबसे पहिले ऐसा जो तारा देखा गया था, वह था मिजार तारा The mizar जो सप्तर्षि मंडल के आकार की दुम पर है। यह एक गुणित तारा Multiple star है—अर्थात् इसके साथ एक से अधिक तारे हैं। इसके दो साथी तारों को तो हम नंगी आँखों से भी देख सकते हैं। नीले रङ्ग का दैत्याकार लुब्धक

तारा sirius या श्वान तारा Dog Star अपने साथ एक घने और सफेद बौने तारे को, जिसे "पिल्ला" The pup कहते हैं, लिए रहता है। यह "पिल्ला" तारा आकार में पृथ्वी से ज्यादा बड़ा नहीं है। इन जोड़े तारों में सबसे बड़ा तारा है "एप्सीलन औरीगा" Epsilon Aurigae जिसमें पीले रंग का एक अति दैत्य तारा है जो डील-डौल में सूर्य का २५० गुना मोटा ताजा है। उसके साथ ही उससे भी ज्यादा विशाल-काय एक तारा और भी है। जो ठण्डा और काले से रङ्ग का है; फिर भी उसका व्यास सूर्य के व्यास का ३०० गुना है। पोलरिस तारे Polaris में वास्तव में ३ तारे हैं। कैस्टर तारे castor में ६ तारे है।

तारों के यह जोड़े या अधिक बड़े वर्ग अनेक कारणो से बन जाते हैं। आज का माना हुआ सिद्धान्त तो यही कहता है कि अधिकांश जोड़े या गुणित तारे उन बवण्डरों के सम्मिलित प्रभाव के कारण बने हैं जो इस विश्व की रचना की शुरूआत में बने गैसीय बादलों में लगातार उठते रहे थे।

अब हम यह बता देना चाहते हैं कि द्विक् तारों और "जोड़े तारों" में परस्पर क्या भेद है। अगर एक "जोड़े तारे" को बनाने वाले दोनों ही साथी तारे एक दूसरे के चारों ओर अपनी-अपनी अलग भ्रमण-कक्षाओं पर घूमते देखे जावें तो उन दोनों को ही, एक सम्मिलित रूप में, एक द्विक् तारा a binary star कहते हैं। जोड़े तारों में इस प्रकार की कोई कक्षा सम्बन्धी

गति नहीं देखी जाती ; इसलिये हो सकता है कि एक जोड़ा तारा दो ऐसे तारों का बना हो जो एक दूसरे से काफी दूर हों परन्तु दिखाई पड़ते हों विल्कुल पास-पास, महज इसी कारण कि वह दोनों हमारी दृष्टि की करीब-करीब एक ही रेखा में हैं।

अब हम द्विक् तारों की बात छेड़ते हैं।

किसी एक द्विक् तारे का पूरा चक्कर देख लेने के बाद उसकी आभासित कक्षा को खींचा जा सकता है। आरम्भ में एक बार हम मान लेते है कि उस जोड़े का अधिक चमकीला तारा तो स्थिर है और दूसरा मन्द प्रकाश वाला उसका दोस्त तारा मानो उसकी सेवा-सुश्रूषा में तत्पर चल-फिर रहा है। उनमें से कुछ तारों की भ्रमण-कक्षाएँ तो अपने चौड़े कलेवर को हमारे सामने खोले हुए-सी हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारी दृष्टि की रेखा इस कक्षा की सतह पर एक लम्ब-सा (Perpendicular) बनाती हुई पड़ती है। दूसरे कुछ द्विक्-तारों की कक्षाएँ जरा लजीली हैं। वह सिर्फ अपने किनारों को ही हमें देखने देती हैं अर्थात् हमारी दृष्टि-रेखा इन कक्षाओं की करीब-करीब सतह में ही है। इस हालत में वर्णपटदर्शक यन्त्र अपने द्वारा फेंके गये वर्णपट की रेखाओं के हटाव से इस साथी तारे की गति के प्रति सेकन्ड मीलों अथवा किलोमीटरो में वेग को बता देता है—न केवल यही, अपितु उस ज्यादा चमकीले दूसरे तारे के वेग को भी बता देता है। क्योंकि यह चमकीला तारा वजन एवं आकार में अपने साथी से भारी-भरकम पड़ता है,

इसलिए यह अपने हलके-फुलके साथी की तरह इतनी तेजी से तो नहीं घूमता, फिर भी घूमता तो है जरूर; ठीक ऐसे ही, जैसे कि हमारी पृथ्वी चन्द्रमा से ८० गुना ज्यादा भारी होने पर भी उसके आकर्षण के वश हो एक छोटी कक्षा में घूमती है।

एक द्विक् तारे के पूरे एक चक्कर का समय हम जानते हैं और उसका वेग भी। इस प्रकार हम उसकी कक्षा का वास्तविक व्यास गणना द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हमने ऐसी ही जानकारियों के आधार पर शुक्र तारे की कक्षा के व्यास का ज्ञान हासिल किया था। इस द्विक् तारे को बनाने वाले दोनों ही मित्र तारों पर यह प्रक्रिया की जा सकती है और इसलिए एक ही गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र के चारों ओर घूमते हुए इन दोनों तारों की सही कक्षाओं को हम जान सकते हैं। यह जानकारी हमें और आगे बढ़ाकर इन दोनों ही तारों की द्रव्य-मात्रा (Mass) का आपसी अनुपात भी बता देती है। प्रक्रिया ठीक वही है, जो हमने चन्द्रमा और पृथ्वी की द्रव्य-मात्रा के अनुपात निकालने में काम में ली थी।

यही नहीं, बड़ी आसानी से इस द्विक्-तारे की हमसे दूरी आँकी जा सकती है। यह बात हमारे मौजूदा दृष्टिकोण से बड़ी ही महत्व की है। पिछले परिच्छेदों में ऐसी प्रक्रियायें हम कई बार कर चुके हैं। वेधों द्वारा हम इसकी भ्रमण-कक्षा के कोणीय व्यास को तो जान ही जाते हैं और इस कक्षा के व्यास को हम मीलों अथवा किलोमीटरों में जान लेते हैं। इन दोनों ही सूत्रों

को पकड़ कर हम तुरन्त ही इस द्विक्-तारे की दूरी निकाल सकते हैं।

उदाहरण के लिए, हम मान लेते हैं कि इस द्विक् की कक्षा का कोणीय व्यास ५" विकला है और वास्तविक व्यास १०० खगोलीय इकाइयाँ हैं। हम पहिले ही बता चुके है कि कोई एक वस्तु अपने वास्तविक व्यास से २०६,२६५ गुनी दूरी से देखो जाने पर १" विकला कोणीय व्यास दिखाती है। इसलिए इस उदाहरण के द्विक् तारे की दूरी उसके सही या वास्तविक व्यास की $\frac{२०६,२६५}{५}$ गुनी है; अर्थात् वह $\frac{२०६,२६५}{५}$×१००=४१२५३०० खगोलीय इकाइयाँ हैं। इस दूरी को ही लम्बन में भी प्रकट कर सकते हैं; तब हम कहेंगे कि इस द्विक् का लम्बन ०".०५ है, अर्थात् एक विकला का बीसवाँ भाग।

अब यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि इस दूरी के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमने परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से लम्बन की मापों का बिल्कुल सहारा नहीं लिया है। यदि हम किसी एक भी तारे के लम्बन का नाप न लेते तो भी औसत आकार के किसी भी एक द्विक् तारे की दूरी ऊपर दी गई प्रक्रिया द्वारा पा सकते थे। इसलिए भ्रमणशील तारा-पुञ्जों की तरह ही जो कुछ थोड़े से द्विक् तारे अब तक हमें मालूम हो सके हैं, वह लम्बन की प्रक्रिया पर एक जांच समिति का सा काम देते हैं। यह जानकर सन्तोष होता है कि इन दोनों ही प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त निष्कर्ष, तुलना करने पर, एक दूसरे से हूबहू मिल जाते हैं।

अब तक हम जिन द्विक् तारोंका जिक्र करते आये है, उनको बनाने वाले प्रत्येक तारे को हम 'दूरबीन से एक दूसरे से अलग भी देख सकते हैं। परन्तु इन तारों की एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी है, जिनमें यह दोनों तारे एक दूसरे के इतने नजदीक हैं कि बड़ी-से-बड़ी शक्तिशाली दूरबीन से देखने पर भी वह एक दूसरे से अलग नहीं देखे जा सकते। उनकी सही कहानी तो वर्णपट-दर्शक यन्त्र ही कहता है, जो आकाशीय शोध में एक बहुत ही शक्तिशाली और महत्वपूर्ण साधन है। कहानी कहने का इसका सिर्फ एक ही तरीका है—वर्णपट की रेखाओं का हटाव ही बताता है कि हमारी दृष्टि की सीधी रेखा में ही उस दृश्य-पिण्ड की गति हो रही है। कुछ तारों के वर्णपटों में तो यह रेखाएँ एक दूसरी की विरुद्ध दिशाओं में, एक के बाद एक हटी हुई, दिखती हैं। इनके हटावों के समय की अवधियाँ नियमित रहती हैं। कई तारे ऐसे हैं, जिनके दो भिन्न-भिन्न वर्णपट देखे जाते हैं। प्रायः यह दो भिन्न किस्मों के होते हैं। कभी-कभी यह एक दूसरे में मिले से रहते हैं, जब कि किन्हीं वर्णपटों में यह रेखायें दूनी देखी जाती हैं। परन्तु रेखाओं का यह एक दूसरी में मिल जाना या दूनी दिखाई पड़ना एक बँधे हुए नियम से ही होता है।

जब एक ही द्विक् तारे के दो वर्णपट भिन्न किस्मों के होते हैं, तो उनमें से एक वर्णपट में रेखाओं के दुगुनी होने के समय की अवधि में उसपर की रेखाएँ उसके लाल छोर की ओर हटी

रहती हैं, तो ठीक उसी अवधि मे, वही रेखाएँ दूसरे वर्णपट में उसके नीले छोर की ओर हटी रहती हैं। इस दुगुनी होने की अगली कालावधि में यह क्रम उलट जाता है—प्रथम किस्म के वर्णपट की रेखा जहाँ नीले छोर की ओर हटी रहती है, वहीं दूसरे वर्णपट की रेखायें रहती हैं लाल छोर की ओर। यह फेर-बदल एक पूर्ण नियमितता के साथ होता रहता है।

इन हटावों का सिर्फ एक ही अर्थ है—इस द्विक् में दो तारे हैं, जो एक दूसरे के चारों ओर चक्कर मार रहे हैं।

जिन द्विकों के सिर्फ एक ही वर्णपट बनते हैं, उनके विषय में हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि इन द्विकों के जोड़ों में एक तारा तो बहुत चमकदार है और दूसरा है बहुत ही मन्द चमक का। इस दूसरे तारे की फीकी-मन्दी रोशनी को इसका ज्यादा प्रकाशवान मित्र दबा-सा लेता है।

प्राय: ऐसे ही द्विक् तारों की बहुतायत देखी जाती है, जो अपने वर्णपटों में इस प्रकार के हटावों या दुगुना होने के गुणों को ही ज्यादातर प्रकट करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि इनकी भ्रमण कक्षाएँ हमारी दृष्टि रेखा के पथपर झुकी होकर कोई भी कोण बनाती हुई पाई जा सकती हैं—कुछ तो अपनी कक्षा की चारों ओर की चौड़ाई को हमारी ओर किये रहते हैं; कुछ अपनी कक्षाओं को किनारों के बल हमारी दृष्टि की बिल्कुल सीध में खड़ी रखते हैं और बाकी दूसरे द्विक् हमारी दृष्टि रेखा पर सभी सम्भव कोण बनाती हुई कक्षाएँ रखते हैं।

इनमें से हम सिर्फ उन्हीं द्विक् तारों की गतियों के, उनके वर्णपटों पर पड़े हुए, प्रभावों को देख सकते हैं जिनकी भ्रमण-कक्षाएँ हमारी दृष्टि की उन तक गई हुई सीधी रेखाओं पर अपेक्षाकृत लघुकोण (Acute Angles) बनाती हों। इसलिए यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि इन तारों की एक बहुत बड़ी संख्या इसी जाति की है। इनको हम वर्णपटीय द्विक् तारे कह सकते हैं।

साधारणतः इन वेधों से हम विशेष लाभ नहीं उठा पाते, क्योंकि वर्णपट की रेखाओं के हटाव से हम इनके जो वेग निर्धारित करते हैं, हो सकता है कि, वह शायद उनके वास्तविक कक्षीय वेगों के कोई एक अंशमात्र ही हों। हमारी दृष्टि-रेखाओं पर उनकी भ्रमण-कक्षाओं की सतहें कितने अंशों का कोण बनाती हुई खड़ी हैं, यह हम अभी तक नहीं जान पाये हैं।

जो कुछ हो, कुछ द्विक् तो ऐसे है ही जिनकी कक्षाएं करीब-करीब किनारों के बल ऊपर की ओर खड़ी हुई हैं; ऐसे किसी एक द्विक को बनाने वाले तारों में से एक तारा अपने प्रत्येक निजी भ्रमण काल में हमारे और अपने दूसरे साथी तारे के बीच होकर निकलता है। यदि हम यह भी मान लें कि यह दोनों ही मित्र तारे ठीक एक-सी दीप्ति एवं डीलडौल के हैं, तो भी उनकी रोशनी को हम तक पहुंच पाने में काफी फेर-बदल करनी पड़ती है। यदि दोनों ही तारे अपनी कक्षाओं की पूरी परिधियों को हमारी ओर किए हुए हों तो हम उन दोनों के ही प्रकाशों को पा सकेंगे; परन्तु जब इनमें का कोई एक तारा

दूसरे के ठीक आगे (हमारी तरफ) आ जाय तो हम, उस समय तक जब तक वह उसके आगे रहेगा, सिर्फ एक ही तारे का प्रकाश पाते रहेंगे। जब इनमें का एक तारा, जो डीलडौल में दूसरे के बिल्कुल बराबर या उससे कुछ बड़ा भी हो परन्तु साथ ही अपने मित्र की अपेक्षा प्रकाश में मन्द हो, उस दूसरे तारे के आगे आ जाय, तो इस द्विक् की जो सम्मिलित रोशनी हमें मिलती रही थी, उसमें बहुत ज्यादा कमी आ जावेगी। जब वही ज्यादा चमकीला तारा अपने मन्द प्रकाश के मित्र के आगे आवेगा, तो हम तक पहुंचने वाली इस द्विक् की रोशनी में बहुत ही थोड़ी कमी आवेगी। इस किस्म के तारों का वर्णन हम अगले परिच्छेद में भी करेंगे।

अपने साथी तारों को ढंकने वाले इनद्विकों की घटती बढ़ती रहने वाली चमक ने ही सर्व प्रथम खगोलज्ञों का ध्यान इनकी ओर खींचा था। इनके प्रकाश की घटा-बढ़ी का रहस्य भी वर्णपट दर्शक ने अब खोल कर रख दिया है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य सिर्फ एक ही महत्वपूर्ण बात है और वह यह कि, क्योंकि इन तारों मे यह जो एक दूसरे को कुछ समय के लिए ढँक लेने की आदत पाई जाती है इस लिए हम निःसन्देह यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इनकी कक्षाएं अपनी परिधियों के किनारो पर ऊपर की ओर खड़ी हैं या करीब-करीब ऐसी हैं; यह भी कि डोपलर के सिद्धान्त के अनुसार इनकी गतियों के जो वेग हम निकालते हैं वह ठीक वही हैं जिन वेगों से इनके

अङ्गभूत तारे अपनी-अपनी अलग कक्षाओं पर दौड़ते रहते हैं। इस निष्कर्ष ने प्रकाश-वक्रताओं light-curves (इनका वर्णन हम आगे रेखा चित्र २८ में करेंगे) के अध्ययन के साथ मिल कर नाक्षत्रिकों को इन द्विकों के बारे में और भी कई आश्चर्य-जनक जानकारियाँ दी हैं : द्विक् बनाने वाले किन्ही दो तारों के केन्द्र एक दूसरे से कितनी मील या किलोमीटर दूर हैं ; इन दोनों साथी तारों की संयुक्त द्रव्य-मात्रा combined mass कितनी है ; इनमें से प्रत्येक का व्यास कितना है ; हमारी दृष्टि-रेखा पर इनकी कक्षाओं की सतहें कितनी झुकी हुई है ; इत्यादि। द्विकों के तारों के आकार भी पकड़े जा चुके हैं। कई तारे तो अण्डाकार देखे गये हैं न कि गोल। इतनी सारी जानकारी, और वह भी बावजूद इस बात के कि द्विक् तारे बड़ी से बड़ी दूरबीन द्वारा देखे जाने पर भी प्रकाश के सिर्फ बिन्दु से दिखाई पड़ते हैं ! सत्य ही, वर्णपट दर्शक एक गजब की चीज है।

किसी एक द्विक् के अंगभूत तारों के बीच की दूरी को जबतक हम कोणीय माप के रूप में न जान लें तबतक उस द्विक् की दूरी को उस प्रक्रिया द्वारा नहीं जान सकते जिसका उपयोग हम उन द्विकों के विषय में करते हैं जिनके दोनों तारे दूरबीन से देखे जाने पर अलग-अलग स्पष्ट दिखते हैं। परन्तु खगोलज्ञों के पास एक दूसरी प्रक्रिया और भी है जो इस जगह काम देती है। वह है एडिंटन द्वारा आविष्कृत द्रव्य-मात्रा-दीप्ति का सम्बन्ध

(mass-luminosity relationship)। अनेक प्रयोगों के बाद एडिङ्गटन को मालूम हुआ कि सभी तारे, जो एक खास द्रव्य-मात्रा के हैं, एक ही तरह की आन्तरिक दीप्ति intrinsic luminosity भी रखते हैं; यह भी कि द्रव्य-मात्रा एवं आन्तरिक दीप्ति के बीच एक सीधा सा सम्बन्ध है जिसे संख्या में प्रकट किया जा सकता है। सभी तारों पर यह सम्बन्ध एक समान लागू होता है। जिन द्विकों की दूरियाँ नाप कर जानी जा चुकी थीं उनके ही अध्ययनों पर द्रव्य-मात्रा और आन्तरिक दीप्ति का यह सम्बन्ध कायम किया गया था। इसलिए यह नहीं कह सकते कि इस सिद्धान्त को बनाने में लम्बन-मापों का कोई हाथ नहीं। जो कुछ हो, इस सिद्धान्त की मदद से हम उन द्विक् तारों की आन्तरिक दीप्तियाँ और दूरियाँ जान सकेंगे जिनके अङ्गभूत तारे एक दूसरे को समय-समय पर ढँकते रहते हैं; चाहे स्वयं द्विक् तारे लम्बन की नाप की पहुच से कितने ही परे हों। अगले परिच्छेद में हम इस प्रकार की कोशिश करेंगे।

सातवाँ परिच्छेद

तारोंकी दूरियों को जानने के कुछ परोक्ष साधन

कुछ ऐसे तरीके हैं जो तारों की दूरियों को नापने और जानने में हमारी कोई प्रत्यक्ष मदद तो नहीं करते फिर भी चलते-चलाते इस काम में कुछ हाथ तो बँटा ही लेते हैं। इन सब तरीकों में एक आधारभूत समानता है और वह यह कि जिन तारों के लम्बनों को नाप कर हम उनकी दूरियों को जान चुके है उन सबके एक ही रूप के कुछ पहलुओं को पकड़ कर यह सब तरीके चलते हैं। ज्योंही हमारे पास कुछ विश्वसनीय लम्बनों की एक समुचित संख्या हो गई, हमने इस तरह के पहलुओं की खोज भी शुरू कर दी। एक कल्पित उदाहरण के द्वारा इस बात को हम बड़ी आसानी से समझ सकेंगे। मान लीजिए कि कुछ तारों की दूरियाँ हम जान चुके हैं। हम यह भी जान चुके हैं कि इन तारों की हमें दिखाई पड़ने वाली चमकें इनकी दूरियों के वर्ग के विपरीत अनुपात में घटती बढ़ती रहती हैं। इसलिए कोई एक तारा जो दूसरे किसी तारे की अपेक्षा हमसे दुगुनी दूरी पर है, उस दूसरे तारे की चमक से सिर्फ एक चौथाई चमक ही देगा। वही तारा उस दूसरे तारे से यदि तिगुनी दूरी पर हो तो हमें वह उस दूसरे तारे की चमक की

ं चमक ही देगा, इत्यादि। इस आधार पर निःसन्देह हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि एक ही दूरी से देखे जाने पर यह सभी तारे एक समान चमक ही देंगे और यह भी कि वास्तव में इन सबका आन्तरिक प्रकाश एक समान ही होगा—उनकी प्रकाश-शक्ति एकसी ही होगी। यदि हमारी जानी हुई दूरियों के तारों में इस नियम का कोई एक भी अपवाद नहीं मिले तो हम बिना किसी हिचकिचाहट के यह धारणा बना सकते हैं कि जो तारे हमसे इतने अधिक दूर हैं कि हम उनके लम्बनों को भी नहीं नाप सकते, उन पर भी यह नियम ठीक वैसा ही लागू पड़ेगा। तब तो सचमुच खगोल ज्योतिषियों को बहुत ही आसानी हो जायगी। उन्हें तो सिर्फ प्रत्येक तारे की दिखाई पड़ने वाली चमक ही नाप लेनी होगी, बाकी सारा काम तो अङ्कगणित की सीधी-सादी क्रियायें ही भुगता देंगी। काश ऐसा ही होता?

परन्तु, बात इतनी सीधी नहीं है। विश्व प्रकृति ने अपनी बनावट में अनेक भयावह उलझनें डाल रक्खी हैं। तारों में अनेक प्रकार की आन्तरिक चमकें पाई जाती हैं। एक मोटी सी गणना के हिसाब से ही यह कहा जा सकता है कि चमकीले तारों की एवज़ में मन्द-प्रकाश के तारे ज्यादा दूर हैं।

तारों की आधारभूत एकरूपता के जिन पहलुओं का हम ऊपर जिक्र कर आये हैं, उनमें का एक पहलू जो सबसे पहिले खोज निकाला गया था वह यह था कि जिन तारों के वर्णपटों

में कुछ एक ही से खास निश्चित गुण पाये जाते हैं वह सब, कुछ सीमाओं तक, एक जैसा ही आन्तरिक प्रकाश भी रखते हैं। यह तो हम पहिले ही स्पष्ट कर आये हैं कि जब हम किसी भी एक तारे की रोशनी को वर्णपटदर्शक के द्वारा एक सतरङ्गी पट्टी में फैलाकर उस रोशनी की भिन्न-भिन्न फड़कनों को देखते हैं, तो हम एक ही नजर में देख लेते हैं कि उस झुण्ड में कुछ फड़कनें गायब हैं। सूर्य की रोशनी के वर्णपट में जो फड़कनें गायब-सी पाई जाती हैं, उनकी संख्या तो गिनने पर हजारों तक जा पहुँचती है। अपनी जगह वह कुछ निशान तो अवश्य छोड़ जाती हैं और वह निशान हैं उसके वर्णपट की पट्टी को पार करती हुई काली-काली रेखायें। इनमें की कुछ रेखायें तो बहुत ही काली एवं प्रमुख रहती हैं। कुछ दूसरी हलका काला रंग लिये रहती हैं जो कहीं-कहीं तो एक जगह एक गिरोह-सा बाँधे रहती हैं, तो अन्यत्र वह कुछ दूर-दूर छिटकी-सी रहती हैं। यह रेखायें कई भिन्न-भिन्न तत्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये तत्व हैं हाइड्रोजन हीलियम, लोहा मैग्नीसियम इत्यादि। हाइड्रोजन का प्रतिनिधित्व करने वाली काली रेखाओं की एक माला-सी होती है जो इस वर्णपट के पराकासनी ultra-violet छोर की ओर तो आपस में खूब सटी हुई सी रहती है और उसके लाल किनारे की ओर अलग-अलग बिखरी हुई-सी। कैल्सियम हमारी पृथ्वी पर के खनिजों, चूने और चाक, का प्रधान तत्व है। सूर्य के वर्णपट में इसका प्रतिनिधित्व करती हैं

दो काली रेखायें जो एक दूसरी से काफी दूर रहती हुई भी स्पष्ट झलकती हैं और इस वर्णपट के गहरे नीले हिस्से में रहती हैं। लोहे की प्रतिनिधि काली रेखा तो समूचे वर्णपट में ही फैली रहती है।

किसी एक तारे के वर्णपट में आसानी से पहिचानी जा सकने वाली रेखाओं के तत्वों की संख्यायें सभी तारों में एक-सी नहीं रहती। कुछ तारों के प्रकाश में तो हाइड्रोजन-रेखाओं का वाहुल्य रहता है। कुछ दूसरों के प्रकाश में यह रेखायें गायब रहती हैं। इनमें जो रेखायें प्रमुख रहती हैं, वह मूल तत्वों की न होकर मिश्र तत्वों की होती है जैसे कि कुछ धातुओं के ओक्साइडों की। सूर्य का वर्णपट इन दोनों के बीच का है। यद्यपि इसमें हाइड्रोजन रेखायें मोजूद तो रहती हैं फिर भी वह वहुलता से नहीं रहतीं। इसकी ज्यादातर रेखायें कई धातुओं की हैं। यह न समझ लेना चाहिये कि जिस तारे के प्रकाश के वर्णपट में सिर्फ हाइड्रोजन रेखायें ही दिखाई पड़ें उस तारे में सिर्फ हाइड्रोजन तत्व ही होगा और जिसमें हाइड्रोजन रेखा न दिखाई दे, उसमें यह तत्व होगा ही नहीं। वर्णपटों में जो यह फर्क दिख पड़ते हैं, उनका कारण इन तारों की भौतिक स्थितियाँ ही हैं अर्थात् इनके तापमान और दवाव। एक हाइड्रोजन तारा (जिसमें सिर्फ हाइड्रोजन की रेखायें ही दिखाई पड़ें) वड़े ऊँचे तापमान पर होता है। इसका यह ऊँचा तापमान ही दूसरे तत्वों की रेखाओ को वर्णपट पर उभरने नहीं देता।

धातुओं के ओक्साइडों की तरह के मिश्र तत्व अपेक्षाकृत नीचे तापमान पर ही रह सकते हैं।

अधिकांश मनुष्य, जिनको इस विषय के अध्ययन का कभी कोई अवसर नहीं मिला, यह धारणा बनाये रखते हैं कि सूर्य सिर्फ इसीलिए ही गर्म है क्योंकि वह जलता है। यदि कोई भौतिक वैज्ञानिक उनको यह बतलावे कि सूर्य इतना अधिक गर्म है कि वह जल नहीं सकता, तो यह सुनकर उन मनुष्यों को बहुत ही आश्चर्य होगा और शायद वह इस बात पर विश्वास भी न करें। परन्तु सत्य वास्तव में यही है। जब कोई चीज जलती है, तो वह जलकर अन्त में ऐसे मिश्र तत्व बनाती है जो हाइड्रोजन और कार्बन को ओक्सीजन तत्व के साथ मिलाने से बनते हैं। जब कोयले की गैस जलती है तो इसकी हाइड्रोजन वायु के आक्सीजन में मिलकर हाइड्रोजन की ओक्साइड या, साफ शब्दों में, हमारे पीने का पानी बनाती है। इस हाइड्रोजन ओक्साइड या पानी की प्रत्येक इकाई molecule मे हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन का एक परमाणु होता है। रासायनिकों की सूत्रीय भाषा में यह "हा२ओ" H_2O है। कोक (जा ज्यादातर कार्बन ही है) जब जलाया जाता है, तो आक्सीजन के साथ मिल कर कार्बन डायोक्साइड carbon dioxide (CO_2) बनाता है, जिसकी प्रत्येक इकाई में कार्बन का एक परमाणु और आक्सीजन के दो परमाणु रहते है। इस प्रकार बने इन दोनों ही मिश्र तत्वों को यदि हम काफी ऊंचे

तापमान तक खूब गर्म करें तो इनको बनाने वाले परमाणु संतप्त होकर एक दूसरे का साथ छोड देते हैं और फिर लौटकर अपने अपने तत्वों के अलग-अलग शुद्ध परमाणु बन जाते हैं। पानी की मिश्रित इकाई तो टूटकर हाइड्रोजन और आक्सीजन के एवं कार्बन डायोक्साइड की इकाई कार्बन और आक्सीजन के अलग-अलग परमाणुओं में बदल जाती है। दूसरे रासायनिक मिश्र तत्वों पर भी यही बात लागू होती है। सूर्य का तापमान प्राय: सभी रासायनिक मिश्र तत्वों के "विशृङ्खल तापमान" dissociation temperature (जिस तापमान पर यह मिश्र तत्व टूटकर अपने मूल रूपों में बदल जाते हैं) से काफी ऊंचा हैं। इस कारण सूर्य के पिण्ड में इन तत्वों को एक दूसरे के साथ मिलकर मिश्र तत्व बनाने की फुर्सत ही नहीं मिलती। इसीलिये कहा जाता है कि सूर्य इतना ज्यादा गर्म है कि यह जल नहीं सकता।

अब हम अपने प्रस्तुत विषय की ओर लौटते हैं। जिन तारों की दूरियें एवं उनकी दिखाई पड़ने वाली चमकें जानी जा चुकी हैं, उनके वर्णपटों के गहरे अध्ययन से मालूम हुआ है कि उनकी आन्तरिक दीप्तियों एवं उनके वर्णपटों की कुछ रेखाओं की गहराइयों के आपसी अनुपातों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध है। यह बात तो आसानी से समझ में आ जावेगी कि यदि हम कुछ तारों की दिखाई पडनेवाली दीप्तियां अथवा उनकी कान्ति magnitude और साथ ही उनकी दूरियाँ भी जान पावें तो

उनकी मदद से हम उनकी (तारों की) आन्तरिक दीप्तियाँ intrinsic brightnesses भी हिसाब लगाकर निकाल सकेंगे। खगोल विज्ञान में इन आन्तरिक दीप्तियों को उन तारों की पूर्ण कान्तियाँ absolute magnitudes भी कहते हैं। किसी एक तारे की पूर्ण कान्ति की खगोलीय परिभाषा है वह कान्ति (दिखाई पड़ने वाली चमक) जो उस तारे को १० पार्सेकों की दूरी से देखने पर मालूम होती है। पार्सेक, जैसा कि हम पाँचवें परिच्छेद में बता चुके हैं, खगोलीय दूरी नापने की एक इकाई है जो १ विकला लम्बन के किसी भी पिण्ड की दूरी के बराबर है। यह तो स्पष्ट है कि जो तारा हमसे ५ पार्सेक दूर है और वहाँ रहकर जो चमक देता है, यदि वही तारा १० पार्सेकों की दूरी पर चला जाय तो वहां रहकर उसकी जो चमक होगी वह उस ५ पार्सेक दूरी की चमक का सिर्फ चौथा हिस्सा ही होगी। क्योंकि किसी भी तारे की दिखाई पड़नेवाली चमक उसकी दूरी के वर्ग के उलटे अनुपात में होती है, इसलिये अङ्कगणित की साधारण प्रक्रियाओं द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि यदि कुछ तारे १० पार्सेक दूर हों तो वहाँ से वह कितने चमकीले दिखाई देंगे।

प्रायः देखा यह जाता है कि कुछ तारों के, जिनकी एक समान पूर्ण कान्तियाँ हैं, वर्णपटों में इन सूचक (tell-tale) रेखाओं की गहराइयाँ एक से ही निर्दिष्ट अनुपात या समानुपात की होती हैं। उदाहरण के लिये इनमें की कुछ

रेखायें दूसरी कुछ रेखाओ से दूनी गहरी या काली होती है। दूसरे किस्म के सभी तारों के, जिनकी पूर्ण कान्तियाँ भी पहिले वर्ग से भिन्न प्रकार की परन्तु आपस में एक ही समान होती हैं, वर्णपटों में इन रेखाओं की गहराइयों का अनुपात भी भिन्न होता है। उन वर्णपटो में पहिले वर्ग के उदाहरण में वर्णित वही रेखा दूसरे की अपेक्षा तिगुनी गहरी या काली होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तारों के कई वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में समरूपता के वहुत कुछ अंश रहते हैं। यद्यपि इस बात की जानकारी पाना इतना सीधा तो नहीं है जितना हम इस परिच्छेद के प्रथम अवच्छेद paragraph में अनुमान कर आये हैं, परन्तु ज्यादा कठिन भी नहीं है। इस जानकारी को पाने के लिये हमें सिर्फ यही करना होगा कि जो तारे हमसे इतने ज्यादा दूर हों कि हम उनके लम्बनों को नाप नहीं सकें तो पहले हम उन तारों के वर्णपटों के फोटोचित्र लें। फिर उन वर्णपटों की रेखाओं के अनुपातों को नापें और बाद में नापें उनकी दिखाई पड़ने वाली चमक या कान्ति को। उन रेखाओं की गहराइयो के अनुपात ही हमें बता देंगे कि १० पार्सेकों की दूरी से देखे जाने पर यह तारे अमुक चमक या कान्ति के दिखाई देंगे। इस पिछली जानकारी एवं उन तारों की वेध-प्राप्त कान्तियों के बल पर हम उनकी दूरियें जान सकेंगे।

खगोलज्ञों की यह आदत-सी पड़ गई है कि तारों की दूरियों को वह लम्बनों में ही प्रकट करना पसन्द करते हैं चाहे उनके

लम्बन न तो नापे ही गये हों या न नापे ही जा सके हों। इस प्रकार वर्णपटो की रेखाओं की गहराइयों के अनुपात पर जिन लम्बनों का अनुमान लगाया जाता है, उनको वर्णपटीय लम्बन कहते हैं। एकदम अपने आप में नापे जाकर जिन लम्बनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उनको त्रिकोणमितिक लम्बन कहते है। बिना किसी भी विशेषण के जब कोरे लम्बन शब्द का ही उपयोग किया जाता है तो उससे इस पिछली किस्म के लम्बन का ही बोध होता है। तारों की दूरियं नापने का दूसरा एक बहुत ही महत्वपूर्ण परोक्ष तरीका और भी है। एक खास किस्म के तारे हैं, जिन्हें घटने बढ़ने वाले सेफीड cepheid variables कहते हैं। उन तारों में अपनी एक अलग ही समरूपता होती है। तारों की दूरिये नापने का यह दूसरा तरीका इन्हीं पर आधारित है। बहुत से तारे एक ही स्थिर प्रकाश से चमकते रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं और उनकी संख्या भी काफी बड़ी है, जिनका प्रकाश घठता-बढ़ता रहता है। बहुत लम्बे अर्से से उन्होंने ज्योतषियों का ध्यान अपनी ओर खींच रक्खा है। बड़ी सावधानी से वर्षोपर्यन्त उनका अध्ययन किया जाकर उनके घटावों और बढ़ावों की भिन्न-भिन्न कई किस्में जानी जा चुकी हैं। छठे परिच्छेद में हम उनकी ऐसी ही एक जाति, अपने साथी तारे को ढकने वाले द्विक्, का उल्लेख कर आये हैं। उस द्विक् को बनाने वाले दो तारों में प्रत्येक तारा एक दूसरे के चारों ओर एक ऐसी कक्षा पर घूमता रहता है जो पृथ्वी से

देखी जाने पर देखने वाले की दृष्टि की बिलकुल सीध में ऊपर की ओर अपनी परिधि के किनारों पर खड़ी है। इस कारण ही उस द्विक् का प्रत्येक तारा घूमता हुआ समय-समय पर अपने दूसरे साथी के आगे (हमारी पृथ्वी की ओर) आ जाता है। यदि उन दोनों साथियों में कोई एक तारा दूसरे की अपेक्षा ज्यादा चमकदार होता है तो उसका प्रकाश उस वक्त बहुत ही मन्द हो जाता है, जब उसका साथी मन्द तारा उसके आगे आ पड़ता है। जब वही ज्यादा चमकीला तारा अपने मन्द साथी के आगे आता है तब उस द्विक् के प्रकाश में कमी तो जरूर आती है, परन्तु होती है वह बहुत ही कम।

दूसरे किस्म के घटा-बढ़ी के तारों का बर्ताव अनियमित-सा रहता है। न तो उनके महत्तम प्रकाश के समयों के मध्यान्तर Intervals और न एक दूसरी के बाद आनेवाली उनके महत्तम प्रकाश की अवधियाँ ही बराबर होती हैं। उनकी एक अलग ही कौम है जिसको "अनियमित घट-बढ़ के तारे "यह नाम दिया गया है।

जिस किस्म के तारों को अभी हम अपने अध्ययन का विषय बनाये हुए हैं (घटने बढ़ने वाले सेफीड तारे) वह अपने प्रकाश की ऐसी घटा-बढ़ी पेश करते हैं जोएक बिलकुल निर्दिष्ट समय के फर्क से होती रहती हैं। उनकी घटा-बढ़ी की राशि भी हमेशा निश्चित और स्थिर रहती है। वर्णपट दर्शक की मदद से ही हम उनको उन तारों से पृथक कर सकते हैं जिनको हम

ने एक दूसरे को समय-समय पर ढकने वाले घट-बढ़ के तारे eclipsing variables कहा है। इस बात को जरा और स्पष्ट करना है।

छठे परिच्छेद में यह समझाया गया है कि किस प्रकार किसी एक तारे का हमारी दृष्टि रेखा पर वेग उसके वर्णपट की रेखाओं के सूक्ष्म मुड़ाव या हटाव को नाप कर जाना जा
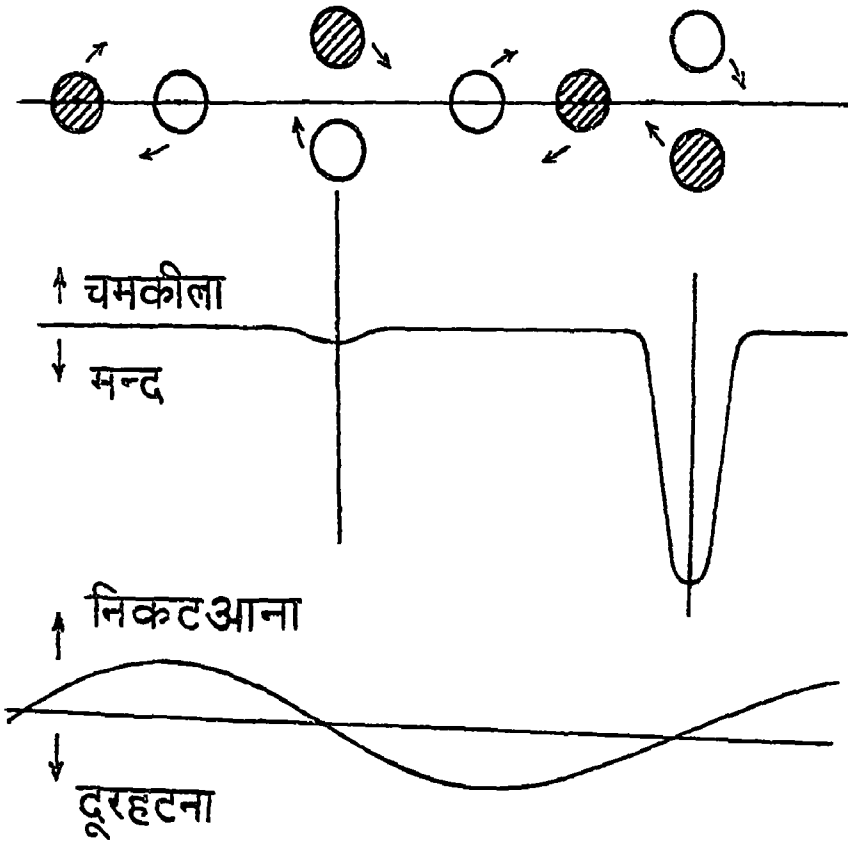
रेखाचित्र २८

सकता है। हमको अब देखना यह है कि एक दूसरे को ढकने वाले दो तारों के द्विक् पर यह नियम कैसा काम करता है।

रेखाचित्र २८ में उन दोनों मित्र तारों की स्थितियां दिखाई गई है। इनमें प्रत्येक में एक तारे को थोड़ा धारीदार इसलिये बनाया गया है जिससे यह जाहिर हो कि यह धुंधला या मन्द प्रकाश का तारा है। इसके नीचे फिर एक दूसरा रेखाचित्र दिया गया है, जो दृष्टि-रेखा पर उसके वेग का घटाव-बढ़ाव बताता है। यहां पर यह बता देना जरूरी है कि जब एक तारा अपने साथी की अपेक्षा ज्यादा प्रकाशमान है तो उस हालत में उस ज्यादा चमकीले तारे का ही वर्णपट दिखाई पड़ेगा, दूसरे धुंधले तारे को तो वह ढंक ही लेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि दृष्टि-रेखा पर घटा-बढ़ी का यह वेग उस ज्यादा चमकीले तारे का ही है।

यहां पर ध्यान देने की बात यही है कि अल्पतम प्रकाश के समयों में दृष्टि-रेखा पर के वेग की राशि शून्य ही होगी। जिस समय यह प्रकाश अपने महत्तम पर होगा, मध्य के उन समयों में, वह वेग भी अपनी महत्तम राशि पर होगा। यह महत्तम वेग अदल-बदल कर एक बार तो उस तारे के हमारी ओर आने का वेग होगा और फिर दूसरी बार होगा उसके हमसे दूर जाने का वेग।

सेफस तारा-मण्डल (Constellation Cepheus) में एक मध्यम चमक का तारा है। उसे आल्फा सेफी (Alpha cephei) कहते है। एक बंधे हुए नियम के अनुसार यह तारा करीब सवा पांच दिनों की अवधि से घटता-बढ़ता रहता है।

अपनी अल्पतम ज्योति की अवस्था में यह जितना चमकीला रहता है, महत्तम अवस्था में उससे तिगुना चमकीला हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी के तीसरे चरण में गुडरिक (Goodricke) नामक एक अंगरेज ने सर्वप्रथम इसकी घटा-वढ़ी को पकड़ा था। किसी दूरबीन की सहायता के बिना भी कोरी नंगी आँखों से वह आसानी से देख पड़ता है और उसकी घट-बढ़ को भी हम बिना दूरबीन के देख सकते हैं। परन्तु उसके बिल्कुल पास ही बड़ी अच्छी चमक का दूसरा एक और तारा भी है जो प्रकाश में घटता-बढ़ता तो नहीं है, फिर भी नंगी आँखों से देखने पर उस आल्फा सेफी तारे में बिल्कुल मिला हुआ सा दिख पड़ता है। यदि हम एक मामूली दूरबीन (Binoculars) से उसको देखे तो वह दोनों ही तारे एक दूसरे से अलग-अलग देखे जा सकेंगे। लगातार दो-तीन दिनो तक देखने पर हम जान पावेंगे कि जहाँ आल्फा सेफी की प्रकाश-राशि में फर्क पड़ गया है, वहाँ वह दूसरा तारा ठीक उसी स्थिर प्रकाश से चमक रहा है। हम देखेंगे कि आल्फा सेफी कभी तो अपने दोस्त के प्रकाश के बराबर प्रकाश से चमक रहा है और कभी उसकी अपेक्षा बहुत ही धुँधला हो चला है।

बहुत वर्षों तक तो यही माना जाता रहा कि वह भी एक ढॅकने वाला द्विक् तारा (Eclipsing Binary) ही है। परन्तु वर्णपट दर्शक यन्त्र ने उसकी कलई खोल दी। इसने बता दिया कि उसके दृष्टि-रेखा-वेग के फेर-बदल उक्त धारणा से मेल नहीं

खाते। रेखा-चित्र २६ को रेखा-चित्र २८ से मिलाने पर बात बिल्कुल स्पष्ट हो जावेगी।

जब उस तारे का प्रकाश अपनी महत्तम ज्योति पर होता है उस वक्त वह तारा अपने पूर्णतम वेग से हमारी ओर भागा चला
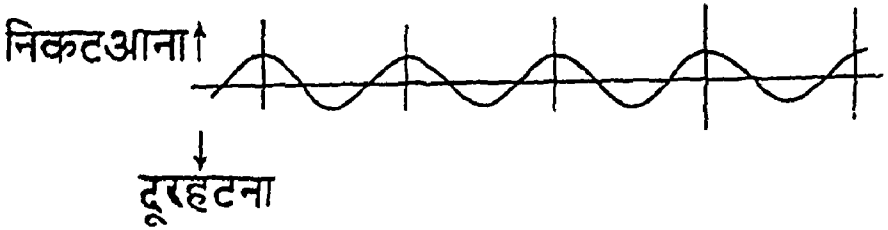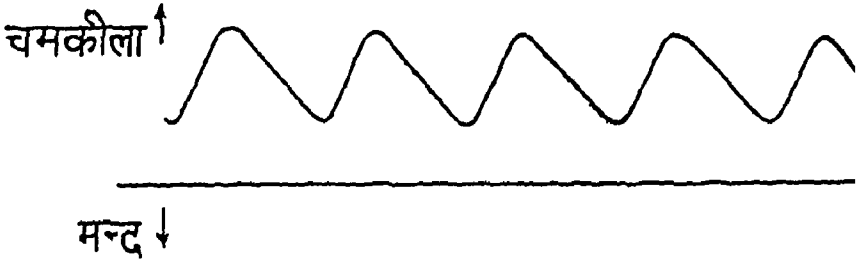
रेखा-चित्र २९

आता है, परन्तु जब उसका प्रकाश अल्पतम रहता है, उस समय वह अपने उसी पूर्णतम वेग से हमसे दूर भागा चला जाता है। जब उसकी चमक इन दोनों अवस्थाओं के बीच की होती है, उस समय न तो वह हमारी ओर चला ही आता है और न दूर ही भागता है। रेखा-चित्र २८ के सबसे ऊपर के चित्र की तरह दो तारों को एक दूसरे के चारों ओर घूमते हुए दिखाने वाली कोई आकृति खींचना उस तारे के विषय में असम्भव है। यदि ऐसा हो सकता तो दृष्टि-रेखा-वेग के इन चित्रो को समझने में सहायता मिलती।

इस प्रकार ज्योतिषियों के लिये वह तारा वर्षों तक एक पहेली बना रहा। यही नहीं, अब तक भी उसके अनोखे आचरण का कोई पूर्ण सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सका है। इस विषय में आजकल यही सिद्धान्त पेश किया जाता है और यह सब के मन भाया हुआ भी है कि वह तारा न तो पूर्ण रूप से हमारी ओर आता और न हमसे दूर ही जाता है। बजाय इसके वह फैलता और सिकुड़ता रहता है, जिस प्रकार बच्चों के खेलने का गुब्बारा। जो दृष्टि-रेखा-वेग हमें दिखाई पड़ता है, वह उस तारे की उस सतह का है जो ठीक हमारी ओर है।

इस सिद्धान्त को मानने में एक दिक्कत है। जब वह तारा पूरी तौर पर सिकुड़ चुका होता है, तब उसका दृष्टि-रेखा-वेग स्पष्टतः ही शून्य होता है। अपने महत्तम आकार के समय हमारी धारणा के अनुसार उसे अपनी पूर्णतम दीप्ति पर होना चाहिए था, परन्तु ऐसा होता नहीं। जब वह आधा फूला होता है, ठीक उसी समय वह अपनी महत्तम चमक पर होता है। इसी तरह जब वह आधा सिकुड़ा रहता है तब उसकी चमक अल्पतम रहती है। अपने महत्तम आकार पर वह ठीक उतना ही चमकीला रहता है जितना अपने अल्पतम आकार पर। चाहे जो हो, यह तो हमें मानना ही होगा कि उस तारे के इस अनोखे आचरण को अभी तक भी हम ठीक-ठीक समझ नहीं पाये हैं।

समय बीतने पर ठीक इसी प्रकार आचरण करने वाले और भी कई दूसरे तारे पाये गये। जिन तारों को हम नंगी आँखों से देख सकते हैं, उनमें भी करीब एक दर्जन तारे ऐसा ही आचरण करते देखे गये हैं। जो तारे इतने धुँधले हैं कि हम बिना दूरबीन की सहायता के उनको देख भी नहीं सकते, और उनकी संख्या काफी बड़ी है, उनमें भी ऐसे अनेक तारे हैं। उन सब को घटने-बढ़ने वाले सेफीड तारे कहते हैं। यह नाम उन्हें अपने उस सजातीय भाई आल्फा सेफी तारे की बदौलत मिला है, जिसे ज्योतिर्विदों ने उनमें सब से पहिले पकड़ा और अपने अध्ययन का विषय बनाया था।

एक अमेरिकन महिला ज्योतिर्विद् मिस लीविट ने घटावढ़ी के उन सेफीडो की महत्वपूर्ण समरूपताओं को पकड़ने की दिशा में पहिला कदम उठाया था। अनन्त आकाश के दक्षिण भाग में धुँधले प्रकाश के दो चिथड़े से हैं। ऐसा लगता है मानो वह आकाश गंगा (Galaxy or the milky way) के ही टूटे हुए अलग हिस्से हैं। उनको क्रमशः वृहत् मगलीय और लघु मगलीय बादल या नीहारिका (Greater and lesser magellanic clouds) कहते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में मैगेलन नामक एक नाविक ने ही सर्वप्रथम उनकी ओर लोगो का ध्यान खींचा था ; इसलिए उन नीहारिकाओं के नाम भी उसी नाविक के नाम पर ही रख दिए गये थे। उनके दूसरे नाम क्रमशः वड़ा नुवेकुला और छोटा नुबेकुला (Nubecula Major and

nubecula minor) भी हैं। लघुमगलीय नीहारिका के तारों और दूसरे पिण्डों का मिस लीविट ने काफी गहरा और विस्तृत अध्ययन किया। उन्होंने बतलाया कि उस नीहारिका में सभी सुपरिचित तारों के जाति भाई मौजूद हैं, जिनमें घटा-बढ़ी के सेफीड तारे भी एक बड़ी संख्या में हैं। यह एक ध्यान खींचने वाली बात है; क्योंकि वह नीहारिका एक छोटे कोणीय आकार की है, इसलिए हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते है कि उसके सभी पिण्ड हमसे प्रायः एक सी ही दूरी पर हैं। यह दूरी तो हमें अज्ञात भी रह सकती है, परन्तु उस नीहारिका का प्रत्येक भाग, एक शतांश के भीतर, हमसे है एक ही दूरी पर। इस पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यदि उस नीहारिका के कोई दो तारे एक समान चमक के दिखाई पड़ें तो उनकी आन्तरिक दीप्तियाँ अवश्य ही बराबर की होंगी।

मिस लीविट ने यह भी पता लगाया कि उन सेफीडों की घटा-बढ़ी के समय के अन्तरों और उनकी दिखाई पड़ने वाली चमकों में एक सरल सम्बन्ध है; और इसी कारण उनकी घटा-बढ़ी के समय के अन्तरों और उनकी आन्तरिक या पूर्णतम दीप्तियों में ऐसा ही एक सरल रिश्ता है, क्योंकि वह सभी हमसे प्रायः एक-सी दूरी पर ही हैं। इस सम्बन्ध को, मोटे तौर पर, हम यों व्यक्त कर सकते हैं कि कोई भी तारा जितना ही ज्यादा चमकीला होगा, उतना ही लम्बा उसके घटबढ़ के समय का अन्तर भी होगा।

इस तथ्य का पूरा महत्व भी शीघ्र ही आँक लिया गया। डेन्मार्क के एक ज्योतिर्विद हर्ज़स्प्रङ्ग ने कहा कि यदि हम यह मान लें कि सारे ही घटने बढ़ने वाले सेफीड तारे इस बात में तमाम विश्व-ब्रह्माण्ड में एक सरीखे गुणों वाले ही हैं (दूसरे शब्दों में, यदि हम यह मान लें कि लघुमगलीय नीहारिका के सेफीड तारे अनन्त में चारों ओर निवास करने वाले सभी सेफीड तारों के सही नमूने हैं) तो उनमें के प्रत्येक सेफीड की हमसे दूरी जानने का एक बहुत ही सुन्दर साधन हमें प्राप्त हो गया है। इस साधन को सर्वत्र काम में लाने के पहिले हमें उनमें के किसी एक तारे की दूरी जान लेनी होती है। यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि यद्यपि हम यह तो जानते हैं कि इस नीहारिका का प्रत्येक सेफीड हमसे एक-सी दूरी पर ही है, फिर भी वह दूरी कितनी है, यह हम अभी तक नहीं जान पाये हैं।

हमारी पृथ्वी पर जिन वस्तुओं से हम भलीभाँति परिचित हैं उनमें से किसी में भी इन सेफीड तारों के गुणों की ठीक झलक तो नहीं पाई जाती फिर भी बात को भलीभाँति समझ पाने के लिए ऐसी एक वस्तु की कल्पना हम किए लेते हैं। गैस की चिरागें तो हम सबकी ही देखी हुई हैं। यदि कुछ चिरागों के ढक्कन वगैरह ठीक तरह बैठाए न गये हों तो जलते समय उनकी यह बुरी आदत सी हो जाती है कि बीच-बीच में एक नियमित एवं निर्दिष्ट समय के फर्क से इनकी लौएँ कभी तो ऊँची उठती और कभी मन्द पड़ जाती है। जिन छोटे देहाती रेलवे

स्टेशनों के प्लेटफार्मों पर ऐसी बत्तियें लगी रहती हैं उनकी तो यह एक विशिष्ट आदत है। कुछ चिरागों की लौओं के घटबढ़ के समय के फर्क तो छोटे होते हैं (प्रति सेकन्ड दो या तीन उतार चढ़ाव)। कुछ उनसे ज्यादा काहिल होती हैं इसलिए उनकी इस आदत के समय के फर्क भी बड़े होते हैं। इसकी तो कोई सम्भावना नहीं मालूम होती कि उन चिरागों की प्रकाश-शक्ति और उनकी घटबढ़ के समय के फर्कों के बीच कोई एक नियमित रिश्ता हो, परन्तु हमारी कल्पना को पूरा रूप देने के लिए हम मान लेते हैं कि उन दोनों के बीच ऐसा एक रिश्ता है—अर्थात् चिराग जितनी ज्यादा प्रकाशमान होगी, उसकी रोशनी का घटाव-बढ़ाव उतना ही धीमा होगा।

यह तो हम बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि यदि ऐसा हो सकता—ऐसा रिश्ता कायम किया जा सकता—तो ऐसी एक चिराग की हमसे दूरी जानने का हमारे पास एक गढ़ागढ़ाया साधन तैयार मिलता। मान लीजिए हम एक रेलवे ट्रेन पकड़ने के लिए एक देहाती स्टेशन की ओर जल्दी-जल्दी बढ़े चले जा रहे हैं। स्टेशन की ओर से आते हुए एक आदमी ने पूछने पर हमें बताया है कि रेल गाड़ी "ज्यादा दूर" नहीं है—वह आ ही रही है। स्टेशन के प्लेटफार्म पर जो चिरागें जल रही हैं उनकी नाचती हुई लौऍं हमें दिखाई पड़ती हैं। जिस हिसाब से वह लौऍं घट-बढ़ रही हैं उसके द्वारा हम उन चिरागों की प्रकाश-शक्ति candle power आँक लेते है। वह चिरागें कितनी

चमक या प्रकाश दे रही है इस बात को देख कर हम यह अन्दाज़ लगा सकते हैं कि रेलवे स्टेशन से हम अमुक दूरी पर हैं। यदि चिरागें धीरे-धीरे घटबढ़ रही हैं—उनकी लौओं की घटा-बढ़ी के समय का फ़र्क लम्बा है—और ऐसा करती हुई हमें धुंधली दिखाई पड़ती हैं, तो हम तुरन्त जान जाते हैं कि हमें अपने कदम और भी तेज उठाने चाहिएँ; क्योंकि चिरागें तो वास्तव में चमकीली हैं परन्तु हमसे दूर होने के कारण वह धुंधली दिखाई पड़ रही हैं। यदि चिरागें जल्द-जल्द घट-बढ़ रही हैं और ऐसा करती हुई हमें मन्द दिखाई पड़ती हैं तो हम जान जाते हैं कि स्टेशन ज्यादा दूर नहीं है; क्योंकि चिरागों का धुंधलापन उनकी क्षीण प्रकाश-शक्ति के कारण है, न कि दूरी के कारण।

ऐसे गुणों को रखने वाली चिरागें अगर सुलभ हो सकतीं, हम बहुत शीघ्र जान जाते कि इस तरीके से दूरी कैसे आंकी जाती है और बिना हिचकिचाहट के तुरन्त ऐसा कर भी सकते।

यह दुर्भाग्य की बात है कि उन सेफीडों में एक भी ऐसा तारा नहीं है जो हमारे इतना नजदीक हो कि हम उसके एक बड़े, और सही तौर पर निश्चित, लम्बन को जान पावें। समय के फ़र्कों और दीप्ति के सम्बन्ध का हम जो ऊपर उल्लेख कर आये हैं उस पर आधारित तरीके से प्राप्त परिणामों का बिल्कुल ठीक होना एक दृष्टिकोण से यद्यपि सन्तोषजनक नहीं है फिर

भी उन सेफीडों की आपसी दूरिया जानने का तो यह सम्बन्ध बिल्कुल शुद्ध साधन है। उदाहरण के लिए ; अगर दो तारापुञ्जों मे प्रत्येक मे सेफीड तारे हों तो उनकी सहायता से हम यह तो बिल्कुल ठीक-ठीक बता सकेंगे कि एक पुञ्ज की अपेक्षा दूसरा पुञ्ज कितना गुना दूर है; परन्तु उनकी वास्तविक दूरियां बताना सन्दिग्ध सा ही होगा।

दूसरी तरफ, एक श्रेणी के रूप में तो उनकी आन्तरिक दीप्तियां बहुत ऊँची होंगी और वह काफी दूर रहते हुए भी देखे जा सकेंगे। इस कारण जिन दूरियों के वर्णपटीय लम्बन प्राप्त नहीं हो सकते, उनको आंकने में इन तारों की मदद ली जा सकती है। एक सेफीड तारे की पूर्णतम दीप्ति और घटा-बढ़ी के समय के फर्क आसानी से जाने जा सकते हैं, चाहे वह तारा स्वयं इतना धुँधला हो कि उसका कोई नापने लायक वर्णपट न मिल सके।

तारों की एक अन्य जाति भी पाई जाती है जो दूरियाँ नापने के काम में बहुत उपयोगी हो सकती है। वह है अत्यन्त ही गर्म, नीलिमा लिए हुए सफेद रङ्ग के तारे जिनके वर्णपटों में हीलियम की रेखाये प्रमुखता से पाई जाती हैं। अपनी आन्तरिक दीप्तियों में वह बिल्कुल समरूप होते हैं ; उनकी पूर्णतम दीप्तियां एक दूसरी से ज्यादा भिन्न नहीं होतीं। तथ्य तो यह है कि इस परिच्छेद के प्रथम अवच्छेद में जिन बातों की ओर हमने इशारा किया है, वह तारे उन बातों के बहुत नजदीक जा

पहुंचते हैं। यदि उस जाति के दो तारे एक समान चमकीले दिखाई पड़ें तो अवश्य वह हमसे प्रायः एक समान दूरी पर ही होंगे। जब ऐसे एक तारे की चमक दूसरे की चमक की चौथाई हो तो वह पहिला तारा दूसरे की अपेक्षा दूनी दूरी पर होगा। आन्तरिक रूपों में वह तारे बहुत चमकीले होते हैं और इसलिये बहुत बड़ी दूरियों को आंकने में उनका उपयोग किया जा सकता है। उनको "ब" जाति के तारे B-type stars कहा जाता है।

दूरियों को नापने के यह सभी तरीके, जो तारों की दीप्तियों (दिखाई पड़ने वाली चमकों पर) निर्भर हैं, तभी कारगर हो सकते हैं जब कि आकाश पारदर्शी हो। यदि आकाश पारदर्शी न होकर हमारी ओर आती हुई उन तारों की रोशनी के कुछ भाग को बीच में ही चट कर ले तो उन तारों की दीप्तियों के जो माप हम निकालेंगे वह उतने ही कम हो जावेंगे और उन मापों के बल पर हम जिन दूरियों के अनुमान लगावेंगे वह ठीक न होकर बड़ी पड़ जावेंगी। हम जानते हैं कि उन दीप्तियों का ऐसा सोख होता है; उस सोख की मात्रा जानकर हम दूरियों के अनुमानों में उसको घटा-बढ़ा सकते हैं। जिस प्रकार हमारे वायुमण्डल में धूल और धूँएं के कण रहते हैं, उसी प्रकार तारो के मध्यवर्ती आकाश में भी धूल के कण रहते हैं। हमारी ओर दौड़ते हुए तारों के प्रकाश के कुछ भाग को यह कण सोखते रहते हैं। प्रकाश के हरे, पीले और लाल भागों की तुलना में उसके

बैंगनी और नीले भागों पर इन कणों की जीभ ज्यादा चलती हैं। आकाश के कुछ हिस्सों में बहुत दूर के तारे जितने ज्यादा लाल रङ्ग के दिखाई देते हैं, उतने वह वास्तव में नहीं हैं। उन तारों की लालिमा की राशि ही हमको बता देती है कि उन तारों के प्रकाश ने रास्ता चलते समय इन लुटेरे कणों के हाथ अपना अमुक अंश खो दिया है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि उन तारों के प्रकाश रास्ते में कुछ सोख न लिए जायँ तो वह तारे हमें किस तरह के दिखाई देंगे और इस बात को हम जानेंगे भी कैसे? इसका जवाब वर्णपटदर्शक ही दे देता है। तारों के भिन्न-भिन्न रङ्ग होते हैं। कुछ तारे तो आग में जलते हुए कोयले की चमक की तरह लाल रङ्ग के होते हैं; कुछ पीले रङ्ग के, कुछ सूर्य की तरह पीत-मिश्रित सफेद रङ्ग के, कुछ बिल्कुल सफेद और कुछ नीलिमा लिए हुए सफेद रङ्ग के होते हैं। उनकी यह भिन्नताएँ उनके तापमानों के कारण ही हैं। लाल रङ्ग के तारे सब में अधिक ठण्डे और नीले-सफेद रङ्ग के तारे सब में अधिक गर्म होते है। किसी एक खास तापमान और उसके अनुरूप रङ्ग के सभी तारों का एक खास वर्णपट होता है। उस वर्णपट में वह रेखाएँ, जो उनके मार्ग में खोये हुए अंश का प्रतिनिधित्व करती है, एक खास और आसानी से पहिचानी जा सकने वाली आकृति ले लेती हैं। सब से अधिक गर्म तारे अपने वर्णपटों में मार्ग में लुप्त अपने हीलियम की प्रतिनिधि रेखाओं को प्रमुखता के साथ हमारे सामने

प्रस्तुत करते हैं ; मानो वह हमसे अपने चोरो की शिकायत कर रहे हैं। इसलिए अगर हम इस किस्म के वर्णपट को पेश करने वाले किसी तारे को देखे और यदि वह हमें अपने असली नीलिमा-मिश्रित सफेद रङ्ग की जगह पीत-श्वेत या बिल्कुल पीला दिखाई पड़े तो हम जान जाएंगे कि उसका यह दिखाई पड़ने वाला पीला रङ्ग डंके की चोट यह कह रहा है कि उसके प्रकाश के कुछ बैंगनी और नीले अंशों को उसके उद्गम स्थान से हमारी ओर की लम्बी यात्रा पर मार्ग में लूट लिया गया है। हम यह भी जान पावेंगे कि वह हमें अपने असली रूप की अपेक्षा धुँधला दिख रहा है।

यह बात भी हमारे दैनिक जीवन मे सुपरिचित सी है। रात के समय सड़क पर चलते हुए हम अपने सामने दूर जलती हुई कुछ चिरागों को देखते हैं। अगर इन चिरागों की रोशनी दूर से हमें पीलापन या ललाई ली हुई दिखाई पड़े तो हम तुरन्त इस नतीजे पर पहुँच जाते है कि हवा में धुन्धलका या कुहरा छाया हुआ है और हमें कोई अचरज नहीं होता कि यह चिरागे अपने हमेशा के प्रकाश से धुंधली क्यों है।

तारों के अन्तर्वर्ती आकाश में रहने वाले धूल के इन कणो के द्वारा तारों के प्रकाश में जो लालिमा आ जाती है, वह आकाश के सभी भागों में एक-सी नहीं होती। आकाश के कुछ हिस्सों में तो यह कण बहुतायत से रहते हैं और कुछ में बहुत कम। इस प्रकार हमारे पास आकाश के उन भागों को जानने

का एक अच्छा साधन हो गया है जो भाग रोशनी को चट करने वाले कणों के प्रमुख निवास-स्थान हैं। हम यह भी जान सकते हैं कि आकाश के यह भाग कहाँ-कहाँ, कितने दूर और कितने विस्तार के हैं।

हमारी ओर आती हुई तारों की रोशनी पर दो शोषकों के हाथ पड़ते हैं। एक तो खुद उस तारे का प्रकाश-मण्डल Photosphere ही है, जो उस प्रकाश की अकेली-दुकेली फड़कनों को खुद हज़्म कर लेता है और इस कारण उसके वर्णपट में रेखायें पड़ जाती हैं। अन्तर्वर्ती देश में जो कण रहते हैं, वह ज्यादा साहसी होने के कारण आँख मूँदकर उस रोशनी पर छापा मारते हैं। फड़कनें चाहे अपने आप में अकेली हों या अपने सजातीय झुण्डों में, वह कण पर्वाह नहीं करते। परन्तु पीली और लाल जैसी छोटी फड़कनों की अपेक्षा बैंगनी और नीली जैसी ऊँची फड़कनों पर उन कणों की भूख विशेष जगी रहती है।

बात का सिलसिला आगे बढ़ाते हुए अब हमें यह कहने को बाध्य होना पड़ा है कि अकेली दुबेली फड़कनों का शोषण उस तारे के प्रकाश-मण्डल के बाहर भी तारों के मध्यवर्ती क्षेत्र में होता रहता है। धूल के कणों के साथ-साथ ही कई किस्म के अणु और द्व्यणुक molecules भी इन क्षेत्रों में रहते हैं। वास्तव में, तारों का यह अन्तवर्ती क्षेत्र बिलकुल ही शून्य नहीं है। यह क्षेत्र बहुत ही कम दबाव की गैसों का एक मिश्रण ही

है। इन गैसों का दबाव और घनत्व इतना कम है कि इस क्षेत्र के प्रत्येक क्यूबिक इञ्च में सिर्फ दो या तीन अणु ही रहते हैं।

हमारे और अत्यन्त दूर के तारों के बीच अनगिनत इञ्चों का फर्क है। यह कोई अजरज की बात नहीं कि कुछ अवस्थाओं में यह अणु बहुत दूर के तारों के वर्णपटों में अपनी उपस्थिति झलका देते हैं। यह तो हम पहिले ही कह आये हैं कि सूर्य एवं बहुत से तारों के वर्णपटों में रहने वाली दो प्रमुख रेखाओं की उपस्थिति के लिये कैल्सियम calcium ही उत्तरदायी है। कैल्सियम के अणु दूसरे तत्वों के अणुओं की अपेक्षा अपने ऊपर होने वाले प्रहारों को रोकने में काफी सबल होते है। इस कारण तारों के अन्तर्वर्ती क्षेत्रों में भरी हुई बहुत ही पतली गैसों में रहने वाले थोड़े भी कैल्सियम के अणु दूर के तारों के वर्णपटों में अपनी सोखी हुई रेखाओं को भी झलकाने में समर्थ हो जाते हैं।

कैल्सियम के इन अणुओं को तारों के अन्तवर्ती क्षेत्र के कैल्सियम (Inter-stellar calcium) कहकर पुकारते हैं। शुरू-शुरू में इन्होंने नाक्षत्रिकों को एक उलझन में डाल दिया था। तारों के दृष्टि-रेखा-वेग को जानने के लिए जब उनके वर्ण-पटों की रेखाओं के हटावों को नापा गया, तो यह मालूम हुआ कि बहुत अवस्थाओं में तो कैल्सियम रेखाओं को छोड़कर बाकी सब रेखाएँ एक या दूसरी ओर हटी हुई थीं। दूसरी कई जगह कैल्सियम रेखाएँ हटी हुई तो जरूर पाई गईं परन्तु दूसरी

रेखाओं को देखते हुए उनका हटाव बहुत ही कम पाया गया।

एवरशेड ने इस उलझन को सुलझाने का पहिले पहल प्रयास किया। उसने कहा कि आकाश में कैलेशियम की गैस की मौजूदगी के कारण ही यह सब होता है। उसके समकालीन ज्योतिषियों ने पहिले तो इस सुझाव को असम्भावित कहकर ठुकरा दिया। बाद में ब्रिटिश कोलम्बिया के विक्टोरिया नामक शहर में जे० एस्० प्लासकेट ने इनके नये वेध किए। इन वेधों ने यह सिद्ध कर दिया कि एवरशेड की बात बिल्कुल ठीक थी। यह स्वीकार किया गया कि बहुत-सी अवस्थाओं में कैल्सियम की रेखाएँ उन तारों के वर्णपटों में देखी गईं, जिनमें वह होनी नहीं चाहिए थीं।

जिन तारों के वर्णपटों में यह रेखायें दिखनी चाहिये, वह वही तारे हैं जिनमें यह रेखाएँ हटी हुई रहती है; परन्तु इतनी हटी हुई नहीं हैं जितनी कि बाकी अन्य रेखाएँ। इस बात का स्पष्टीकरण बहुत ही सीधा है। उस तारे की अपनी कैल्सियम रेखाओं पर तारों के अन्तर्वर्ती क्षेत्र के कैल्सियम अणुओं की रेखाएँ चढ़ बैठती है और उस तारे की दृष्टि-रेखा-गति के कारण जो हटाव होता है, वह इतना बड़ा नहीं होता जिस से कि इन रेखाओं के दोनों जोड़े (उस तारे की अपनी कैल्सियम रेखाएँ और अन्तर्वर्ती क्षेत्र के कैल्सियम अणुओं की रेखाएँ जो एक दूसरी में मिल गई हैं) अलग-अलग स्पष्ट हो सकें। इस हटाव में यह दोनों ही जोड़े मिले-जुले ही सिर्फ कुछ चौड़े जरूर

हो जाते हैं। इन मिली-जुली, पर चौड़ी रेखाओं के केन्द्र तो दृष्टि-रेखा-गति के कारण जाहिरा तौर पर इतने नहीं हटते, जितनी कि वह रेखाएँ जो सिर्फ उस तारे के वर्ण-मण्डल के शोषण के कारण बनती हैं।

यह बातें, एक मोटे परन्तु तैयारशुदा साधन के रूप में, दूरी नापने के काम में ली जा सकती हैं। जितनी ही लम्बी दूरी होगी, तारों के अन्तर्वर्ती क्षेत्र के कैल्सियम अणुओं का शोषण भी उतना ही ज्यादा गहरा होगा।

नक्षत्रों को लेकर कलम चलाने वाले कुछ लेखक और खासकर वह, जो दैनिक समाचार पत्रों के लिए लिखते हैं, अक्सर वर्णपटों की रेखाओं के लाल या नीची फड़कनों के किनारों की ओर होनेवाले झुकावों को उस प्रकाश की रंगी हुई लालिमा कहकर बातों को उलझा देते हैं। प्रकाश को कभी भी लाल रंग में रँगा नहीं जा सकता। यदि कोई तारा इतनी तेज गति से हमसे दूर भागा जा रहा हो कि उसके वर्ण-पट की कोई एक रेखा जो साधारणतः उस वर्ण-पट के नीले भाग में पाई जाती, उसके इस प्रकार दूर भागने के कारण, लाल भाग में पाई जावे तो भी प्रकाश तो अपने समूचे रूप में लाल रङ्ग का हुआ नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि उस समय उस वर्णपट के परा-कासनी क्षेत्र का, जो साधारणतः अदृश्य रहता है, एक बड़ा हिस्सा हटकर उस दृश्य-क्षेत्र में उस खाली जगह पर चला आवेगा जिस जगह

साधारणतः नीली रोशनी रहा करती थी परन्तु जो उपरोक्त रूप से अब लालिमा में बदल गई है।

तारों की दूरियों को आंकने के अनेक ऐसे तरीके भी हैं जो गणनाओं पर निर्भर हैं। किसी एक अकेले तारे की दूरी की बाबत तो वह तरीके हमें कुछ भी नहीं बताते; फिर भी कुछ परीक्षणों में वह बड़ा काम देते हैं। उन सब में सब से सीधा तरीका वह है जो किसी तारे की दीप्ति या दिखाई पड़ने वाली चमक पर आधारित है। अनन्त के एक बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए तारे प्रायः सभी भाँति की आन्तरिक दीप्तियों के हैं; परन्तु यदि हम उनकी एक काफी बड़ी संख्या को लें तो यह भिन्नताएँ बहुत कुछ कम हो जाती हैं। धुँधले और अत्यन्त निकट पड़ौसियों की तरह निवास करने वाले आकाश-गंगा के तारे, एक दूसरे से दूर छिटके हुए चमकीले तारों की अपेक्षा, हमसे ज्यादा दूर हैं। हमने जो यह निष्कर्ष निकाला है, वह सही और निर्दोष है। कुछ थोड़े से मन्द-आन्तरिक-दीप्ति के बहुत ही धुंधले तारे हैं। वह तारे हमारे नजदीक हैं, परन्तु देखनेवाले की असावधानी से आकाश-गंगा में ही मान लिए जाते हैं। दूर, बहुत दूर, एक नवीन तारा (Nova) है। यह तारा समय-समय पर, कुछ दिनों के लिए, अपनी स्वाभाविक रोशनी से हजारों गुनी ज्यादा रोशनी देने लगता है। इसके प्रखर प्रकाश को देखकर हम भ्रम में पड़कर इसकी विशाल दूरी को भूल जाते हैं और इसे अपना एक नजदीकी तारा समझ बैठते हैं। यह दोनों उदाहरण इस

बात को दिखानेके लिए दिए गये हैं, कि हो सकता है इस प्रकार भ्रमवश हम कोई अपवाद ढूँढ भी लें, फिर भी हमारा ऊपर दिया हुआ निष्कर्ष बिल्कुल सही है।

आकाश-गंगा के कुछ भागों में काफी बड़ी संख्या में पाए जानेवाले तारों की दीप्तियों के औसत निकाल कर, हम उन भागों की सापेक्ष दूरियों को भी एक विश्वस्त रूप में आँक सकते है।

दूसरा एक तरीक़ा और भी है। जो तारे हमसे अपेक्षाकृत नजदीक़ हैं, उनकी दूरियों को आँकने में इसका सफल उपयोग किया जा सकता है। यह तरीका इस बात को मान कर चलता है कि सूर्य और उसके कुटुम्बी सभी पिण्ड, उन तारो की साधारण द्रव्य-मात्रा (mass) की सापेक्षता में, गति करते रहते हैं। यह बात हम पहिले भी एक जगह कह आये हैं।

वर्णपट-दर्शक यन्त्र ने अनन्त ब्रह्माण्ड की एक आश्चर्यजनक खूबी की ओर हमारा ध्यान खींचा है ; आकाश के एक भाग में जहाँ हमारी ओर भागे चले आनेवाले तारों की बहुतायत है और हमसे दूर भागने वालों की संख्या कम है, वहीं उसके दूसरे भाग में ऐसे तारो की संख्या तो बहुत ज्यादा है जो हमसे दूर भागे चले जा रहे हैं और जो हमारी ओर चले आ रहे है उनकी है कम। आकाश के यह दोनों ही भाग एक दूसरे के ठीक आमने-सामने हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन के अनुभवो में हम इस बात को यों देख सकते हैं। एक काफी लम्बे-चौड़े मैदान

में बहुत से व्यक्ति प्रत्येक दिशा में चल-फिर रहे हैं; हम भी उनमें से एक हैं। उन चलने-फिरने वाले व्यक्तियों की गतियों के वेग भिन्न-भिन्न हैं। बीच-बीच में यहाँ-वहाँ कुछ व्यक्ति चुपचाप खड़े हुए भी है। हम उस मैदान को एक ओर से दूसरी ओर पार कर रहे है। जो व्यक्ति हमारे सामने हैं, हम धीरे-धीरे उन व्यक्तियों के तो निकट आते जाते हैं, जब कि हमारे आगे बढ़ने पर जो हमसे पीछे छूटते जाते हैं उनसे हम दूर-दूर होते चले जाते है। इसमें कुछ अपवाद हो भी सकते हैं, परन्तु सामान्यतः हम अपने को इसी स्थिति में पाते हैं। हमारे मार्ग के दोनों ओर के व्यक्ति भी ज्यादातर हमसे पीछे छूटते जाते हैं—हो सकता है कि सभी व्यक्ति पीछे न छूटें, पान्तु औसतन तो उनका पीछे की ओर ही छूटते रहने का क्रम होगा।

यहाँ, इस उदाहरण में, अस्ल बात तो यह है कि हमारे मार्ग के दोनों ओर के व्यक्ति एक समान तेजी से हमारे पीछे नहीं छूटते जाते। एक बात और भी है; औसत तौर पर जो व्यक्ति हमसे ज्यादा निकट हैं वह, उन दूर के व्यक्तियों की अपेक्षा, ज्यादा तेजी से पीछे छूटते जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमसे बहुत दूर हो और हम उसको देख रहे हों तो हमारे सिरों को बिना ज्यादा हिलाये डुलाये ही हम उसे काफी लम्बे समय तक देख सकेंगे, परन्तु किसी बिल्कुल नजदीक के व्यक्ति को नजर में रखने के लिए तो हमें बड़ी शीघ्रता से हमारे सिरों को इधर उधर घुमाना फिराना होगा। देखने की इन क्रियाओं द्वारा

हम वता सकेंगे कि कौन कौन से व्यक्ति तो औसत रूप में हमारे नजदीक हैं और कौन कौन दूर हैं। यह वात स्पष्ट तो जरूर है परन्तु साथ ही है हास्यास्पद भी; क्योंकि दूसरे कई अन्य उपायों से भी हम ज्यादा विश्वास के साथ इस बात को वता सकते हैं। परन्तु यह वात तारों पर लागू नहीं पड़ती। एक ही नजर में देख कर हम नहीं वता सकते कि कौन से तारे हमारे नजदीक हैं और कौन से दूर।

ऊपर दिये गये इस उदाहरण से हम यह तो वखूवी समझ गये होंगे कि हमारे मार्ग (सूर्य का मार्ग ; क्योंकि हमारी पृथ्वी सूर्य के साथ-साथ ही भागी चली जा रही है) के दोनो ओर के तारों की एक वहुत वड़ी राशि की "निजी" गतियों proper motions को यदि हम नापें तो जिन तारों की पीछे की ओर छूटती हुई निजी गतियाँ ज्यादा तेज हों वह हमसे, उन तारों की अपेक्षा जिनकी निजी गतियाँ छोटी हैं, ज्यादा नजदीक होंगे।

इस तरीके में एक विशेषता यह है कि ज्यों ज्यों समय वीतता है इस तरीके से प्राप्त परिणामों में अधिकाधिक शुद्धता आती जाती है। सूर्य अपने सारे परिवार के साथ अपने पड़ोसियों में प्रति वर्ष करीव ३८०० लाख मील का सफर करता है। दस वर्षों के समय में यह सौर मण्डल इस विशाल लम्बाई की दस गुनी लम्बाई पार कर चुका होता है। यदि हम प्रत्येक २० वर्षों के अन्तर पर उन तारों के फोटो चित्र लेते रहें तो यह

जान पावेंगे कि सौर मण्डल के मार्ग के दोनों ओर के यह तारे काफी पीछे छूट चुके हैं। यह तारे कितने पीछे छूटे हैं इस बात को भी हम बड़ी आसानी से, बिना कोई गलती किए, जान सकेंगे। इस बिषय में तो (और सिर्फ इसी विषय में ही) यह तरीका लम्बन के तरीके से बहुत ही ज्यादा अच्छा है। लम्बन का तरीका तो सिर्फ ६३,०००,००० मीलों के भीतर पृथ्वी की गति की सीमा में ही बँधा हुआ है। बाकी और जगह ऊपर दिया हुआ यह तरीका कारगर नहीं; एक एक तारे के बारे में अलग-अलग वह कुछ भी नहीं बता सकता। तारो की एक बहुत बड़ी संख्या के बारे में, एक झुण्ड के रूप में ही, यह तरीका हमें कुछ जानकारी दे सकता है।

अब हम तारों की दूरियों को नापने के विषय को फिर दुहरा लेते हैं। लम्बन का तरीका ही मुख्य आधार है। यह तरीका सार-मण्डल के विस्तार के भीतर तो पूरा सफल पाया गया है और उसके बाहर अनन्त के क्षेत्र में यह असफल होगा इस बात का कोई कारण भी दिखाई नहीं पड़ता। हां, यह तो सच है कि सौर मण्डल के बाहरी क्षेत्रों में इसकी सफलता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिल सका है। लम्वन के द्वारा प्राप्त परिणामों की जाँच के लिए जिन दो स्वतन्त्र साधनों का हमने उपयोग किया था—घुमक्कड़ तारा पुञ्ज एवं द्विक् तारे—वह इस तरीके की सत्यता की पुष्टि करते हैं, भले ही कुछ सन्देहशाल व्यक्ति स्वभाव-वश अपने कन्धे उचकाते [फिरें।

जिन परोक्ष तरीकों का हमने इस परिच्छेद में उल्लेख किया है वह सब लम्बन के तरीके के ही बढाव है और इस कारण उस तरीके के साथ ही या तो सफलता के साथ गर्दन ऊँची किए खड़े रह सकते हैं या अपनी हार मान लेते है। यह सब तरीके एक ही धारणा पर चलते हैं; वह यह कि तारों का कोई भी एक गुण या धर्म, जो कि जानी हुई दूरी के सभी तारों में समरूपता का द्योतक है, उन तारों में भी उसी रूप में पाया जाता है जिनकी दूरियें अभी तक हमारी जानकारी में नही आ पाई हैं। निश्चय ही ऐसी धारणा युक्तिसंगत है। हमारे रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की धारणाओं के हम आदी है। तारों के विषय में तो, हमारे पास सुरक्षा का यह भी एक कारण है कि इन भिन्न-भिन्न तरीकों की तहो में जो धारणाएँ काम कर रही हैं वह एक दूसरी पर आश्रित न होकर स्वतन्त्र है; इसलिए हम इनको एक दूसरी की जाँच के काम में ले सकते है। उदाहरण के लिए सेफीड तारों में काम करने वाला समय के फर्क और दीप्ति का सम्बन्ध, वर्णपटो के गुणो से, जिन पर वर्णपटीय लम्बन आधारित हैं, बिल्कुल स्वतन्त्र है। जब यह सभी तरीके एक ही से परिणामों की ओर हमें खींच ले जाते है तो इन हालतों में सन्देहशील बना रहना मुश्किल ही है।

जो भी अवसर सामने आता है उसका उपयोग इन तरीको के एक दूसरे की सत्यता को जाँचने में किया जाता है। समय समय पर अन्तर तो जरूर आये हैं परन्तु बाद के वेधोने हमेशा

ही यह साबित कर दिया है कि वह अन्तर वास्तविक न थे। ज्योतिषियों ने अपने द्वारा काम में लिए गये इन तरीकों पर जो भरोसा रक्खा था उसे भी इन वेधों ने दृढ़ता प्रदान की है।

उल्लिखित तरीको को काम में लाकर जो परिणाम प्राप्त किए गये हैं वह अपने आप में पूर्ण हैं। यह सम्भव तो नहीं दिखता कि भविष्य में कोई नये तथ्य ऐसे मालूम हो जांय जो इन परिणामों में रूपान्तरकारी परिवर्तन ला सकें। तथ्यों के अन्वेषण का काम तो जारी है ही। ज्ञान की खोज कभी रुकती नहीं। शायद, और हमें पूरा विश्वास है कि, आगे चल कर और भी नये तरीके ईजाद किए जावेंगे, वेधों को और भी ज्यादा शुद्ध किया जावेगा और चित्र के मौजूदा खाके में और भी उपयुक्त रङ्ग भर दिये जावेंगे।

आठवाँ परिच्छेद

आकाश-गंगा के बहाव में

अन्धेरी रातों के स्वच्छ और खुले हुए आकाश में, दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर, एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई एक चौड़ी सफेद पट्टी-सी आपने अवश्य देखी होगी। इसको देखने पर लगता है मानों दूध की एक चौड़ी नदी आकाश में बह रही है; इसी कारण, बहुत पुराने जमाने से ही हम लोग इसको "दुधैला मार्ग" The milky way कहते आ रहे हैं। भारतीय ऋषियों ने इसे मन्दाकिनी और देव-गंगा कहकर पुकारा था। इस "दुधैले मार्ग" को और इसके साथ रहने वाले तारों के कुछ गोलाकार झुण्डों को मिलाकार "आकाश-गंगा" कहते हैं।

इसको नदी का-सा रूप देने में सूर्य की तरह के करोड़ों तारों, तारा-क्षेत्रों, तारा गुच्छों और गैसों के बादलों ने भाग लिया है। हमारा सूर्य और उसके परिवार के सभी ग्रह (हमारी पृथ्वी भी) इसके अङ्ग ही हैं।

क्योंकि हम "इसके अन्दर ही" रहते हैं, इसलिये इसके समूचे रूपको सही-सही समझ पाना हमारे लिये हमेशा मुश्किल

रहा है। आँखें मुख का अङ्ग होती हुई भी जैसे और सभी वस्तुओं को तो देख लेती हैं, परन्तु अपने उस मुख को नहीं देख पाती ; ठीक ऐसी ही बात यहाँ भी है। आकाश-गंगा में पृथ्वी की इस स्थिति के साथ हमारा दृष्टिकोण बँधा हुआ है ; इस पर एक परत-सी चढ़ी हुई है। परन्तु खगोल-वैज्ञानिकों ने पिछली शताब्दी में इस परत में कुछ सुराख बनाकर यह देख और जान लिया है कि पृथ्वी पर खड़े हुए हमें आकाश-गंगा का जो रूप दिख पड़ता है, वह तो इस विशाल तारा समूह के भीतर की ओर का एक अंशमात्र ही है।

हम अपनी आँखों पर जो चश्मे पहिनते हैं, उनके गोल काँचों की तरह का इस गंगा का आकार है। हमारी पृथ्वी इस गंगा के केन्द्र से करीब ३०,००० प्रकाश-वर्ष दूर है। इतनी दूर रहते हुए हम इसके खरबों ही तारों के एक छोटे से भाग को ही देख पाते हैं—इसके वृत्त के १००,००० प्रकाश वर्षों के व्यास के सिर्फ एक छोटे से टुकड़े को ही।

तारे, गैसें और धूल के काले बादलों ने ही मिलकर इसकी रूपरेखा बनाई है। इसकी भुजाएँ कोणाकार हैं और कसकर उमेठी हुई-सी हैं। इसको बनाने वाले यह सभी पिण्ड इन भुजाओं में ही हैं। एक लट्टू की तरह ही यह गंगा अपने चारों ओर घूमती है और उसे एक पूरा चक्कर मारने में २००,०००,००० वर्ष लग जाते हैं। इसके घूमने का वेग प्रति-घण्टा ६,००,००० मील है। इस भीषण वेग से अनन्त के महाशून्य में सपाटे

मारती हुई इस आकाश-गंगा के साथ-साथ तारों के अनेक गोलाकार झुण्ड भी रहते हैं जिनमें प्रत्येक में लाखों ही तारे हैं। उनमें का प्रत्येक झुण्ड इस गंगा के केन्द्र के चारों ओर ही बेतरतीब-सा घूमता रहता है।

आकाश-गंगा का एक संक्षिप्त-सा परिचय देकर अब हम पूरे विवरणों के साथ ऊपर लिखी बातों पर प्रकाश डालने की कोशिश करते हैं।

आकाश की ओर एक सरकारी नजर डालने पर ही यह मालूम हो जावेगा कि तारे ज्यादातर आकाश-गंगा की ओर ही प्रचुरता से टँके हुए हैं और यह भी कि इस पर समकोण बनाती हुई दिशाओं में वह उतने घने नहीं हैं। दूरबीनों और फोटोग्राफों के जरिये देखने पर नंगी आँखों से दिखाई पड़नेवाले तारों की अपेक्षा हजारों गुना ज्यादा तारे दिखाई पड़ते हैं। वेध करने के हमारे यह दोनों ही साधन उपरोक्त बातों को बड़े जोरदार ढंग से पुष्ट करते हैं। विलियम हर्शेल ही पहिला ज्योतिषी था जिसने आकाश के भिन्न-भिन्न भागों के तारों को एक सुयोजित रूप में गिना था। अपनी दूरबीन से दिखाई पड़ने वाले सभी तारों को तो उसने नहीं गिना; परन्तु आकाश के एक समान बँटे हुए छोटे-छोटे क्षेत्रों के तारों की गणना उसने अवश्य की। हर्शेल का यह काम अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरणों में किया गया।

हर्शेल वास्तव में एक असाधारण व्यक्ति था। उसमें प्रचुर क्रियाशक्ति, पैनी बुद्धि और ऊँचे दर्जे की सूझबूझ थी।

आकाश के जिन क्षेत्रों को हर्शेल ने नमूने के लिये चुना था उनके तारों की संख्या उसने न केवल एक ही दूरबीन की मदद से गिनी; अपितु भिन्न-भिन्न व्यासों के लेंसों की दूरबीनों द्वारा उसने अनेक बार इनकी गणना की। कई बार की इन गिनतियों ने उसे और भी कई बहुमूल्य जानकारियाँ दीं। मान लीजिये आकाश के किसी एक भाग के तारों को हमने ६ इञ्च लेंस व्यास की दूरबीन की मदद से गिना और १०० तारों को ही गिन सके, तो हम यही धारणा बनाते हैं कि यदि हम १२ इञ्च लेंस व्यास की दूरबीन से इसी भाग के तारों को फिर गिनें तो इस बार हम ४०० तारों को गिन सकेंगे; क्योंकि ६ इंच लेंस व्यास की दूरबीन आकाश के इस भाग के जितने क्षेत्र को पकड़ेगी, १२ इंच लेंस व्यास की दूरबीन उसके चौगुने क्षेत्र को पकड़ सकेगी। यदि हम इन क्रियाओं को बार-बार करें और प्रत्येक बार पिछली बार के लेंस व्यास की अपेक्षा दुगुना लेंस व्यास काम में लेते रहें तो जहाँ प्रत्येक बार दृष्टक्षेत्र पहिले के क्षेत्र से चौगुना होता जावेगा, वहीं उस क्षेत्र में दिख पड़ने वाले तारों की संख्या भी चौगुनी होती जावेगी। यह बात तब तक सही होगी, जब तक कि दूरबीनों के लेंस व्यासों को क्रमशः बढ़ाते हुए हम आकाश के ऐसे क्षेत्रों तक न पहुंच जावें, जहाँ इन तारों की स्थितियों का औसत घनत्व पहिले क्षेत्रों की

अपेक्षा घटने न लगे। इस क्रिया को करते हुए जब हम अपनी बड़ी से बड़ी लेंस व्यास की दूरबीन बना चुके होते हैं (हर्शेल ४ फुट लेंस व्यास से आगे न बढ़ सका) तो अनन्त आकाश में हमारी डुबकी की अपनी अन्तिम सीमा आ पहुँचती है; और ज्यादा आगे बढ़ना हमारी सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। यदि इस सीमा रेखा तक पहुँचने पर भी हम तारों की घनी बसावटों में कोई अन्तर नहीं पाते, तो इससे आगे तो हम कुछ कर भी नहीं सकते। हर्शेल ने यह तो स्वीकार कर लिया कि आकाश-गंगा में तारों की बसावटों के घनत्व में कोई गिरावट नहीं पाई जाती। इस आकाश-गङ्गा में हम जितने भी गहरे गोते लगावें कहीं भी ऐसा कोई क्षेत्र दिखाई नहीं पड़ेगा, जहाँ इन तारों की बस्तियाँ पतली पड़ी हों। परन्तु आकाश-गङ्गा के ध्रुवों की ओर जाकर जाहिरा तौर पर यह पतले अवश्य पड़ गये हैं। यह बात हमारी नंगी आँखों से भी दीख सकती है।

हर्शेल के इस अध्ययन ने उसे यह विश्वास दिलाया कि तारों की कौम का विस्तार अपरिमित तो नहीं है; यह भी कि आकाश-गङ्गा में भी आखिर ऐसी एक सीमा है जहाँ से आगे कोई तारे नहीं हो सकते; और यह कि उसे इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिल चुके हैं कि दूसरी दिशाओं में तो यह सीमा बहुत नजदीक है, जहाँ आकर तारों की बस्तियाँ खत्म हो जाती हैं।

हर्शेल ने कहा कि तारे एक चिपटी और मोटे तौर पर गोल आकार की एक पाव रोटी की शक्ल में आकाशमें भरे

हुए है और सूर्य इस रोटी के मध्य भाग में ही कहीं पर है। सामान्यतः आकाश के इस देश में तारे एक समान रूप में फैले हुए है, परन्तु इसके किनारों की ओर धीरे-धीरे पतले होते चले गये हैं। क्योंकि सूर्य के साथ ही हम भी इस रोटी के मध्य भाग में ही हैं, इसलिये नजरें फेंकने पर हमें इस रोटी के किनारे की ओर की दिशाओं में बहुत ज्यादा तारे, और वह भी पास-पास टँके हुए से, दिखाई पड़ते हैं। यदि हम इस रोटी के ऊपरी या निचले भागों की ओर देखें तो हमें अपेक्षाकृत कम तारे और वह भी दूर दूर टँके हुए से दिखेंगे। इस प्रकार आकाश गंगा को यों समझाया जाता है कि यह हमारे नजदीकी तारों की कमर के चारों ओर लिपटी हुई एक अलग तारा-राशि नहीं है; प्रत्युत तारों के एक बहुत चिपटे और विशेष कर एकरूप झुण्ड के भीतर हमारी अपनी स्थिति का स्वाभाविक परिणाम ही है, अर्थात् इस झुण्ड के भीतर जैसी हमारी मध्यगत स्थिति है वहाँ रह कर हम इस झुण्ड के दूसरे तारों को सिर्फ इसी रूप में (आकाश गंगा के रूप में) देख सकते हैं। इसकी कोई खास लम्बाई चौड़ाई नहीं है। अपने चारों ओर धीरे-धीरे यह पतली होती जाती है जिससे कि किसी एक निर्दिष्ट सी सीमा के लिए कोई यह नहीं कह सकता कि इसीके भीतर भीतर ही इसके सभी तारे और दूसरे पिण्ड समाविष्ट हैं। बहुत ही मोटे रूप में, इसका व्यास करीब ३०,००० पार्सेक या १ लाख प्रकाश वर्ष आँका गया है।

आकाश गंगा में तारों के अलावा और भी कुछ वस्तुएँ हैं। धूल और गैसों के बड़े-बड़े बादल भी इसमें मौजूद हैं जो अपने पीछे के तारों के प्रकाश को या तो बिल्कुल ढँक लेते हैं या उसे धुँधला कर देते हैं। कहीं-कहीं यह बादल अपने भीतर के तारों के प्रकाश के कारण जगमगाने भी लगते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणों के कारण हमारा वायुमण्डल प्रकाशित होकर उत्तेजित सा हो उठता है और इस प्रकार हमें "उत्तरीय प्रकाशों" (the northern Lights) के खेल दिखाता है। आकाश गंगा के इन बादलों की चमक दूरबीन से देखी जानेपर कुछ हरापन ली हुई सी दिखाई देती है। वर्षों तक इसने आकाशीय विद्वानों को उलझन में डाले रक्खा; क्योंकि वर्ण-पट दर्शक तो यह बताता था कि कुछ चमकदार रेखाओं (एक-एक फड़कनों की) के कारण ही ऐसा होता है। परन्तु मुश्किल यह थी कि पृथ्वी पर जितने भी हमारे परिचित द्रव्य हैं, उनकी प्रसारित फड़कनों से यह किसी से भी मेल नहीं खाती थीं। अब तो हम जान गये हैं कि नाइट्रोजन और ओक्सीजन, या दूसरे शब्दों में, हमारे साँस लेने की हवा, के कारण ही ऐसा होता है। इन बादलों में यह दोनों ही गैसें इतने कम घनत्व पर होती हैं कि उनके अणु वहाँ ठीक वैसा बर्ताव नहीं कर सकते जैसा वह हमारी पृथ्वी पर करते हैं जहाँ वह एक दूसरे से बहुत ज्यादा सटे होकर भीड़ सी लगाए हुए हैं। वास्तव में यह एक अलग जाति की आकाश गंगाएँ ही हैं।

हर्शेल ने इन रुकावटी बादलों को देखा तो अवश्य, परन्तु वह उन्हें उनके अपने असली रूप में जान न सका। उसने सोचा कि तारों के बीच बीच यह कुछ वास्तविक खाइयाँ हैं, अर्थात् खाली आकाश जिन में से वह और भी दूर अनन्त देश में झाँक सकता है। जो हो; उसके ध्यान में यह बात तो जरूर आ चुकी थी कि बिना तारों के उजाड़ से दिखने वाले यह प्रदेश चमकते हुए से कुछ चिथड़ों (जिन्हें बाद में नीहारिकाएँ कहा गया) से सम्बन्धित तो थे ही। आकाश के अपने अध्ययनों के सिलसिले में जब हर्शेल की दूरबीन द्वारा फेंकी हुई दृष्टि पहिले पहल ऐसे ही एक कोरे क्षेत्र से टकरा गयी तो उसने तुरन्त अपने सहकारी को, जो अध्ययनों को लिपिबद्ध कर रहा था, पुकार कर कहा "नीहारिका के लिये तैयार हो जाओ।"

आकाश गंगा में, इन बादलों के अलावा, अनेक तारा गुच्छक clusters of stars भी हैं। आकाश में दिखने वाले सुन्दर दृश्यों में यह भी हैं। इनमें से कई गुच्छे तो गोलाकार है और उनकी बनाबट बड़ी सुन्दर है। इनको गोलाकार गुच्छे कहते हैं। दूसरे कई गुच्छे अनियोजित एवं भद्दे से आकार के हैं। एक गोलाकार गुच्छक कैसा दिख पड़ता है इस बात को जानने के लिए हम एक काम कर सकते हैं। काले रङ्ग के एक कागज पर थोड़ा नमक, एक वृत बनाते हुए, इस प्रकार बिखेरते हैं कि नमक के दाने वृत्त के केन्द्र पर तो घने हों और फिर चारों ओर सभी दिशाओं में धीरे धीरे छितरते जाँय। नमक के

दाने छोटे बड़े सभी तरह के है और इस प्रकार अपने आकार के अनुसार इस तारागुच्छक के भिन्न भिन्न चमक के तारों का ठीक निरूपण भी करते है।

बहुत से गोलाकार तारा गुच्छकों में सेफीड तारे भी हैं। यह तारे गद्दार तो हैं ही; क्योंकि उन्होंने अपने गुच्छकों की दूरियें बताने में कभी कोई हिचकिचाहट नहीं की है। देखा यह जाता है कि किसी एक गुच्छक के सभी सेफीड तारे (अवश्य ही वह हम से एक ही दूरी पर हैं) समय के फर्कों और दीप्ति का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार बनाए रखते हैं जिस प्रकार लघुम-गलीय बादल या नीहारिका के निवासी उनके जाति भाई। आकाश गंगाके समूचे क्षेत्र में जो एकरूपता पाई जाती है उसका यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है। यह बात समयान्तर-दीप्ति सम्बन्ध को आधार मान कर दूरियें आँकने के तरीके की सचाई को भी पुष्टि देती है।

अपने पीछे के स्थान एवं पिण्डों को ढकने वाले यह बादल आकाश गंगा के मार्ग की ओर ही ज्यादातर पाये गये हैं। इसके एक खास भाग में तो यह बहुत ही घने देखे गये हैं। यह भाग हैं धनु और वृश्चिक राशियों के क्षेत्र। इन्हीं क्षेत्रों में आकाश गंगा के सबसे अधिक चमकीले हिस्से हैं। ज्योतिषियों के मन में यह बात खूब गहरी बैठी हुई है कि यदि यह रुकावट डालने वाले बादल हटा दिये जांय तो इनके पीछे छिपे हुए और भी ज्यादा चमकीले भाग दिखाई देने लगेंगे।

सूर्य इस आकाश गंगा के केन्द्र पर नहीं है। मोटे तौर पर वह केन्द्र और किनारों के बीच आधे मार्ग पर ही कहीं है; परन्तु इसकी केन्द्रीय सतह से बहुत नजदीक भी है—इस रोटी की मोटाई में है। आकाश गंगा का केन्द्र तो चमकीले धनु और वृश्चिक तारा-समूहों की दिशा में ही कहीं है। सबसे घने धूलके बादल भी वहीं पाये गये हैं।

आकाश गंगा को बनाने वाले तारे कई हजार करोड़ों की संख्या में हैं—वह बेशुमार हैं। उनकी कोई गिनती नहीं हो सकती। वह सब तरह के आकारों के हैं, परन्तु उनकी द्रव्य मात्राएँ परस्पर ज्यादा भिन्न नहीं हैं। उनके आकारो का श्रेणी-विभाग बहुत बड़ा है। बहुत से ऐसे तारों से हम परिचित हैं जिनमें का कोई एक तारा यदि किसी मौके पर अचानक आकर सूर्य की सतह के ऊपर आसन जमाले तो वहीं बैठा हुआ वह अपने विशाल कलेवर में न केवल हमारी पृथ्वी को ही समेट लेगा अपितु मङ्गल को भी। ऐसे तारे खासकर ज्यादा द्रव्य मात्रा के नहीं होते और इस कारण उनके घनत्व भी बहुत कम होते हैं। वास्तव में; उनके समूचे शरीर का घनत्व शायद उस हवा के घनत्व से भी कम होगा जो हवा उस क्षेत्र में भी रहेगी जिसे हमारी प्रयोगशाला में पूर्णतः वायुशून्य कहकर बनाते हैं। दूसरी ओर, ऐसे भी कई तारे हैं जो घनता में तो सूर्य के बराबर हैं परन्तु आकार में पृथ्वी से ज्यादा बड़े नहीं है: वह इतने घने हैं कि दियासलाई की एक डिबिया के आकार का उनके बदन का कोई टुकड़ा वजन में १ टन उतरता है।

उन तारों के ताप मानों में भी काफी बड़े अन्तर हैं। कुछ तो इतने गर्म हैं कि वह सफेदी से भी एक दर्जा आगे हैं; वह "नील-गर्म" हैं। दूसरे कुछ इतने ठण्डे हैं जितना कि बिजली की भट्टी में तुरन्त गला हुआ लोहा। इन से भी ज्यादा ठण्डे तारों के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं, इतने ठण्डे कि वह कोई तरह की दिखाई पड़ने वाली रोशनी नहीं दे सकते।

ऊपर हमने जिन तापमानों का उल्लेख किया है वह उन तारों की ऊपरी सतह के तापमान ही हैं—अपनी सतह के नीचे उनके आन्तरिक तापमान तो बहुत बहुत ऊँचे, कई करोड़ शतांश, हैं।

इन सभी बातों को (आकार, द्रव्य मात्रा और तापमान) को लेकर सूर्य इस विशाल पाँत में बिल्कुल खो सा जाता है। वह मध्यम आकार, मध्यम द्रव्य मात्रा और मध्यम तापमान का एक मध्यम दर्जे का तारा ही है। यद्यपि बात तो यह कुछ अप्रिय जरूर लगती है, परन्तु अपने जाति भाइयों में इसका दर्जा "जी" किस्म के बौने का G-typedwarf ही है। आकाश गंगा के इस सुविशाल समूह में इस दर्जे के तारे ही ज्यादा हैं और दूसरे दर्जों के कम। इसलिए यदि हम इस लम्बे चौड़े जमाव को एक बहुत बड़ी दूरी पर बैठ कर देख सकें और इसके वर्णपट का फोटो चित्र भी ले सकें तो यह सारा का सारा जमाव ही सूर्य के अपने कुटुम्बी ग्रहो और उपग्रहों से बने मण्डल से बहुत कुछ मिलता जुलता दिखाई पड़े। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस

सूर्य के दामन से विधाता ने हमारे भाग्य की डोर अटूट रूप से बाँध रक्खी है उसको लेकर हम कोई गर्व नहीं कर सकते।

यदि इस तस्बीर के सभी पहलुओं को मिलाकर इस पर एक पूरी नजर डालें तो हम यह तो मान ही सकते हैं कि इस जमाव के तारे सर्वत्र एक ही रूप में फैले हुए हैं। यह बात संख्या के दृष्टि कोण से तो सही जरूर है, मगर इन तारों के काफी गुच्छे भी हैं। यह गुच्छे सभी दर्जों के हैं; एक दूसरे से बहुत सटकर सिर्फ (हमारी दृष्टि में ही) झुण्ड बाँधे हुए गोलाकार गुच्छों से लेकर ढीले ढाले सम्बन्ध में बँधे हुए और अलग भागने की चेष्टा सी करते हुए गिरोहों तक अलग अलग दर्जों के। हमारा सूर्य इस पिछले दर्जे के गिरोह का ही एक सदस्य है।

आकाश-गंगा का यह सारा ही जमाव अपने चारों ओर घूम रहा है; जिस प्रकार एक ठोस पिण्ड अपने चारों ओर घूमता है ठीक वैसे तो नहीं। उसका यह घूमना ठीक उसी अर्थ में है, जिसमें कि समूचे सौर मण्डल को, जिसमें सूर्य के चारों ओर उसके ग्रह भी घूमते रहते हैं, अपने चारों ओर घूमता कहा जाता है। सभी एक ही दिशा में घूमते हैं; परन्तु उनके एक-एक चक्कर पूरा करने की अपनी-अपनी अलग अवधियाँ हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि नाक्षत्रिक विद्वान् परिभ्रमण rotation और परिक्रमण revolution के भेद को बहुत ही महत्व देते हैं। यह दोनों ही दो अलग-अलग गतियों के द्योतक हैं। एन्जीनियर लोग इस भेद को कोई महत्व नहीं

देते। गाड़ी के एक पहिये के अपनी धुरी पर घूमने अथवा बच्चों के खेल के लट्टू के अपनी कील पर घूमने को परिभ्रमण rotation कहते हैं, जब कि एक धागे के एक किनारे पर एक बोझल वस्तु को बाँधकर घुमाने वाला अपने चारों ओर जो उसे घुमाता है अथवा प्रदर्शनियों में एक खूब लम्बी-चौड़ी लोहे की चर्खी के चारों ओर लटकी हुई कुर्सियों अथवा काठ के घोड़ों पर बैठे हुए व्यक्ति जिस प्रकार उस चर्खी के खम्भे के चारों ओर घूमते हैं उसे परिक्रमण revolution कहते हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घण्टों में एक परिभ्रमण rotation करती है ; परन्तु वही पृथ्वी अपनी इस गति के साथ-साथ ही सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में एक पूरा चक्कर भी मारती या परिक्रमण revolution करती जाती है।

आकाश-गंगा के केन्द्र के चारों ओर परिक्रमण करते हुए किसी एक तारे को एक पूरा चक्कर देने में बहुत ही लम्बा समय लगता है ; यह समय करोड़ों-वर्षों की संख्याओं में आँका जाता है। कोई बहुत ही सही संख्या तो नहीं दी जा सकती। परिभ्रमण की बात को सिद्ध हुए अभी बहुत ही थोड़े वर्ष बीते हैं। सूर्य के ही परिक्रमण काल को निःसन्दिग्ध रूप में जानने में अभी शायद कुछ वर्ष और लग जाँय। हो सकता है यह काल करीब २००,०००,००० वर्ष हो।

इन तारों के अपने आकारों को देखते हुए किन्हीं भी दो तारों के बीच की आपस की औसत दूरी बहुत ही ज्यादा है

सूर्य का व्यास ८६४,००० मील है। इतनी दूरी को पार करने में प्रकाश को ४॥ सेकन्डों से कुछ ही ज्यादा समय लगता है। तारों में सूर्य का सबसे निकट का पड़ौसी प्रोक्जिमा सैंटारी Proxima centauri नामक एक तारा है। सूर्य से चले हुए प्रकाश को उस तारे तक पहुँचने में करीब ४॥ वर्ष लग जाते हैं। हम सभी जानते हैं कि प्रकाश एक सेकन्ड में १८६,००० मील चलता है। यह तो प्रकाश की चाल और फिर उसका दम भर को भी कहीं न रुक कर लगातार ४॥ वर्षों तक चलना और तब जाकर अपने सबसे निकट पड़ौसी का द्वार खट-खटाना ? इन दोनों तारों के बीच की दूरी उनमें के एक (सूर्य) के व्यास की करीब ३२,०००,००० गुनी है? पिंगपोंग एक खेल है जो काठ के हलके बल्लों और मुर्गी के बड़े अण्डों के बराबर की कड़ी गेंदों से खेला जाता है। हम सब इससे परिचित हैं। यदि पिंगपोंग की दो गेंदों को एक दूसरी से ७५० मील की दूरी पर रख दिया जाय तो हम सूर्य और उसके उस निकट पड़ौसी तारे के बीच की दूरी का समझ में आ सकने लायक अन्दाज लगा सकते हैं।

गोलाकार गुच्छों के तारे एक दूसरे से इतने दूर नहीं हैं। परन्तु वहाँ भी तारों की एक दूसरे से दूरियाँ उनके आकारों की हजारों और लाखों गुना हैं।

आकाश-गङ्गा का अधिकांश भाग तो खाली क्षेत्र है। हाँ; इस क्षेत्र में अत्यन्त पतली गैसें, उतने ही पतले धूल के बादल और प्रकाश-किरणें जो इस क्षेत्र में चारों ओर इधर-उधर

आ जा रही हैं, अवश्य हैं। कहीं-कहीं अत्यन्त गर्म और चमकते हुए पदार्थ के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे टुकड़े भी मँडराते रहते हैं। इनमें से कम से कम एक टुकड़े के चारों ओर घूमते हुए कुछ और भी छोटे-छोटे ठण्डे पदार्थ के टुकड़े हैं और इन्हीं छोटे ठण्डे टुकड़ों में एक हमारा यह घरौंदा (पृथ्वी) भी है।

आकाश-गङ्गा का जमाव एक विशाल और प्रचुर पैमाने पर है। दूरियें आँकने के जिन तरीकों के हमने ऊपर उल्लेख किए हैं उन्हीं के परिणाम-स्वरूप इस जमाव की रूप-रेखाएँ कायम की गई हैं। अगर उन तरीकों की सत्यता और विश्वस्तता मान ली जाय तो इस परिच्छेद में बहुत ही संक्षिप्त रूप में खींची हुई तारों के इस जमाव की तस्वीर भी अवश्य ही सही मान लेनी होगी; भले ही कुछ व्यक्तियों को यह तस्वीर अनाकर्षक जँचे, परन्तु यह तो कोई वैध कारण नहीं कि महज इसी बात पर यह ठुकरा दी जाय। जो तथ्य हैं उनकी ओर हम आँखें तो मूँद नहीं सकते; उनको स्वीकार तो करना ही होगा और उचित मान्यता भी देनी होगी—हमारे सोचने के तरीकों को उनके मुताबिक ही ढालना होगा। हमारे इस छोटे से ग्रह (पृथ्वी) की आकाश-गंगा के इस सुविस्तृत जमाव में जो अत्यन्त नगण्य-सी स्थिति है उसको देखकर यदि कोई पाठक एक धक्का-सा महसूस करे तो उसे यह सोचकर सन्तोष की एक साँस लेनी चाहिए कि विश्व की इस योजना में उसकी (मनुष्य की) सही कीमत सिर्फ आकार-विस्तार पर ही निर्भर नहीं है।

दूसरे कुछ पाठक ऐसे भी होंगे जो तारों की उनके (मनुष्य के) प्रति उदासी से प्रभावित होकर मायूस हो जाँय—यह खयाल कि इतने बड़े-बड़े और बहुसंख्यक तारे उससे कोई वास्ता नहीं रखते ; कि आकाश-गङ्गा के इस जमाव में यदि कोई एक प्रयोजन या बँधी हुई योजना हो तो यह प्रयोजन या योजना उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। ऐसा करना महजहीनता की भावना inferiority complex ही होगा। ऐसे पाठकों के आश्वासन के लिये हम यही कह सकते हैं कि छोटा या बड़ा कोई क्यों न हों, विश्व के सुयोजन में सबके अलग-अलग महत्व, उपयोग और विशिष्ट स्थान हैं; और यह भी कि सभी नैतिक विधानों में नम्रता एक विशिष्ट गुण मानी गई है।

अपने ही मुंह मियाँ मिट्ठू बनने की फूली हुई भावना में जब कोई सूराख कर दिया जाता है तो उसके लिये अमेरिकनों की बोलचाल की भाषा में एक बहुत ही सुन्दर वाक्यांश का प्रयोग किया जाता है ; कहा जाता है कि इस भावना को रखने वाले व्यक्ति को "काटकर औसत कदमें कर दिया गया है। (The possessor has been cut down to size)। काटकर औसत कदमें कर दिये जाने की यह प्रक्रिया तो अभी शुरू ही हुई है। अनन्त की राह में कुछ कदम और आगे चलकर तो हम अपने आपको और भी नगण्य से महसूस करने लगेंगे।

नौवाँ परिच्छेद

आकाश-गंगा की बहिनों से भेंट

आकाश-गंगा के एक किनारे धुँधले प्रकाश का एक बादल सा दिख पड़ता है। उसका आकार एक शङ्ख की तरह का है, और दूरबीन के विना भी उसे देख सकते हैं। उसको "बड़ी नीहारिका" great nebula कहते हैं। उसके दो नाम और भी हैं—एक है "एम् ३१" (M 31) और दूसरा है एन्०जी०सी० २२४ (NGC 224)। वह उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र Constellation Andromeda में है। यहाँ पर यह जान लेना जरूरी है कि ज्योतिर्विज्ञान में अधिकांश आकाश-गंगाओं को, (नीहारिकाएँ भी आखिर आकाश-गंगाएँ ही हैं जैसा आगे चलकर स्पष्ट होगा), "एन्. जी. सी." अक्षरों के आगे कुछ संख्याएँ लगा कर ही, नाम दिए जाते हैं। अङ्गरेजी भाषा के तीन शब्दो New General catalog (नयी सामान्य सूची) के प्रथम अक्षरो को लेकर ही यह "एन्. जी. सी." संज्ञा बनाई गई है। अनन्त की अति विशाल दूरियों में खगोल वैज्ञानिकों का यह एक मार्ग-दर्शक सूची पत्र है। रेखा चित्र ३० में हमने दुधैले मार्ग "The Milkyway या हमारी आकाश-गंगा की दूसरी बहिनो
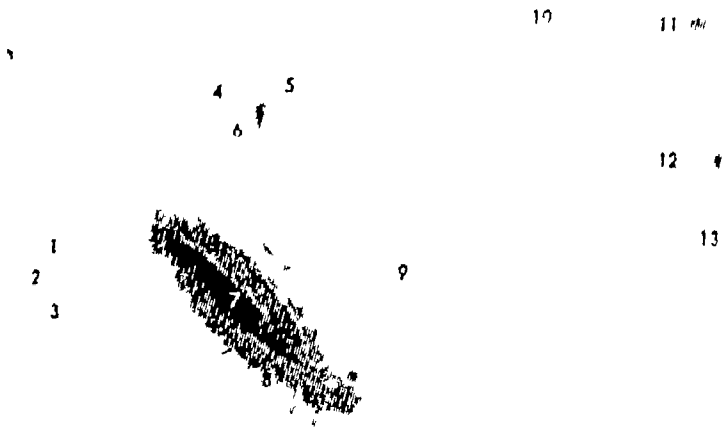
आकाश-गंगा की वहिनें

की स्थितियों को दिखलाया है। इस चित्र की सभी आकाश-गंगाएँ या नीहारिकाएँ मिल कर अपना एक अलग परिवार बनाती हैं जिसे "स्थानीय दल" local group कहते हैं।

इस "स्थानीय दल" में १७ या इससे कुछ ही अधिक ऐसे तारा-समूह या आकाश-गंगाएँ हैं जो सबकी सब १५ लाख प्रकाश-वर्षों के अर्ध-व्यास radius के भीतर-भीतर ही, गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से परस्पर बंधी हुई, रहती हैं।

इस "स्थानीय दल" में कुछ ऐसी छोटी शङ्खाकार (elliptical) ६ गंगाएँ और भी हैं जिनमें सर्प की कुण्डलियों की तरह की भुजाएँ भी नहीं है और धूल और गैसे भी बहुत कम है। इनके सिवाय, इस "दल" में मगलीय बादलों की तरह के बेडौल से चार तारा-समूह भी हैं। इन सब पिण्डों से अत्यन्त दूर कुण्डलियाँ मारे हुए तीन पिण्ड और भी है जो इस विशाल गहराई में दूर-दूर छिटके हुए से हैं। शायद, वह भी इस "दल" के ही परिवार में हैं। इतने अधिक दूर होते हुए भी वह तीनों पिण्ड उसी रहस्य भरी गुरुत्वाकर्षण शक्ति की डोर में बँधे हुए, ऐन्डोमीडा और हमारे "दुधैले मार्ग" के बीच, किसी एक अज्ञात केन्द्र के चारों ही ओर घूम फिर रहे है।

आठवें परिच्छेद में आकाश-गंगा का वर्णन करते समय हम धूल और गैसों के बादलों की तरह दिखने वाले कुछ धुंधले आकारों का उल्लेख कर आये हैं; और यह भी कि 'वर्णपट-दर्शक' से देखने पर उनका प्रकाश कुछ हरापन लिए हुए सा

दिखता है। वास्तव में वह भी दूर की कुछ नीहारिकाएँ ही हैं। नीहारिकाओं की अनेक जातियों में उक्त नीहारिकाओं की अपनी एक अलग जाति है। प्रस्तुत परिच्छेद में हम जिन नीहारिकाओं की चर्चा कर रहे हैं उनसे वह बिल्कुल भिन्न हैं।

आकाश-गंगा की बहिनों का रङ्ग तो उजला निखरा हुआ सफेद है। दिखती तो वह भी घास के एक गट्ठर की तरह ही है; परन्तु उनके आकार सुडौल हैं। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् हगिन्स ने अपने 'वर्णपट-दर्शक' की मदद से उन नीहारिकाओं और और ऊपर कही गई उन हरी नीहारिकाओं में परस्पर एक भेद और भी बताया था। वह भेद यह है कि हरे रङ्ग की उन नीहारिकाओं के वर्णपटों में सिर्फ थोड़ी सी चमकदार रेखाएं ही पाई जाती है जब कि सफेद नीहारिकाओं के वर्णपटों में सभी रङ्गो के लट्टे से पाये गये हैं; ठीक वैसे ही जैसे कि खूब गर्म करने पर सफेद पड़े हुए किसी भी पिण्ड के वर्णपटों में मिलते हैं। बाद में, और भी ज्यादा शक्तिशाली यन्त्रों की मदद से उन नीहारिकाओं के वर्णपटों को पार करती हुई काली शोषण-रेखाएँ भी देखी गई। वास्तव में उनके वर्णपट सूर्य के वर्णपट से बहुत कुछ मिलते जुलते है।

कई वर्षों तक यह सफेद नीहारिकाएँ नाक्षत्रिक जगत् में एक बहुत बड़े विवाद का केन्द्र बनी रहीं। कुछ विद्वानों के मत में तो यह नीहारिकाएँ आकाश गंगा के ही जमाव में उसकी अङ्ग ही थीं। दूसरे विद्वान् मानते थे कि वह आकाश गंगा से बिल्कुल

पृथक् थीं। कुछ विद्वान् तो साहस कर यहाँ तक कहने लगे थे कि वह भी तारों की अलग आकाश-गंगाएँ ही हैं।

प्रथम मत के समर्थक यह विश्वासोत्पादक तर्क पेश करते थे कि उन नीहारिकाओं के फैलाव आकाश गंगा की सतह से बहुत कुछ सम्बन्धित से दिखाई पड़ते थे।

यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि साधारणतया आकाश गंगा के समूचे जमाव के भीतर पिण्डों के किसी भी वर्ग की संख्यायें, जिन्हें हम आकाश के बराबर आकार के हिस्सों में पाने की धारणा रखते हैं, स्वयं आकाश गंगा के भीतर दोनों ओर बड़ी से बड़ी होंगी और उसके दोनों ध्रुवों की ओर उसकी सतह पर समकोण बनाती हुई दिशाओं में, सबसे कम होंगी। तारों, नीली नीहारिकाओं और रुकावटी बादलों पर तो यह बात बिल्कुल सही उतरती है। परन्तु यह सफेद नीहारिकाएँ बिल्कुल ही उलटा चित्र पेश करती है; आकाश गंगा के दोनों ओर तो यह नीहारिकाएँ संख्या में कम पाई गई है और इससे दूर के क्षेत्रों में अधिक। यह बात निश्चय ही यह सिद्ध करती है कि इस जमाव में इनका फैलाव एकसा नहीं है, परन्तु साथ ही यह भी कि यह नीहारिकाएँ आकाश गंगा से एक बहुत नज़दीकी सम्बन्ध भी रखती है। तर्क यह किया गया कि अगर यह नीहारिकाएँ बिल्कुल अलग-थलग बाहर की ही कोई चीज होतीं और हमारी आकाश गंगा से बहुत दूर भी होतीं तो अवश्य ही वह इस आकाश गंगा का कोई खयाल न रखतीं;

अपितु आकाश के सभी भागों में भद्देपन से बराबर बराबर विखरी होतीं।

धूल के रुकावटी बादलों की पूरी जानकारी पा चुकने के साथ ही इस तर्क की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई। तब यह धारणा पेश की जाने लगी कि यह नीहारिकाएँ, सचमुच ही, आकाश गंगा की पाँत के बाहर की चीजें हैं और यह भी कि यह उससे वहुत ही दूर और प्रायः बराबर-बराबर फैलाव की है। आकाश गंगा के क्षेत्र की सभी नीहारिकाओं को हम सिर्फ इस कारण नहीं देख पाते क्योंकि वह उसमें के रुकावटी बादलों से करीब-करीब ढँक ली गई हैं। इस बात को समझाने के लिए कहा जाने लगा कि जिस प्रकार हम अपने सिर के ऊपर आकाश में जितने तारों को देखते हैं क्षितिज पर उनसे वहुत ही कम तारे देख पाते हैं क्योंकि हमारी पृथ्वी के अधिक घने वायुमण्डल और उसकी निचली तहों में फैली हुई धूल और धुन्ध के कारण उधर के अधिकांश तारे ढॅक से जाते है और घनी रुकावट को पार कर उनके प्रकाश हम तक पहुंच नहीं पाते।

यह सफेद नीहारिकाएँ बहुत ही धुँधले पिण्ड (सिर्फ हमारे देखने में ही) हैं और बड़ी-बड़ी दूरबीनों से भी उनकी रूपरेखा का हम कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस बृहत् नीहारिका, एम् ३१, को हम एक लम्बे से शङ्खाकार धुॅधले प्रकाश के गाले के रूप में ही देख पाते हैं। अपने केन्द्र स्थल पर यह बहुत ही

चमकीली है जहाँ एक छोटा परन्तु बिल्कुल एक तारे की तरह इसका नाभिकेन्द्र है)। इस केन्द्र के चारों ओर यह क्रमशः मन्द पड़ती गई है। एक तरफ इसमें एक काली दरार सी देखी जाती है जो इस नीहारिका की पूरी लम्बाई तक इसके समानान्तर चली गई है। कुछ दूर हट कर और भी दो नीहारिकाएँ हैं जो इस प्रधान नीहारिका से छोटी और ज्यादा धुँधली हैं; लगता है जैसे यह दोनों नीहारिकाएँ उसके आधिपत्य में हों।

अर्लरोस ने, करीब ६० वर्षों पहिले, अपनी बनाई हुई ६ फीट व्यास की एक परावर्तक दूरबीन reflecting telescope की सहायता से दो छोटी सफेद नीहारिकाओं को देख कर उनकी खास रूपरेखा का पता लगाया था। हर्शेल की ४ फीट व्यास की दूरबीन जितना प्रकाश पकड़ पाती थी, रोस की यह ६ फुटी दूरबीन उससे दुगुना प्रकाश पकड़ पाने की सामर्थ्य रखती थी। अपने समय में तो यह दूरबीन सबसे बड़ी थी। इसके बाद एक अर्धशताब्दी से भी ज्यादा समय गुजरा जब कि इतनी ही बड़ी दूमरी दूरबीन बनाई गई।

इन दोनों नीहारिकाओं की जो रूपरेखाएँ देखी गईं, वह आश्चर्यजनक थीं; वह कोणाकार (spiral ; आधार पर तो मोटी और वृत्ताकार, मगर आगे की ओर नोक बनाती हुई) थीं ; चक्कर मारती हुई एक आतिशबाजी की तरह। असंगठित और बेडौल अधिकांश हरी नीहारिकाओं से वह बहुत ही भिन्न

थीं। रोस की इस खोज ने इन दोनों प्रकार की नीहारिकाओं के आपसी भेदों को और भी स्पष्ट कर दिया।

जब तक फोटोग्राफी नक्षत्र-विज्ञान की मदद को आगे न बढ़ी, इस दिशा में और ज्यादा प्रगति न हो सकी। पिछली शताब्दी के आखिरी वर्षों में आईजक रोबर्ट्स नामक एक अंग्रेज ने, जो एक शौकिया नाक्षत्रिक थे, २० इञ्च व्यास की एक परावर्तक दूरबीन को काम में लेकर बहुत-सी नीहारिकाओं के फोटो-चित्र लिए। इन फोटो-चित्रों ने बताया कि अधिकाँश सफेद नीहारिकाएँ बनावट में कोणाकार ही है। एन्ड्रोमीडा नक्षत्र मण्डल की सब से प्रमुख नीहारिका "एम् ३१" भी इनमें से एक है। यह नीहारिकाएँ हमारी दृष्टि-रेखा पर सभी तरह के कोण बनाती हैं; कुछ तो अपनी चौड़ी छाती को बिल्कुल हमारी ओर किए हुए हैं, जैसी कि लार्ड रोस द्वारा देखी गई दोनों ही कोणाकार नीहारिकायें। कुछ अपने किनारों के बल ऊपर की ओर खड़ी हैं और कुछ तिरछी खड़ी हैं, जैसी कि "एम् ३१"। जो नीहारिकाएँ अपने किनारों पर ऊपर की ओर खड़ी हैं, उनके आरपार एक-एक काली धारी सुघड़ता के साथ एक ओर से दूसरी ओर देखी जाती है। दूसरी नीहारिकाओं में भी, जो बिल्कुल किनारों पर तो खड़ी नहीं हैं, ऐसी काली धारियाँ दिख पड़ती हैं। ऐसा मालूम होता है मानो यह नीहारीकाएँ कोई एक काली वस्तु का लंगोट कसे हुए हैं। "एम् ३१" नीहारिका में दिखाई पड़ने वाली दरार भी, जो दूरबीन से स्पष्ट दिखाई

देती है, इसी प्रकार की मालूम पड़ती है; परन्तु फोटो-चित्रों ने, दूरबीन से और आगे बढ़कर, इस नीहारिका में एक की जगह कई काले पट्टे दिखलाए हैं।

फोटो-चित्र क्यों इतना सब कुछ बता सकते है जितना आँखे, दूरबीन की मदद से भी, नहीं देख पातीं; इसका एक मात्र यही कारण है कि हम अपने अनुभवों से ही जानते हैं कि किसी एक वस्तु को हम चाहे जितनी देर देखें, फिर भी उसकी चमक उतनी ही रहेगी जितनी वह पहिली नजर में दिखाई दी थी। ज्यादा देर देखने पर भी उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा, परन्तु फोटो-प्लेट की बात बिल्कुल भिन्न है। जितनी ही देर हम एक फोटो-प्लेट को किसी वस्तु की ओर खुला रक्खेंगे, उतना ही गहरा असर वह वस्तु उस प्लेट के दूधिया तैल लेप पर डालेगी। प्रत्येक फोटोग्राफर यह बात जानता है। खराब मौसिम के दिनों में भी कोई फोटोग्राफर अपने फोटोग्राफ के शटर (shutter) को लम्बे अर्से तक खुला रखकर एक अच्छे गहरे असर का "नेगेटिव" (negative) ले सकता है, ठीक वैसा ही जैसा वह एक साफ दिन थोड़ी देर प्लेटों को खुले रखने से ही ले सकता था। यह नीहारिकाएँ बहुत ही धुँधली हैं—इतनी धुँधली कि हम उनकी सही रूपरेखाएँ भी नहीं देख पाते। यदि काफी समय दिया जाय तो यही नीहारिकाएँ फोटोग्राफ की प्लेटों के दूधिया रंग के तैलपूर्ण द्रव्य पर बड़ी मजबूती से अपनी छवियाँ अङ्कित कर देगी। किसी एक दूरबीन में, जिसकी

नाभिक दूरी उसके व्यास की पाँच गुनी हो, यदि एक तेज प्लेट बैठा दिया जाय और फिर उसे एक घण्टे तक "एम् ३१" नीहारिका की ओर खुला रक्खा जाय तो हम इस नीहारिका का एक ऐसा चित्र पा सकेंगे जिसमें इसके अत्यन्त धुँधले बाहिरी भाग भी, जो किसी भी दूरबीन से नहीं देखे जा सकते, साफ-साफ अपनी झलक देंगे। परन्तु इस चित्र में एक दोष यह होगा कि इस नीहारिका का मध्य भाग अपना उचित से ज्यादा असर डाल देगा।

नीहारिकाओं के फोटो-चित्र लेने में यही एक बहुत बड़ी दिक्कत है। कोई भी एक फोटो-चित्र किसी एक समूची नीहा-रिका को सम्भवतः हूबहू अङ्कित नहीं कर पाता! यदि कोरी प्लेट को थोड़े समय के लिए ही खुली रक्खे तो जहाँ वह "एम् ३१" के छोटे चमकीले नाभि-केन्द्र का तो सच्चा चित्र दे सकेगी, वहीं इस नीहारिका के धुँधले बाहिरी हिस्साें को बिल्कुल ही झलका न पावेगी। दूसरी ओर अगर हम उसे और ज्यादा समय तक खुली रक्खें तो वह प्लेट इन धुँधले बाहिरी हिस्सों को तो सही पकड़ पावेगी परन्तु साथ ही केन्द्रीय भाग का सही अङ्कन भी न कर सकेगी क्योंकि उस अवस्था में प्लेट पर वह केन्द्रीय भाग एक बड़े और गहरे काले रङ्ग के धब्बे के रूप में ही अङ्कित होगा, जिसमें छोटा नाभि-केन्द्र बिल्कुल डूबकर दिखाई ही न पड़ेगा।

फोटोग्राफी ने इन सफेद नीहारिकाओं के रूपरङ्ग और गठन को स्पष्ट दिखलाकर कुछ विद्वानों के उस मत में जान डाल दी;

जिसके अनुसार यह नीहारिकाएँ भी अपने तारों से बनी हुई आकाश गंगाएँ ही थीं। इनकी लम्बाई, चौड़ाई और गहराई को लेकर ही अब विवाद चल पड़ा। भिन्न-भिन्न मत रक्खे गये। इसके पहिले कि कोई काफी पुष्ट प्रमाण मिलते यह मान लेना आसान नहीं था कि यह अपने आकार-विस्तार में आकाश-गंगा की तुलना की हैं। अगर ऐसा माना जाता तो इसका यह मतलब होता कि आकाश-गङ्गा का यह जमाव, जो अपनी विशालता के कारण देखने वाले के मन में भय पैदा करता है, महज एक सफेद नीहारिका है जिसकी बिरादरी की ऐसी ही और भी बेशुमार नीहारिकाएँ हैं।

व्ही० एम० स्लीफर ने अमेरिका के एरीभोना नगर की फ्लैगस्टाफ वेधशाला में बैठकर दूरदर्शक यन्त्र की मदद से इन नीहारिकाओं के विषय में और भी एक महत्वपूर्ण बात खोज निकाली। स्लीफर ने कई नीहारिकाओं के वर्णपटों के फोटो चित्र लिए और इन वर्णपटों की रेखाओं की तुलना हमारी पृथ्वी पर के पदार्थों के वर्णपटों से की। उसने नीहारिकाओं की रेखाओं के बहुत बड़े हटाव देखे जो हमारी दृष्टिरेखा पर उनके वेगों को प्रकट करते थे। आकाश-गंगा के तारों के दृष्टि-रेखा वेगों से वह बहुत ही ऊँचे और तेज थे।

एम्. ३१ नीहारिका १६० मील प्रति सेकेण्ड के वेग से सूर्य की ओर आती हुई पाई गई। यह भी कहा गया कि आकाश गङ्गा के जमाव में सूर्य की अपनी कक्षा पर की हुई गति का भी

इस प्रचण्ड वेग में काफी बड़ा हिस्सा है। दूसरी नीहारिकाएं बड़े प्रचण्ड वेगों से सूर्य से दूर भागती देखी गईं। कुछ नीहारिकाओं के वेग तो ११२५ मील प्रति सेकन्ड तक कूते गये। यह परिणाम सन् १६१२ ई० से लेकर सन् १६२५ ई० तक बीच के वर्षों में प्राप्त किये गए।

आकाश गंगा के किसी भी पिण्ड का इतना बड़ा वेग नहीं देखा जाता। इन बहुत ही ऊँचे वेगों की खोजों ने उस मत की जड़ें ही उखाड़ दीं जो यह मानता था कि यह नीहारिकाएँ आकाश गङ्गा के जमाव का ही अङ्ग हैं।

समय बीतने के साथ साथ और भी दृष्टि रेखा वेग कूते गये और यह स्पष्ट हो गया कि थोड़ी सी नीहारिकाओं को छोड़ कर और सब हमसे दूर ही भागी चली जा रही हैं। यह कहना शायद और भी सुरक्षित होगा कि उनके वर्णपटों की रेखाओं के हटाव, थोड़े से अपवादों को छोड़ कर, सब के सब वर्ण पटों के लाल किनारों की ओर ही थे। इस तथ्य को व्यक्त करने में हमने इन पिछले शब्दों का प्रयोग कर उचित सावधानी बरती है क्योंकि ऐसा करना जरूरी है जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा।

कम से कम कुछ सफेद नीहारिकाएँ तो तारों के ऐसे मेले हैं जिनकी आकाश गंगा के जमाव से बखूबी तुलना की जा सकती है—इस बात को सिद्ध करने के लिए स्लीफर की दो फीट व्यास की दूरबीन की अपेक्षा और भी बड़ी दूरबीन की जरूरत थी। इस काम को कैलिफोर्निया की माउन्ट विलसन वेधशाला

ने अपने हाथों में लिया। इस वेधशाला में दो परावर्तक दूरबीनें लगी हुई थीं ; एक का व्यास ५ फीट और दूसरी का ८ फीट ४ इञ्च अथवा १०० इञ्च था। हाल तक तो यह पिछली दूर-बीन ही दुनियाँ भर में सबसे बड़ी थी जो उपयोग में ली जा रही थी। इसको ज्यादातर १०० इञ्च व्यास की दूरबीन कह कर पुकारते हैं। परन्तु अब तो माउन्ट पैलोमर वेधशाला में इससे भी बड़ी २०० इञ्च व्यास की दूसरी एक दूरबीन बैठा दी गई है और उसने काम शुरु भी कर दिया है।

माउन्ट विल्सन वेधशाला की इन दोनों ही दूरबीनों की मदद से "एम् ३१" और दूसरी नीहारिकाओं के, थोड़े थोड़े समय के फर्क से, बड़े पैमानों पर अनेक फोटो चित्र लिए गये। "एम् ३१" के फोटो चित्रों के गहरे अध्ययनों से यह पता लगा कि इस नीहारिका के बाहिरी भागों का धुँधला और कुहासा-भरा प्रकाश तारों के कुछ झुण्डों के कारण है। वास्तव में यह सभी तारे हमसे एक ही दूरी पर हैं—उनकी दूरियों में १ या २ प्रतिशत का अन्तर हो भी सकता है। इनमें के अधिक चम-कीले तारों के वर्ण-पटों को पा सकने की सम्भावना भी है, परन्तु अधिकतर तो वह सब बहुत ही धुँधले हैं। उनके रङ्गों को जान पाना भी सम्भव है और इस कारण उनकी वर्णपटीय किस्मों को भी जाना जा सकता है। यह यों किया जा सकता है कि हम एक तरफ तो ऐसी प्लेटों से जो सिर्फ नीले प्रकाश का ही पकड़ सकती हैं उनके चित्र लें ; और, दूसरी ओर, ऐसा

प्लेटों से जो लाल और नीले दोनों ही प्रकाशों को पकड़ें। स्पष्टतः ही नीचे तापमान के तारे, जो ललाई लिए होते हैं, लाल रङ्ग को पकड़ने वाली प्लेटों पर जितनी प्रमुखता से उभरेंगे उतने सिर्फ नीले रङ्ग को ही पकड़ने वाली प्लेटो पर नहीं। यह भी इतना ही स्पष्ट है कि बहुत गर्म तारे, "बी" किस्म के तारे (B-type stars), सिर्फ नीले रङ्ग को पकड़ने वाली प्लेटों पर, लाल और नीले दोनों ही रङ्गोंको पकड़ने वाली प्लेटों की अपेक्षा, ज्यादा गहरे उभरेंगे।

तारों के रंगों को जानने का यह तरीका आकाश गंगा के तारों के विषय में एक लम्बे अर्से से काम में लाया जा रहा है; और इन तारों के रंग और उनकी वर्ण-पटीय जाति के बीच क्या सम्बन्ध है, यह भी जान लिया गया है। "एम् ३१" के तारों पर भी इसी तरीके को लागू करने पर उनकी वर्णपटीय जातियां जानी जा सकेंगी। आकाश गंगा के धूल के बादलों में शोषण होने के कारण उनके प्रकाशों में लालिमा के जो असर आ जावेंगे उनको भी शुद्ध करना, परिणामों के सही होने के लिए, अत्यन्त जरूरी होगा।

भिन्न भिन्न समयों पर लिए गये फोटो चित्रों की एक दूसरे से तुलना करने पर इन नीहारिकाओं में घटने बढ़ने वाले तारे (Variable stars) खोज निकाले गये और उनकी घटा-वढ़ी की अवधियां भी जान ली गईं। इन घटने बढने वाले तारों में बहुत से सेफीड तारे (Cepheids) भी थे। यह भी देखा

गया कि अपनी पूर्णतम दीप्तियों और उनके बीच के समय के अन्तरों में यह तारे भी ठीक वही सम्बन्ध दिखलाते हैं जो मगलींय बादलों और गोलाकार झुण्डो मे रहने वाले इनके जाति भाई जिनका जिक्र हम सातवें परिच्छेद में कर आये हैं। आकाश गंगा के समूचे जमाव में जहाँ भी इनके जाति भाई रहते हैं, सब ठीक इसी सम्बन्ध को दिखाते आ रहे हैं; मानो उनका यह एक जातीय गुण है। फोटो चित्रों ने इन नीहारिकाओं में अनेक भाँति के तारा-झुण्डों को और काले रुकावटी बादलों को भी दिखाया।

एक जगह हम यह कह आये है कि आकाश गंगा के तारों में समरूपता के अनेक पहलू देखे जा चुके हैं; जैसे कि बी—जाति के तारे और अपनी घट-बढ़ों के बीच के समयों के लम्बे फर्कों को दिखलाने वाले सेफीड तारों की ऊँची दीप्तियाँ। यह भी देखा गया है कि एम् ३१ नीहारिका के तारों में भी समरूपता के यही पहलू मौजूद है। उदाहरण के लिए; नीलिमा लिए हुए सफेद तारे और लम्बे समय की घट-बढ़ों के सेफीड तारे सबसे अधिक चमकीले है।

संक्षेप में; आकाश गंगा के जमाव में पाये जाने वाले प्रत्येक जाति के पिण्ड, जो जाने जा चुके हैं, एम् ३१ नीहारिका में भी पाए गये हैं। क्योंकि यह सभी पिण्ड हमसे एक ही दूरी पर हैं, इसलिए इनकी समरूपता के पहलू भी तुरन्त नजरों में आ जाते हैं।

जब एम् ३१ नीहारिका के भीतर के पिण्डों की खोज समाप्त हो गई तब जाकर यह संभव हो सका कि कई स्वतन्त्र तरीकों से इसकी दूरी आँकी जाय। यह तरीके थे सेफीड तारों के घटा-बढ़ी के समयों के फर्कों और उनकी दीप्ति के सम्बन्ध और भिन्न-भिन्न वर्णपटीय किस्मों के तारों की औसत दीप्तियाँ (खासकर बी जाति के तारों की) और नवीन तारों Novae की दीप्तियाँ। नवीन तारों का उल्लेख हम एकबार पहिले भी कर आये हैं। उनके विषय में कुछ विस्तार से कहने की अब जरूरत आ पड़ी है। आमतौर पर जिसे हम एक नया तारा कहते हैं, ज्योतिर्विद उसे एक 'नोवा' (Nova) कहते हैं। जहाँ पहिले कोई भी तारा नहीं देखा गया था ठीक उसी जगह सहसा एक चमकीला तारा समय-समय पर दिखाई देने लगता है। ऊपर के इस वाक्य में "सहसा" शब्द का प्रयोग उचित और संगत है; क्योंकि इस तारे को अपनी पूर्णतम चमक प्राप्त करने में सिर्फ कुछ ही घन्टों का समय लगता है। इसकी यह चमक ज्यादा देर रहती भी नहीं—बहुत शीघ्र ही यह मन्द पड़ने लगता है और कुछ महीनों के बाद तो यह अपनी प्रमुखता ही खो बैठता है।

इसको "नया तारा" कहना भी असंगत और सत्य के विपरीत है। क्योंकि इसके दिखाई पड़ने के कुछ समय पहिले लिए हुए उस क्षेत्र के, जिसमें वह दिखाई पड़ता है, फोटो चित्रों में ठीक उसी जगह हमेशा ही एक धुंधला और मन्द तारा पाया जाता है। बात यह नहीं है कि अभाव में से ही सहसा एक

तारे की उत्पत्ति हो गई; तथ्य तो यह है कि तारा वहाँ पहिले से ही मौजूद था और उसी तारे ने अचानक ही अपनी दीप्ति को हजारों गुना या और भी ज्यादा बढ़ा लिया। पाँचवें परिच्छेद में, तारों के विषय में लिखते समय रेखा-चित्र २१ द्वारा हम इसे स्पष्ट कर चुके हैं।

यह नवीन तारे आकाश-गंगा के जमाव में बार-बार कुछ समय के हेरफेर से दिखते रहते हैं। अपनी पूर्ण अवस्था में रहते समय उनकी जो आन्तरिक दीप्ति होती है उसका एक मोटा-सा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया गया है। एम् ३१ नीहारिकाओं में भी बिल्कुल मिलते-जुलते ऐसे ही पिण्ड पाये गये हैं। जानी हुई जातियों के तारों की दीप्तियों की तुलना में उनकी पूर्ण अवस्थाओं की दीप्तियाँ साधारणतया यह जाहिर करती थीं कि उनकी आन्तरिक या पूर्णतम दीप्तियाँ ठीक उसी दर्जे की हैं जैसी कि इसी भाँति के उन तारों की, जो आकाश-गंगा के जमाव में दिखते रहते हैं।

इन सब कसौटियों पर परख कर माउन्ट विल्सन वेधशाला की इस दूरबीन ने "एन्ड्रोमीडा नक्षत्र" की इस वृहदाकार नीहारिका की हमारी पृथ्वी से दूरी १० लाख प्रकाश-वर्ष आँकी थी; अर्थात् इस नीहारिका से चले प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में १० लाख वर्ष लगते थे। परन्तु, माउन्ट विल्सन की इस दूरबीन की अपनी शक्ति-सामर्थ्य की एक सीमा थी और इस सीमा में बँधी रहने के कारण वह इस दूरी को आँकने में एक मौलिक गलती कर गई।

दक्षिणी कैलीफोर्निया (संयुक्त राष्ट्र अमेरिका) राज्य की माउन्ट पैलोमर वेधशाला की २०० इञ्च व्यास की दूरबीन का जिक्र हम चौथे परिच्छेद में कर चुके हैं। आज तक बनाई गई दूरबीनों में यह सबसे बड़ी है। इस दूरबीन ने ही माउन्ट विल्सन की दूरबीन की इस गलती को पकड़ा।

डा० वाल्टर वेड Dr. Walter Baade ने एन्ड्रोमीडा की इस नीहारिका के सम्बन्धित मापों में एक उलझन भरा असामञ्जस्य देख पाया। उन्होंने देखा कि इस वृहदाकार नीहारिका के मध्य भाग में रहनेवाले अत्यन्त चमकीले तारे, जिन्हें लाल रङ्ग के दैत्य तारे Red Giants कहा जाता है और जो हमारे सूर्य से कई गुना अधिक बड़े और तेज हैं, अधिक धुँधले दिखलाई पड़ते हैं; सेफीड तारों के मापदण्ड के आधार पर उनको इतना धुँधला नहीं होना चाहिए था।

यह तो हम पहिले ही लिख आये हैं कि सुदूर अनन्त देश के निवासी तारों की दूरियाँ नापने में हम घटने बढ़ने वाले इन सेफीड तारों को ही माप-दण्ड बना कर चले हैं। डा० वेड ने ही यह पता लगाया था कि मोटे तौर पर तारों की दो किस्में हैं—समूह १ और समूह २ जिनका पूरा जिक्र भी हम पाँचवें परिच्छेद के आरम्भ में ही कर आये हैं। समूह १ के तारे, समूह २ के तारों की अपेक्षा, औसत रूप में, १०० गुना अधिक चमकदार हैं।

इस आधार पर ही आगे बढ़कर डा० वेड ने पूछा कि अनन्त

देश में दूरियाँ नापने के लिए जिन सेफीड तारों को हम माप-दण्ड मानते हैं, क्या वह भी इसी तरह दो किस्मों में बँटे नहीं हो सकते ? माउन्ट पैलोमर की दूरबीन ने उनके इस प्रश्न का उत्तर दिया ; हाँ, यह भी दो किश्मों में बँटे हुए हैं। इस दूरबीन के द्वारा बड़ी सावधानी के साथ लिए गये फोटो-चित्रों ने बतला दिया कि इन सेफीड तारों की भी दो किश्में हैं ; और यह भी कि, इनकी आपस की भिन्नता ठीक उसी परिमाण में इन्हें दो ऐसे माप-दण्डों में बाँट देती है, जिसमें एक माप-दण्ड दूसरे की अपेक्षा दुगुना लम्बा है और यह अपेक्षाकृत लम्बा माप-दण्ड ही अनन्त देश के दूर के क्षेत्रों में काम देता है। इस कारण यही निष्कर्ष निकाला गया कि हमारी आकाश-गंगा से परे के सभी पिण्डों की अब तक आँकी गई दूरियाँ दुगुनी कर दी जाँय।

हमें यह शुद्धि १ लाख प्रकाश वर्ष से ज्यादा दूर के पिण्डों की दूरियों के आँकड़ों में ही करनी होगी। इससे कम दूरियों के आँकड़े तो ज्यों के त्यों रहेंगे। सूर्य हमारी पृथ्वी से ९३,०००,००० मील दूर ही होगा और हमारा सबसे नजदीक पड़ौसी तारा "आल्फा सेंटारी" भी हमसे ४ प्रकाश-वर्षों की दूरी पर ही होगा।

हमारी अपनी आकाश-गंगा की दूरी भी वही रहेगी जो पहिले कूती जा चुकी है। हाँ, इससे आगे दूर अनन्त में बढ़ने पर वहाँ की दूरियाँ अवश्य ही अब तक कूती गई उनकी दूरियों को दुगुनी होती जावेंगी। एन्ड्रोमीडा की बृहदाकार नीहारिका

की दूरी माउन्ट विल्सन दूरबीन ने १० लाख प्रकाश-वर्ष कूती थी, परन्तु अब यह आँकड़ा बढ़कर दुगुना हो पड़ेगा : यह नीहारिका हमारी पृथ्वी से २० लाख प्रकाश-वर्ष दूर है। इसके प्रकाश को पृथ्वी तक पहुंच पाने में २० लाख वर्ष लगेंगे ; वह भी तब जब कि प्रकाश १८६,००० मील प्रति सेकन्ड के वेग से निरन्तर दौड़ा आ रहा है ? आकार-परिमाण में भी यह नीहारिका हमारी आकाश-गंगा से दुगुनी होगी।

दूसरी एक और महत्वपूर्ण नीहारिका "एम् ३३" अथवा एन० जी० सी० ५६८ को लेकर भी इसी तरह की छानबीन की गई है। यह नीहारिका त्रिकोणीय नक्षत्र-मंडल constellation of traingulum में स्थित है। एम् ३१ नीहारिका के समान यह उतनी बड़ी तो नहीं दिखाई पड़ती और वास्तव में उससे छोटी है क्योंकि एम् ३१ हमसे जितनी दूर है, इस नीहारिका की दूरी उससे कुछ ही ज्यादा है। हमारी दृष्टि-रेखा पर यह करीब-करीब चौरस पड़ी हुई है।

इस नीहारिका में भी हमारे सभी परिचित आकाशीय पिण्ड मौजूद हैं ; जैसे कि, सेफीड तारे, तारा गुच्छक, गैसीय नीहारिकाएँ और रुकावटी बादल इत्यादि। एम् ३१ नीहारिका के मध्य भाग को हम अलग-अलग तारों के रूप में नहीं देख पाते, परन्तु "एम ३३" के मध्यभाग के तारे अलग-अलग साफ दिखलाई पड़ते हैं और वह ठीक इसी तरह फैले हुए हैं जिस प्रकार इसके बाहिरी हिस्सों में।

विचार कर देखने पर तो आकाश-गङ्गा का जमाव एम् ३३ नीहारिका से जितना मिलता जुलता है उतना एम् ३१ से नहीं। और बातों की अपेक्षा, भिन्न-भिन्न जाति के तारों की सापेक्ष प्रचुरता एम् ३३ नीहारिका में बिलकुल उतनी ही पाई जाती है जितनी कि आकाश-गङ्गा में; परन्तु एम् ३१ में उतनी नहीं। एम् ३३ नीहारिका में यदि हमारी पृथ्वी की तरह का कोई ग्रह हो और उस पर हमारी ही तरह के प्राणी निवास भी करते हों, और उनमें भी आकाशीय अध्ययन की इतनी ही रुचि हो तो उस ग्रह के बाशिन्दे बिना किसी दूरबीन की मदद के, अपनी नंगी आँखों से, आकाश-गङ्गा को ठीक उसी रूप में देख पावेंगे जिस रूप में कि हम एम् ३१ वृहत् नीहारिका को देखते हैं। यदि वैज्ञानिक प्रगति में भी उन्होंने हमारी तरह ही दौड़ लगाई हो और अपने ढङ्ग पर फोटोग्राफी का आविष्कार भी कर लिया हो और उसकी मदद से आकाश-गङ्गा के फोटो चित्र भी लिये हों तो उनके यह फोटो चित्र एम् ३३ नीहारिका के लिये हुए हमारे फोटो चित्रों से ठीक मिलते-जुलते से होंगे, लेकिन होंगे उनसे जरा बड़े। आकाश-गङ्गा उनके दृष्टि-पथ पर चौरस पट पड़ी हुई न होकर कुछ टेढ़ी झुकी हुई होगी; उतनी झुकी हुई तो अवश्य नहीं, जितनी कि एम् ३१ नीहारिका हमारे दृष्टि-पथ पर है। अभी तक हम निश्चय नहीं कर पाये हैं कि आकाश गंगा की बनावट कोणाकार है या नहीं, परन्तु सम्भावना तो उसके कोणाकार होने की ही है।

हम यह मालूम कर सके कि उन बादलों के उस ओर क्या है। पिछले कुछ वर्षों में एक ऐसा आविष्कार हुआ तो है जो शायद समय पाकर हमें इन रुकावटों को पार करने में मदद दे सकेगा। यह पता लगा है कि न केवल सूर्य अपितु आकाश गंगा भी बहुत कम फड़कनों एवं बड़ी लहर-लम्बाई की प्रकाश-किरणों को निरन्तर उगलती रहती हैं जिनको उचित शक्ति के ग्राहक यन्त्रो द्वारा ही पकड़ा जा सकता है। अभीतक तो कोई ग्राहक यन्त्र काफी मात्रा में दिशासूचक directional नहीं है अर्थात् वह आकाश के भिन्न-भिन्न भागों को थोड़े छोटे अंशों के अलावा, एक दूसरे से पृथक् नहीं बता पाता। समय बीतने पर ज्यों-ज्यों इस यन्त्र की शक्ति में विकास होगा यह अधिकाधिक रूप में हमें अनन्त ब्रह्माण्ड की गहराइयों को और अधिक टटोलने में बहुत कुछ मदद दे सकेगा।

द्वितीय म'ायुद्ध के तूफानी दिनों में दुश्मनों के हवाई जहाजों, उड़नगोलों और राकेटों का पता लगाने के लिये "रडार" (Radar) यन्त्र बनाये गये थे। महायुद्ध खत्म होने पर वैज्ञानिकों ने उन्हें अन्य कार्यों में जोता। ज्योतिषियों ने भी उनको अपने क्षेत्र में अपनाया और उनकी मदद से उल्काओं को देखने में काफी सफलता प्राप्त की। चन्द्रमा की दूरी नापने में भी उनका उपयोग किया गया, यद्यपि परिणाम उतने सही न निकले। नक्षत्र विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति में "रडार" यन्त्र ज्यादा कुछ योगदान तो नहीं कर सकते। इन यन्त्रों की शक्ति की

अपनी सीमाएँ हैं। चन्द्रमा की दूरी जानने के लिये हमें सिर्फ तीन सेकण्डों की इन्तिजारी ही करनी पड़ेगी क्योंकि "रडार" यन्त्र से फेंके गये इशारों को चन्द्रमा तक जाने और वहाँ से हम तक वापिस आने में ठीक इतना ही समय लगता है। यदि "रडार" की इस प्रक्रिया को हम एम् ३१ नीहारिका पर प्रयोग करें तो वहाँ भेजे हुए इशारे को हम तक वापिस आ पाने के लिये हमें १,३६०,००० वर्षों तक प्रतीक्षा करनी होगी। न मालूम तब तक हमारी कितनी पीढ़ियाँ बीत जाँय? हमारे इस घरौंदे (पृथ्वी) पर तब तक हम (मनुष्य) रहें या न रहें?

दशवाँ परिच्छेद
अनन्त में और भी गहरी पैठ।

ज्यो-ज्यो हमारी दूरबीन अनन्त के गर्त में आगे और, और भी आगे, देखती जाती है त्यों-त्यों वह हमारे जाने पहिचाने नक्षत्रों, उनसे आगे के तारों के बादलों और "दुधैले मार्ग" (आकाश-गंगा) के गुच्छों को पीछे छोड़ती हुई धुंधसे से चमकते हुए कुछ चिथड़ों की झलक हमें देती चलती है। लगता है, जैसे दूर कहीं मकड़ियों के कुछ जाले से लटक रहे हैं। जैसे-जैसे यह दूरबीन अधिक और, और भी अधिक, गहराइयों में उतरती

जाती है, उन चिथड़ों या मकड़ियों के जालों की संख्या भी बढ़ती जाती है। वह सब सुदूर अनन्त की निवासी नीहारिकाएँ या आकाश-गंगाएँ ही हैं जिन्हें कुछ वैज्ञानिक "विश्व-द्वीप" Island Universes कहना ज्यादा पसन्द करते हैं। इन नामों पर हम आगे चलकर, इसी परिच्छेद में, कुछ विवेचन करेंगे।

उन प्रत्येक नीहारिकाओं में अरबों-खरबों तारे हैं। अनन्त की इतनी दूर गहराइयों में डूबी हुई वह बैठी हैं कि उनके जिस प्रकाश की सहायता से हम उन्हें देख पाते हैं उसे इस बीच की दूरी को पार कर हमारी पृथ्वी तक पहुँचने में लाखों वर्ष लग जाते हैं; वह भी तब जब प्रकाश स्वयं एक बहुत बड़े वेग से (१८६,३००० मील प्रति सेकण्ड) बिना कहीं रुके हमारी ओर भागा आता है।

उन नीहारिकाओं को पहिले पहल देख पाने का सेहरा बँधा माउन्ट विलसन वेधशाला की दोनों बड़ी दूरबीनों के सिर। हर्शेल ने एक शताब्दी पहिले आकाश के दूर के भागों के अध्ययन का जो क्रम बनाया था, इन दूरबीनों ने भी उससे मिलते-जुलते क्रम को ही अपनाया। इस नये क्रम की अपनी दो विशेषताएँ भी थीं। न केवल यह फोटो चित्रों की सहायता पर निर्भर था, अपितु अपने अध्ययन के सिलसिले में इसने आकाश-गंगा के जमाव की ओर से अपनी आंखें मूँद सी ली थीं।

इस अध्ययन ने हमें बतलाया कि दूरबीनों की पहुँच के

भीतर ही तारों के ऐसे जमाव (हमारी आकाश-गंगा से परे, दूर के जमाव), बहुत बड़ी संख्या में हैं। आकाश के कुछ भागों में जहाँ वह घने गुच्छे बनाए हुए हैं, वहीं उसके दूसरे भागों में बहुत पतले बिखरे हुए से हैं; परन्तु मौजूद हैं वह सब जगह, सिवाय उस क्षेत्र के जहाँ आकाश-गंगा बह रही है। उस क्षेत्र में भी धूल के बादलों के बीच की दरारों और खिड़कियों में से झाँकते हुए कुछ तो अपनी झलक दे ही देते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि बरसात की मौसिम के अन्तिम दिनों में हमारी पृथ्वी के ऊपर छाए हुए बादलों के बीच की खाली जगहों में से तारे यहाँ वहाँ झाँकते दिखाई पड़ जाते हैं।

अनुमान लगाया जाता है कि सुदूर अनन्त में रहने वाली वह नीहारिकाएँ करीब पाँच पाँच सौ के गिरोह बाँध कर रहना पसन्द करती हैं। गुरुत्वाकर्षण की शक्ति ही उन्हें इस प्रकार के गिरोहों में बाँध देती है और फिर उन्हीं रूपों में उन्हें नचाती रहती है।

उनकी तीन किश्में मानी गई हैं। (१) शङ्खाकार नीहारिकाएँ जो अब तक जानी गई उनकी समूची संख्या की १७ प्रतिशत हैं। (२) कोणाकार नीहारिकाएँ; इस सम्पूर्ण संख्या की वह ८० प्रतिशत हैं। (३) अनियमित नीहारिकाएँ, जो करीब ३ प्रतिशत हैं।

इन तीनों ही किश्मों की वह सब नीहारिकाएँ अपने अपने अलग वेगों से अपने ही चारों ओर घूमती रहती हैं। शङ्खाकार

नीहारिकाओं के आकार पूर्ण और सुडौल गोलाई से लेकर चिपटे और एक तश्तरी की तरह के होते हैं। (चित्र ३१) कोणाकार नीहारिकाओं में कुछ तो, अपने चारों ओर घूमने के वेगों के कारण अपनी कुण्डलियोंको अत्यन्त कसे हुए हैं; (चित्र संख्या ३२) और कुछ ऐसी हैं जो चौड़ी फैली हुई सी हैं। इनके नाभि-केन्द्र nuclei छोटे होते हैं और उनकी भुजाएँ भी, उनके तीव्र वेग की केन्द्रमुखी शक्ति के कारण, बाहर की ओर छिटकी होती हैं। अधिकतर कोणाकार नीहारिकाओं के केन्द्र गोल होते हैं; परन्तु उनमें की करीब ३० प्रतिशत नीहारिकाओं के नाभि-केन्द्र लम्बे पसरेसे होते हैं, इसलिए उनको "लम्बी कोणाकार barred-spirals कहते हैं। उन नीहारिकाओं की तीसरी श्रेणी, अनियमित नीहारिकाएँ, मगलीय बादलों की तरह बेडौल से आकार की होती हैं। उनका कोई एक नाभि-केन्द्र नहीं होता; अर्थात् अपने ही चारों ओर घूमने की उनकी चालें अनियमित होती हैं।

आकाश-गंगा से दूर हटकर नीहारिकाएँ बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। दूरबीनों की मदद से लिए गये कुछ फोटो-चित्रों में तो इतनी नीहारिकाओं के प्रति-चित्रण देखे गये है, जितने कि आकाश-गंगा के तारे है। अनुमान लगाया जाता है कि हमारी बड़ी से बड़ी दूरबीन की पकड़ में करीब १,०००,०००,०००,०००,००० नीहारिकाएँ हैं।

यह सभी नीहारिकाएँ सारे आकाश में कहीं भी एक समान

चित्र ३२

इस चित्र में ऐसी एक नीहारिका को दिखलाया गया है जो अपने घूमने के अत्यधिक ऊँचे वेगों के कारण अपनी कुण्डलियों को अत्यन्त कसे हुए हैं। यह नीहारिका हमसे २ करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर है। इसके चमकते हुए नाभि-केन्द्र के मध्य-भाग के चारों ओर काले रङ्ग की एक पट्टी सी लिपटी हुई दिखती है जो इसकी कुण्डलीय भुजाओं मे रहने-वाली गैसों और धूल के रुकावटी बादलों के कारण है। माउन्ट-पैलोमर की २०० इञ्च व्यास की दूरबीन के द्वारा यह चित्र लिया गया है; (पृष्ठ २६२)।

बिखरी हुई नहीं हैं। हाँ; आकाश-गंगा की तरफ के आकाश में धूल के बादलों की रुकावट के कारण वहाँ इनकी फैलाव की संख्या का पूरा पता नहीं लग पाता। वास्तव में नीहारिकाओं के गुच्छे ही सामान्यतया देखे गये हैं। ऐसे कई गुच्छों में तो एक दर्जन या इतनी ही कुछ नीहारिकाएँ देखी गई हैं, जब कि दूसरे कई गुच्छों में सैकड़ों ही। इन कई गुच्छों में तो इन नीहारिकाओं की दिखावटी दूरियाँ आश्चर्यजनक रूप में कम हैं—बहुत ही कम और वह भी इनके व्यक्तिगत आकारों को देखते हुए। सचमुच, कुछ फोटो-चित्र तो ऐसे प्रतिचित्रण भी दिखलाते हैं जो करीब-करीब एक-दूसरे को छूते हुए से हैं, यद्यपि हम यह भी जानते हैं कि यह बात भ्रम के कारण ही है। हो सकता है कि हमारी दृष्टि रेखा की सीध में ही ऊपर की ओर यह नीहारिकाएँ एक-दूसरी से अलग-अलग अत्यन्त दूरी पर हों। यह बात मान लेने पर भी जो कुछ हो, कुछ गुच्छों में तो इनके एक-दूसरी से सटकर झुण्ड बनाने की बात आश्चर्यजनक जरूर है।

पाठकों के ध्यान में यह बात जरूर आई होगी कि इन पिण्डों को हमने सिर्फ नीहारिकाएँ ही कहा है, बिना किसी विशेषण के। यह नाम पहिले-पहल आकाश में दिखाई पड़नेवाले सभी धुँधले टुकड़ों अथवा धुँधले प्रकाश के गट्ठरों को ही दिया गया था, परन्तु जब सफेद नीहारिकाओं का सही रूप जान लिया गया तो इनको एक उपयुक्त नाम देने के प्रश्न पर विद्वानों में काफी वाद-विवाद हुआ। क्योंकि यह सब आकाश-गंगा के जमाव के बाहर थीं।

इसलिए इन्हें "आकाश गंगा के बाहर की नीहारिकाएँ" Extra-galactic nebula कहा जा सकता था ; परन्तु यह नाम काफी बड़ा और बेढङ्गा-सा था। इसके बाद कुछ विद्वानों ने यह सुझाव दिया कि इनको "विश्व-द्वीप" "Island Universes" नाम दिया जाय क्योंकि यह आकाश-गंगा की तुलना की थीं और एक समय तो माना जाता था कि आकाश-गंगा के जमाव में ही समूचा विश्व समाया हुआ है। यह नाम देने में एक बहुत बड़ी आपत्ति यह थी कि "विश्व" शब्द में इन सभी वस्तुओं की सारी सम्पूर्णता ही व्याप्त है और इस कारण इस शब्द का कोई बहुवचन हो ही नहीं सकता। अगर हम तारों के प्रत्येक जमाव को ही "विश्व" शब्द से पुकारने लगें तो स्वयं विश्व के लिए, जिसमें यह सभी पिण्ड समाये हुए हैं, हमारे पास कौन-सा शब्द बच रहेगा।

कुछ खगोलीय ग्रन्थों में इन पिण्डों को प्रायः "आकाश-गंगाएँ" भी कहा गया है, परन्तु यह भी आपत्तिजनक ही है। "आकाश-गंगा" शब्द का उचित वाच्य अर्थ तो हमारे आकाश के एक छोर से दूसरे छोर को जाता हुआ दुधैला मार्ग ही है। इसका भी कोई बहुवचन नहीं है। हमारे आकाश के तारों के मेले या जमाव को ही आकाश-गंगा कहा जाता रहा है और यह उसकी व्यक्तिवाचक संज्ञा है ; ठीक वैसे ही जैसे कि "कलकत्ता" शब्द हुगली नदी के किनारे बसे बड़े शहर का व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द है। यदि इन पिण्डों को "दुधैलेमार्ग" यह नाम ही दें तो भी

यह सर्वथा अनुपयुक्त होगा। और यदि इन्हें "आकाश-गंगा के जमात्र" (बहुवचन) ही कहें तो भी वह उतना ही असंगत और तर्कहीन होगा जितना कि सभी बड़े शहरों को कलकत्ता (बहुवचन) कह कर पुकारना।

इन सब बातों को देखते हुए यही उपयुक्त मालूम होता है कि इनको "नीहारिकाएँ" इस जातिवाचक संज्ञा शब्द से ही पुकारा जाय। आकाश-गंगा के जमाव एवं अन्य ऐसे ही जमावों में गैसों के जो अपेक्षाकृत छोटे चमकदार बादल देखे जाते हैं, उनको उपरोक्त नीहारिकाओं से अलग करने के लिए "गैसीय नीहारिकाएँ" gaseous nebulac कहते हैं। अच्छा हो कि इन पिछले पिंडों के लिए कोई और ही शब्द गढ़ लिया जाय।

इन नीहारिकाओं के गुच्छे ठीक वैसे ही उपयोगी हैं जैसे कि लघुमगलीय बादल। हम जानते हैं कि इस बादल के भीतर के सभी पिण्ड हमसे करीब एक सी दूरी पर ही हैं और इसके परिणाम स्वरूप उनके वास्तविक डीलडौल उनके दिखावटी डीलडौलों के समानुपातों में हैं। उनकी वास्तविक दीप्तियाँ भी उनकी दिख पड़नेवाली दीप्तियों के समानुपातों में हैं। यह तो सच है कि हमारी दृष्टि रेखा पर ही ऊपर की ओर खड़ा कोई एक नीहारिका गुच्छक, उस गुच्छक से जो हमारी दृष्टि रेखा पर एक समकोण बनाए हुए है, सम्भवतः काफी बड़ा हो; परन्तु सभी गुच्छकों के लिए तो ऐसा कहना शायद ही सङ्गत होगा। यह भी हो सकता है कि कुछ पिण्ड जो देखने में तो किसी

गुच्छक के भीतर दिखाई पड़ें वास्तव में या तो उस गुच्छक के बहुत ही नजदीक हों या उससे बहुत ही दूर ; परन्तु यदि थोड़े ऐसे हों भी तो वह परिणामों पर कोई खास असर नहीं डाल सकेंगे।

नीहारिका गुच्छकों के फोटो चित्रों के अध्ययनों से यह परिणाम निकलता है कि यह नीहारिकाएँ अपनी वास्तविक पूर्ण दीप्तियों में एक दूसरी से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है ; क्योंकि जो बात इन गुच्छों की नीहारिकाओं पर सही उतरती है वह सम्भवतः (बिल्कुल निश्चय ही) सभी नीहारिकाओं पर भी उतनी ही सत्य होगी। इस लिए हम यह धारणा कायम कर सकते हैं कि सामान्यतः नीहारिकाओं की दूरियाँ उनकी दिख पड़ने वाली दीप्तियों के मोटे तौर पर उलटे अनुपातों में होती हैं।

यह तो पहिले ही कहा जा चुका है कि साधारणतः आकाश गंगा के जमाव के तारों पर भी यह बात बिल्कुल सही हैं। तारे अपनी वास्तविक या आन्तरिक दीप्तियों और अपने डीलडौलों में भी एक दूसरे से जितने भिन्न होते हैं उतनी नीहारिकाएँ नहीं होतीं। अगर हम तारों की दूरियों के हमारे आँकड़ों को इस सीधी सादी धारणा पर ही आधारित करें कि वह सब एक बराबर चमक के ही हैं तो व्यक्तिगत तारों को लेकर हम बड़ी भारी गलती कर बैठेंगे। यदि नीहारिकाओं की आपस की सापेक्ष दूरियों के लिए भी हम इसी धारणा को आधार बनावें

तो, जहाँ तक उनकी संख्याओं का सम्बन्ध है, कोई गलती करने का अन्देशा न होगा। इन गुच्छों की नीहारिकाओं को गौर से देखने पर मालूम होगा कि यदि हम उनकी जातियों पर विचार करें तो उनकी समरूपता और भी स्पष्ट हो उठेगी। छोटी नीहारिकाएँ तो गोलाकार या शंखाकार ही पाई जावेंगी परन्तु बड़ी नीहारिकाएँ प्रायः ही पूर्ण विकसित कोणाकार मिलेंगी। थोड़ी बहुत नीहारिकाएँ मगलीय बादलों की तरह अनियमित आकार की भी दिख पड़ेंगी। जो नीहारिकाएँ मध्यम डीलडौल की हैं उनकी किस्में भी मध्यम दर्जे की होंगी। उनकी इस श्रेणीबद्धता को देखते हुए हम आसानी से उनको एक क्रम में रख सकते हैं। यह क्रम ऐसा होगा कि छोटी नीहारिकाओं के पहिले उनसे बड़ी नीहारिकाओं को रक्खेंगे, फिर उनसे बड़ी को; और इसी तरह यह क्रम चलेगा। नीहारिकाओं की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्थिर करने में उनकी यह क्रमिक पाँत बहुत महत्वपूर्ण योगदान देगी।

इस बात को समझने के लिए हम एक बहुत ही सीधी मगर हमारी परिचित बात को उठाते हैं। मनुष्यों के कद और उनके शारीरिक अङ्गों के गठन और बनावट में एक सम्बन्ध होता है। यदि हम भिन्न-भिन्न कदों के कई मनुष्यों को एक पाँत में खड़ा करें और फिर उनके शरीरों की बनावटो का तुलनात्मक निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि उनमें कद में सबसे छोटे मनुष्य का शरीर बेढङ्गा है; उसके सारे शरीर को देखते हुए उसका

सिर बहुत बड़ा है। ज्यों ज्यों ऊँचे कदों की ओर हम बढ़ते चलेंगे उनके शरीरों में वैसा ही क्रमिक फर्क भी देखते चलेंगे। हम देखेंगे कि उनके शरीरों की बनावट उसी क्रम में सुघड़ होती चली जा रही है; यहाँ तक कि जब हम उस पाँत के छोर पर पहुँच कर सबसे लम्बे मनुष्य को देखेंगे तो उसके बड़े सिर और उसकी लम्बी धड़ में एक सामञ्जस्य पावेंगे। बीच के कदों के मनुष्यों में शरीर और सिर का यह अनुपात मध्यममान का ही होगा। कद के छोटे से बड़े होने के क्रम में ही उनके शरीरों की अन्य विशिष्टताएँ भी धीरे-धीरे ऊँचे की ओर चलती हुई सुधरती जावेंगी। उदाहरण के लिए, मुँह के दाँतों की संख्या पहिले तो शीघ्रता से बढ़ती हुई एक स्थिर उच्चतम संख्या पर पहुँच जाती है और फिर क्रमशः धीरे-धीरे घटने लगती है। गोद के बच्चे, घुटनों के बल चलने वाले बच्चे, बड़ी उम्र के बच्चे, किशोर और किशोरियाँ, स्त्रियें और पुरुष—यह है मनुष्यों के बढ़ने का क्रम और इन सबकी क्रमगत विशिष्टताओं से हम सुपरिचित ही हैं।

एक बात में तो यह उदाहरण आश्चर्यजनक रूप में इन नीहारिकाओं पर मौजूँ पड़ता है। मनुष्य प्राणियों में, उनकी छोटी उम्रों में, लैंगिक भेद सूक्ष्म ही रहता है। परन्तु ज्यों-ज्यों उनके कद बढ़ते जाते हैं यह भेद भी स्पष्ट और स्पष्टतर होता जाता है। नीहारिकाओं की भी ठीक यही हालत है। उनके बड़े नमूनों में दो स्पष्ट भिन्न जातियें हैं; एक तो सुनियमित

कोणाकार जैसी कि एम् ३१ और एम् ३३, और दूसरी "लम्बी पसरी कोणाकार।"

ऊपर मनुष्यों को लेकर जो उदाहरण हमने दिया है उसे नीहारिकाओं पर एक सीमा तक ही लागू करना चाहिए। मनुष्यों में तो गोद का शिशु धीरे-धीरे बढ़ कर युवक और फिर वृद्ध बन जाता है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि ठीक इसी तरह छोटी आकारहीन नीहारिकाएँ भी बढ़कर एक दिन बड़ी कोणाकार नीहारिकाएँ बन जावेंगी; अथवा यह कि आज की यह बड़ी नीहारिकाएॅ किसी जमाने की आकारहीन छोटी नीहारिकाओं की ही विकसित रूप हैं। सम्भव तो यही है क्योंकि विश्व-प्रकृति में विकास का यही क्रम है, परन्तु नीहारिकाओं के विषय में ऐसा कह सकने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

एक बात यहाँ कह देने की है और वह यह कि किसी एक दर्जे की नीहारिकाओं के डीलडौल और उनकी आन्तरिक दीप्तियाँ भी उतनी समरूप नहीं हैं जितने कि एक ही उम्र के मनुष्य प्राणियों के कद। उनका बिखराव या फैलाव विशाल है और सिर्फ औसत नीहारिकाएँ ही ऊपर लिखे क्रमगत सम्बन्धों को प्रदर्शित करती हैं। हमारे ही आकाश के गुच्छों में यह बात देखी जा सकती है। एम् ३३ उस दर्जे की नीहारिका है जो औसतन् एम् ३१ के दर्जे की नीहारिकाओं से बड़ी है। फिर भी उसका व्यास एम् ३१ के व्यास का आधा ही है। मनुष्य

प्राणियों के उदाहरण के शब्दों में हम कह सकते हैं कि एम् ३३ एक बौना है और एम् ३१ साढ़े छः फुटा एक लम्बा-चौड़ा युवक।

नीहारिका गुच्छको की एक और विशेषता भी है। ४०० या ५०० नीहारिकाओं के गुच्छे स्पष्टतः ही एक दूसरे से मिलते जुलते होते है; अपने दिख पड़ने वाले डीलडौलों में भले ही भिन्न हों। अगर हम उन सबके फोटो-चित्र लें और दिखावट में छोटे प्रति-चित्रणों को बढ़ाकर उन्हें उनमें के सबसे बड़े प्रति-चित्रण के बराबर कर ले, तो देखेगे कि कितनी स्पष्ट उनकी समरूपता है। हमारे ऊपर यही असर होगा कि उनके दिखावटी डीलडौलों की भिन्नताएँ उनकी दूरियों की भिन्नताओं के कारण ही हैं। आगे चलकर हम यही देखेंगे कि यह असर और भी पुष्ट हो गया है।

यहाँ आकर हम अपने आपको इस स्थिति में पाते हैं कि कुछ अपेक्षाकृत पास की नीहारिकाओं की दूरियें तो हम बहुत शुद्ध रूप में आँक चुके हैं। आकाश गंगा के सारे जमाव पर सफलता के साथ उपयोग किये गए तरीकों और कसौटियो को काम में लेकर ही उनकी दूरियें भी आँकी गई हैं। इन निकटवर्ती नीहारिकाओ, जो एक छोटे "स्थानीय गुच्छे" में की है, से भी आगे दूर बहुत दूर करोड़ो ही नीहारिकाएं और भी है, जिनके कुछ प्रतिनिधि नमूनों को लेकर उनका निरीक्षण भी कर लिया गया है। इस निरीक्षण ने उनकी समरूपता के अनेक पहलू प्रकट किये हैं, जिनकी सहायता से हम उन नीहारिकाओं का,

उनकी दूरियों के अनुसार, एक क्रम बना सकते हैं। एक बात और भी है कि यदि हम यह मान लें कि उन सभी गुच्छकों के तमाम पिण्डो की दिख पड़ने वाली समरूपता उनकी वास्तविकता समरूपता की द्योतक हैं तो हम उन गुच्छों को भी उनकी दूरियों के अनुसार एक शुद्ध क्रम में रख सकेंगे। इसके पहिले कि हम पूर्ण विश्वास के साथ अनन्त की गहराइयों में और ज्यादा बैंठें, "स्थानीय गुच्छे" और बाकी नीहारिकाओं के बीच की खाई को पाट देना परमावश्यक है।

इस खाई को पाटने की दिशामें हमारा पहिला कदम यह होगा कि हम यह देखें कि किसी एक नीहारिका में, जो हमारे "स्थानीय गुच्छे" की नीहारिकाओं में न होकर उससे बिलकुल अलग है, ऐसे कोई तारे अथवा दूसरे ऐसे पिण्ड जिनसे हम हमारी आकाश-गंगा में परिचित हो चुके हैं और खासकर सेफीड तारे, हैं या नहीं। दुर्भाग्य से अब तक काम में ली जाने वाली दूरबीनों में सबसे बड़ी १०० इञ्च व्यास की दूरबीन भी इतनी बड़ी नहीं थी कि वह अत्यन्त दूरवर्ती नीहारिकाओं के जमावों में निश्चयात्मक रूप में सेफीड तारों की उपस्थिति बतला सके। (अब २०० इञ्च व्यास की माउन्ट पैलोमर दूरबीन शायद यह काम कर सकेगी)। हां; उनमें की कुछ नीहारिकाओं में इस (१०० इञ्ची) दूरबीन ने नवीन तारों, बहुत ही चमकीले "बी"—दरजों के तारों और दूसरे पहिचाने जाने लायक पिण्डों की उपस्थिति की खबरें तो हमें जरूर दी

है। इन ज्ञात पिण्डों के आधार पर उन नीहारिकाओं को उनकी दूरियां प्रदान की जा सकती है जो यद्यपि, एम् ३१ और एम् ३३ को दी गई दूरियों की सन्देहात्मकता की अपेक्षा थोड़ी और ज्यादा सन्देहात्मक तो हो सकती हैं, मगर होंगी उनकी दीप्तियों के सही दर्जों के अनुसार ही। उन नीहारिकाओं से परे कुछ ऐसी नीहारिकाएँ हैं, जिनमें सिर्फ बहुत ही थोड़े तारे स्पष्ट दिख पाते है। ऐसी हालतों में जो कुछ हम कर सकते हैं वह यही कि आकाश-गंगा के अत्यधिक चमकीले तारों और "स्थानीय गुच्छे" की नीहारिकाओं के तारों के साथ उनकी तुलना करें। इस तुलनात्मक निरीक्षण पर हम कुछ भरोसा भी रख सकते हैं; क्योंकि ऐसा मानने के कई कारण हैं कि कोई भी तारा, सिवाय नवीन तारों के, सूर्य के प्रकाश से ५०,००० गुने से ज्यादा प्रकाश का तो कभी नहीं हो सकता। हम यह तो विश्वास के साथ कह सकते हैं कि किसी भी एक जमाव में, जिसमें करोड़ों ही तारे हों, कुछ तारे तो ऐसे होंगे ही जो इस ऊंची से ऊँची प्रकाश-शक्ति तक जा पहुंचे हों।

नूतन तारों novac का हम पहिले ही उल्लेख कर आये हैं। आकाश-गंगा के जमाव में और उसके पड़ौसी एम् ३१ और एम् ३३ नीहारिकाओं में यह तारे प्रायः बार-बार दिखते रहते हैं। इन जमावों में प्रति वर्ष २० से लेकर ५० तक यह तारे दिखते रहते हैं। नूनन तारों की एक और भी जाति है, जो बहुत ही दुर्लभता से देखी जाती है। अपनी पूर्णतम अवस्था

में इस किस्म के तारे साधारण नूतन तारों की अपेक्षा कई हजार गुनी दीप्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी धारणा की जाती है कि किसी एक नीहारिका में करीब प्रत्येक ५०० वर्षों के अन्तर पर ऐसे एक बड़े नूतन तारे के दिखाई पड़ जाने की सम्भावना बनी रहती है। सन् १५७२ ई० में आकाश-गंगा के जमाव में ऐसा ही एक तारा दिखाई पड़ा था। यह तारा दिन के प्रखर प्रकाश में भी आकाश में टिमटिमाता हुआ देखा जाता था। सन् १८८५ ई० में भी दूसरा ऐसा ही एक तारा एम् ३१ नीहारिका में दिख पड़ा था। उस तारे की चमक उस नीहा-रिकाकी सम्पूर्ण चमकका एक काफी बड़ा हिस्सा थी। समय समय पर अन्य नीहारिकाओं में भी ऐसे ही तारे देखे गए थे। इनको "अति नूतन तारे" super movae नाम दिया गया।

यह अति नूतन तारे भी हमारे निरीक्षण के कामों में बहुत ही सहायता करते हैं, क्योंकि दूसरे तारों की तुलना में इतने ज्यादा चमकीले होने के कारण जब कभी वह अत्यन्त दूर की किन्हीं नीहारिकाओं में दिख पड़ते है तो अपनी दृश्य उपस्थिति की सहायता से हमें उन नीहारिकाओं की दूरिये पकड़ा जाते हैं और इस प्रकार दूसरे तरीकों से प्राप्त उनकी दूरियों को जांचने में हमें काफी सुविधा हो जाती है। हमें यह पहिले से ही मान लेना होता है कि सारे ही अति नवीन तारे विश्व मे सर्वत्र एक सी ही आन्तरिक दीप्तियां रखते है और यह बात सिर्फ एक आनु-मानिक सत्य है। जो कुछ हो; नीहारिकाओं में दिख पड़नेवाले

इन "नये" तारों पर सजग नजरें रखनी पड़ती हैं, क्योंकि वह नीहारिकाएँ स्वयं ही अपने सम्पूर्ण रूप में इतने छोटे दृश्य डील-डौल की होती हैं कि उनमें के साधारण तारे तो एक दूसरे से अलग देखे भी नहीं जा सकते।

सौभाग्य से बड़े नीहारिका गुच्छकों में से हमारे सब से पास के एक तारा गुच्छक में (कन्या नक्षत्र मण्डल के भीतर) अच्छी तरह विकसित कुछ कोणाकार नीहारिकाएँ हैं जिनके थोड़े-से तारे तो स्पष्ट भी देखे जा सकते हैं। उन तारों ने उस गुच्छक की एक काफी विश्वस्त दूरी बताने में हमारा बहुत हाथ बँटाया है। यह दूरी ४० लाख पार्सेक अथवा करीब १४० लाख प्रकाश-वर्ष है। ऊपर हमने जो एक मान्यता बनाई थी, उसके आधार पर उस गुच्छक की दूरी ने दूसरे सभी बड़े गुच्छकों की दूरियाँ उतने ही सही रूपों में जानने में हमें पूरी सहायता दी है।

यहाँ पर एक बात और भी कहनी है। आज के कुछ खगोल वैज्ञानिक इन नीहारिकाओं को एक विकासशील क्रम में रखकर यह कहते हैं कि ऊपर लिखी तीसरी किस्म की अनुशासन-हीन अनियमित नीहारिकाएँ ताजी और नयी जन्मी हुई हैं और आगे जाकर, धीरे-धीरे, यह नीहारिकाएँ पहिले तो अपने चारों ओर प्रचण्ड वेग से घूमने वाली कोणाकार नीहारिकाएँ बन जावेंगी; फिर, और आगे चलकर, अपने विकास की इन अवस्थाओं में से होती हुई, अन्त में धीमे वेग की शङ्खाकार नीहारिकाएँ हो जायंगी।

परन्तु अधिकांश वैज्ञानिक जोर देकर यही मत प्रकट करते हैं कि नहीं; वह सभी नीहारिकाएँ एक ही साथ जन्मी हैं। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न किस्मों की वह सभी नीहारिकाएँ अपने जन्म के समय ही जिन भिन्न भिन्न गतियों को पकड़ चुकी थीं, उनके अनुसार ही उनके आकार भी बन गये थे। उनका यह भी कहना है कि उनके इन वेगों ने ही यह भी निश्चित कर दिया था कि उनकी शुरु की द्रव्य-मात्रा Primordial matter का कितना भाग तो घना होता हुआ तारों के रूप में जल उठेगा और कितना भाग गैसों और धूंए के बादलों के रूप में आजादी के साथ इधर उधर बहता फिरेगा।

विश्व-बादल।

यहाँ हम इन बादलों का जिक्र भी कर देना चाहते हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड के रहस्यों में सबसे अधिक रहस्यपूर्ण है द्रव्य या पदार्थ matter के शुरु के विशाल समूह जो धूल और गैसों के बादलों के रूप में अनन्त के पेट में इधर उधर बहते फिरते हैं। सभी नीहारिकाओं की भुजाओं को बनाने वाले तारों के बीच, और अनियमित नीहारिकाओं के बड़े बड़े क्षेत्रों में, बहते हुए वह बादल अपने आपको हमारे सामने तभी प्रकट करते हैं जब या तो वह अपने पास के किन्हीं तारों के प्रकाश को पकड़कर स्वयं प्रकाशित से हो उठते हैं, अथवा जब कभी वह उन तारों और नीहारिकाओं के आगेआकर उनके प्रकाश को रोक लेते हैं और

इस प्रकार हमारे और उनके बीच एक अपारदर्शी पर्दा-सा डाल देते है।

इन बादलों का घनत्व density इतना कम होता है—प्रत्येक क्यूबिक इञ्चमें सिर्फ १६ ही अणु—जिसकी कल्पना करना भी दुरुह है। पृथ्वी पर हमारी प्रयोगशालाओं में हम भरसक चाहे जितना शुद्ध एक शून्य क्षेत्र बनावें फिर भी वह इस घनत्व से नीचे दर्जे का ही होगा। परन्तु सूर्य के पास के आकाश में बिखरे हुए यह बादल इतने विशाल परिमाण में होते हैं कि उनकी समूची द्रव्य-मात्रा उस क्षेत्र के सभी तारों की संयुक्त द्रव्य-मात्रा के बराबर ही होती है।

यह विश्व-बादल the cosmic clouds बड़े ही महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि इस सृष्टि की रचना के यही मूर्त आदिम कच्चे द्रव्य raw materials है।

अलख-अगोचर की टोह।

इस विश्व के रहस्यमय उदर में कुछ ऐसे तारे और उनके बड़े-बड़े समूह भी है जो, न मालूम क्यों, हमारी आंखो से ओझल रहना ही पसन्द करते हैं।

ब्रिटेन (इङ्गलैण्ड) की "विज्ञान-प्रगतिसम्मेलन" The British Association for the Advancement of science की वार्षिक बैठक मे, जो २ सितम्बर सन् १९५६ ई० के दिन लिवरपूल शहर में हुई थी, बोलते हुए उसके सभापति सर एडवर्ड एपल्टन ने कहा था ; "आज से करोब १० करोड़ वर्ष पहिले,

अनन्त के किसी सुदूर क्षेत्र में रहने वाले किसी एक तारे अथवा तारा-समूह से चलकर उसकी रेडियो-लहरें अपनी भीषण गति से चलती हुई, बिना कहीं रुके, हमारी पृथ्वी पर आज पहुँच रही हैं। यह रेडियो लहरें इस सम्भावना को जन्म दे रही हैं कि विश्व के जिस रूप को हम अपनी "दर्शक-दूरबीनों" से देख पा रहे हैं उसके साथ ही साथ इसका ऐसा एक रूप और भी है जो हमसे ओझल ही रह रहा है।" सर एपल्टन ने, अपने भाषण में आगे चल कर, इन रेडियो-लहरों को भेजनेवाले अलक्ष्य पिण्डों को "काले तारे" The Black stars कहा है।

वह तारे किसी भी प्रकार का प्रकाश नहीं देते हैं; और क्योंकि हम अनन्त के तारों को सिर्फ उनके अपने प्रकाश की सहायता से ही देख पाते हैं, इसलिए वह हमे दिखाई नहीं पड़ सकते हैं। प्रकाश न सही; परन्तु रेडियो-लहरों के रूप में अपने दूतों को तो वह चारों ओर भेजते है ही ताकि वह बाहर के दूसरे पिण्डों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ सकें। आज ऐसी रेडियो दूरबीनें बना भी ली गई हैं जो इन लहरों को पकड़कर उनके सन्देश हमें पहुँचा सकें। ऐसी एक बड़ी दूरबीन के विषय में हम चौथे परिच्छेद में, दूरबीनों का जिक्र करते समय, कुछ लिख आये हैं।

सर एपल्टन ने यह भी बताया कि इस तरह की रेडियो-लहरों को फेंकने वाले दो मूलस्रोतों का पता भी लग चुका है। उनमें से एक तो राजहंस नक्षत्र-मण्डल The constellation

of cygnus में है ; और दूसरा अधिक शक्ति-शाली स्रोत कश्यप नक्षत्र-मण्डल The constellation of casseio-peia में है। उन दोनों ही नक्षत्र-मण्डलों में इन लहरों से सम्ब-न्धित कोई भी तारा दिखाई नहीं पड़ रहा है।

इतना सब कुछ कह चुकने पर सर एपलटन ने यह सवाल उठाया कि क्या वह रेडियो-तारे (इन लहरों को भेजने वाले तारे) हमेशा अन्धकार में लिपटे रहने वाले अथवा काले तारे ही हैं? यदि हाँ; तो निश्चय ही विश्व में, हमारे लिए, वह बिल्कुल नयी चीजें हैं।

जोड्रेल बैंक वेधशाला की रेडियो दूरबीनने, जिसका पूरा परिचय हम चौथे परिच्छेद में दे चुके हैं अनन्त के इस अदृश्य क्षेत्र में जन्म लेते हुए शिशु-तारों की बिल-बिलाहटें भी सुनी हैं। इस दूरबीन पर लगे हुए एक पर्दे पर हरी रोशनी की एक महीन रेखा एक प्रकाशमय सन्देश रगड़ती है। यह है एक तारे के जन्म की घोषणा जो स्वयं, अनन्त के उस रहस्यमय क्षेत्र में, हम से (१ लाख × १ लाख × १ लाख) अथवा १,०००,०००,०००,०००,००० मील दूर, कहीं, जन्म ले रहा है।

वह शिशु-तारा स्वयं ही अपने जन्म की यह घोषणा करता है—इस सन्देश का प्रेपक Transmitter है। हमारी इस रेडियो-दूरबीन के पर्दे पर रोशनी की हरी रेखा का जो सन्देश अङ्कित होता है, वह उसकी जन्म समय की बिलबिलाहट है जो उसने तब की थी जब हमारी पृथ्वी पर जीवन का कोई सूक्ष्म

भी स्पन्दन शुरु नहीं हुआ था ; परन्तु इसे सुन हम आज रहे हैं! १८६,३०० मील प्रति सेकण्ड के भीषण वेग से निरन्तर दौड़ता हुआ यह सन्देश बीसवीं शताब्दी के मनुष्यों द्वारा आविष्कृत यन्त्रों से आज सुना जा रहा है। कल्पना तो कीजिए जरा उस दूरी की, जिसे इस सन्देश ने इस बीच पार की है! यह तारा एक "काला तारा" है जो आगे आनेवाली अनगिनत शताब्दियों तक भी मनुष्य की नजरों में न पड़ेगा।

तारों के जन्म की तरह उनकी मृत्यु का लेखा जोखा भी इस रेडियो दूरबीन की देख-रेख में ही होगा। सन् १५७२ ई० में टाइको ब्राही ने अपने समय प्रचलित एक दूरबीन के द्वारा एक तारे को विशीर्ण होते देखा था। यह घटना, जिसे एक "अति-नूतन तारा" a super nova कहते हैं, इस बात की द्योतक है कि सूर्य की तरह का ही एक ज्योतिपिण्ड अचानक गैसों की ऊँची लपटों में फैलता हुआ अपने साधारण व्यास की अपेक्षा हजारों गुना बड़े व्यास का हो उठा है। "तारों के देश में" शीर्षक पांचवें परिच्छेद में हम इसकी यथार्थ स्थिति और क्रम को बतला आये हैं (देखिए रेखा-चित्र २१)।

वास्तव में, टाइको ब्राही ने एक मृत्यु-दृश्य ही देखा था,—उसने एक तारे को मरते देखा था। इस बात को आज करीब ४०० वर्ष बीत चुके हैं। परन्तु हमारी "दर्शक-दूरबीनें" आज चेष्टा करने पर भी उसका कोई निशान नहीं देख पातीं—प्रकाश-शील टुकड़ों में भी नहीं।

सन् १९५२ ई० की ग्रीष्म ऋतु में हैनबरी ब्राउन ने अनन्त के एक शून्यक्षेत्र से, जहाँ कोई भी पिण्ड दिखाई नहीं पड़ रहा था, आते हुए कुछ शक्ति-शाली इशारे देखे। उसने उनकी जाँच पड़-ताल शुरु की। मालूम हुआ कि वह इशारे टाइको ब्राही के ही उस तारे से आ रहे थे जो दम तोड़ रहा था और इस प्रकार ब्राउन ने उस तारे की अन्तिम घों-घों सुनी थी।

आस्ट्रेलिया महादेश के एक रेडियो-खगोलज्ञ बोल्टन ने भी कर्क-नक्षत्र-मण्डल The crab constellation से आते हुए ऐसे ही शक्ति-शाली इशारों को पकड़ा। आकाश के कुछ शक्ति-शाली रेडियो-स्रोतों में यह नक्षत्र-मण्डल तीसरा है। दूसरे दो, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, राजहंस और कश्यप नक्षत्र-मण्डल हैं। पिछले तीन चार वर्षों से यह दोनों ही नक्षत्र-मण्डल रेडियो-खगोलज्ञों के अतिप्रिय अखाड़े रहे हैं।

अनुमान लगाया जाता है, और ऐसा करने के कुछ आधार भी हैं, कि राजहंस नक्षत्र-मण्डल के इशारे तो दो नीहारिकाओं अथवा आकाश-गङ्गाओं की आपसी भिड़न्त के सूचक है।

यह तो हम जानते ही हैं कि कोई एक आकाश-गङ्गा या नीहारिका तारों का एक विशाल मेला ही है—पृथ्वी, चन्द्रमा शुक्र जैसे ग्रहों का नहीं, अपितु सूर्यों का। हमारी अपनी ही आकाश-गंगा में सूर्य की तरह के ही करीब १००,०००,०००,००० (एक खबर) तारे हैं। ऐसी दो आकाश-गङ्गाओं की आपस की भिड़न्त के दृश्य की कल्पना तो कीजिए जरा!
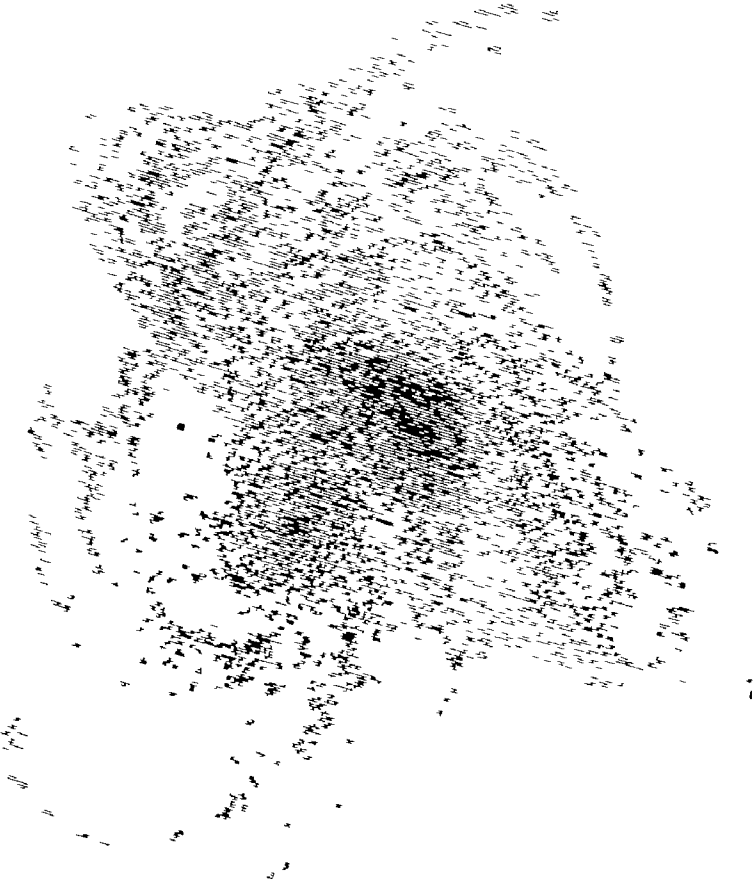
चित्र में परस्पर टक्कर लेती हुई दो नीहारिकाओं को अङ्कित किया गया है। (पृष्ठ २८०)

तारों के देश के हमसे एक ओझल भाग में उनके अपने जन्म, मृत्यु, विवाह-शादियाँ और आपस में भिड़न्त इत्यादि अनेक कर्म होते रहते हैं जिनको अब हम प्रत्यक्ष तो नहीं देख पाते, परन्तु रेडियो-दूरबीनों के द्वारा उन सब की खबरें हमें अवश्य मिल जाती हैं।

रेडियो दूरबीनों के काम भी खूब है! अनन्त के पेट में लुक छिप कर बैठे हुए तारों की टोह लगाती हैं; आकाश-गंगा के एक विशाल भाग को ढॅक रखने वाले तारों की धूल के पर्दे को चीर डालती हैं; अनन्त के उन भागों को ढूंढ़ लेती हैं जहाँ आकाश-गंगाएँ आपस में नाता जोड़ कर एक दूसरे से मिलती भिटती रहती हैं; दिन के प्रखर प्रकाश में भी भ्रमण-शील धूम-केतुओं के मार्ग पर सजग दृष्टि रखती है और अनन्त की दागी हुई उन गोलियों को भी बखूबी देख लेती हैं जो हमारे ऊपर के वायु-मण्डल में निरन्तर अणुओं की बौछारें करती रहती हैं।

नौबत यहाँ तक आ चुकी है कि आज कोई भी बादल अनन्त के रहस्यों को अपने पीछे छिपाकर अज्ञात नहीं रख सकता; तारों का कोई भी धूलि-पटल अब रेडियो-नाक्षत्रिकों को अन्धा नहीं बना पाता। सच तो यह है कि विश्व के सातों ही पर्दे आज उनके सामने खुल गये हैं।

रेडियो दूरबीनों की शह पाकर आज वैज्ञानिकों का साहस इतना बढ़ गया है कि वह अब उनके द्वारा अनन्त में बिखरे हुए उद्जन-अणुओं atoms of hydrogen से भी इङ्गित पाने की

कोशिशों में हैं। कितना महान् आश्चर्य है यह! हम जानते हैं कि किसी एक उद्जन-अणुका व्यास एक इञ्च के दसलाखवें भाग के भी १०० वें हिस्से के व्यास के बराबर है; और यह भी कि, तारों के बीच बीच के क्षेत्रों की पतली गैसों के प्रत्येक क्यूबिक सेन्टीमीटर भाग में सिर्फ एक ही उद्जन-अणु पाया जाता है। परन्तु, एक आसानी तो जरूर है; यह प्रत्येक अणु २१ सेन्टीमीटर लहर-लम्बाइयों की रेडियो-लहरें फेंकता रहता है और उनको ग्रहण कर सकने में समर्थ ग्राहक-दण्ड aerials खड़े भी किए जा रहे हैं।

यदि रेडियो-नाक्षत्रिक विद्वान् अपने इन प्रयत्नों में सफल हुए तो आगे जाकर वह "दर्शक-दूरबीनों" को प्रयोग करने वाले नाक्षत्रिकों को यह निर्णय करने में बड़ी मदद देंगे कि, क्या सच-मुच हमारा यह विश्व आगे की ओर दूरदूर भागा चला जा रहा है (इस विषय का खुलासा हम आगे बारहवें परिच्छेद में करेंगे); यदि हाँ, तो कैसे और क्यों यह प्रक्रिया सम्भव हुई।

इस पुस्तक के प्रारम्भ से लेकर यहाँ तक हमने विश्व की समूची जायदाद, जो आज तक हमारे ज्ञान में आ चुकी है, की एक लम्बी फेहरिश्त दे डाली है। परन्तु हमारे प्रयोग तो चालू हैं ही; आगे जाकर शायद और भी कोई अज्ञात ज़र-जमीन निकल पड़े और इस फेहरिश्त में शामिल कर दी जाय। तालिका को बनाने में हमने जो प्रयोग किए थे, उनकी कड़ी जाँच भी हम करते गये हैं। ज्यों ज्यों हमारे चालू प्रयोग आगे

बढ़ते जाते हैं, उनसे प्राप्त परिणामों को हम साथ ही साथ जाँचते भी चले जाते हैं। इस जाँच में हम विश्व में पाए जाने वाले समरूपता के पहलुओं का ही सहारा लेते हैं। इस समरूपता को जानने के लिये हम विश्व के ज्योति-पिण्डों की, उनकी अपनी अपनी जातियों या वर्गों के आधार पर, एक दूसरे से तुलना भी करते रहते हैं। जाँच के यह साधन अपने आप पर ही निर्भर एक सम्पूर्णता को व्यक्त करते हैं। वह सब एक दूसरे की पुष्टि करते जाते हैं और इस तरह यह जान कर कि, निःसन्देह हम सही मार्ग पर ही चल रहे हैं, हमारा विश्वास और साहस भी बढ़ता जाता है। इस मार्ग को पकड़ पाने में हमें अनेक विद्वानों के बहुमूल्य नेतृत्व मिले हैं, जिनमें हबल, ह्यूमेशन और स्लीफर के नाम हम बड़ी श्रद्धा के साथ लेते हैं। इस मार्ग पर हम चल तो निकले हैं और आगे बढ़े भी चले जा रहे हैं; परन्तु ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं, मार्ग भी लम्बा और अधिक लम्बा होता चला जाता है। इसके दोनों ही ओर तारों और नीहारिकाओं की बस्तियाँ हैं—घनी भी और विरल भी। उनके घरों की खिड़कियों में से झाँकते हुए प्रकाश हमें अपनी ओर बढ़े चले आने का इशारा कर रहे है। न तो यह बस्तियाँ ही खत्म होने का नाम लेती हैं और न यह मार्ग ही। क्या इसका कोई ओर-छोर नहीं है? क्या यह आइन्स्टीन का कल्पित एक चौखटा Continuum तो नहीं है, जो करोड़ों और अरबों प्रकाश-वर्षों तक घुमा-फिरा कर हमारी नजरों को

वापिस हमारी पृथ्वी पर ही फिर ला पटकेगा! इन प्रश्नों के उत्तर पाने की हम, आगे तेरहवें परिच्छेद में, कोशिश तो जरूर करेंगे।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

क्या हम विश्व में अकेले ही हैं?

अनन्त 'देश' Space में चारों ओर बिखरे हुए अनगिनत तारों के स्वरूपों और पृथ्वी की अपेक्षा उनकी दूरियों को जान लेने पर सहज ही हमारी उत्सुकता का झुकाव यह जानने की ओर हो उठा है कि सुदूर उन पिण्डों पर और भी कहीं हमारी पृथ्वी की तरह जीवन का स्पन्दन और बहुमुखी विकास हुआ है या नहीं। असंख्य भीमकाय तारों के इस विश्व में क्या अकेली पृथ्वी को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है? इस भयावह विस्तार में क्या हम अकेले ही जीवधारी हैं? क्या और भी कहीं हमसे मिलते-जुलते, हमसे अधिक ऊँचे अथवा हीन जीवन-स्तर के प्राणी निवास करते हैं।

यह प्रश्न जितने रोचक हैं उतने ही रोचक होंगे वैज्ञानिक शोधों से प्राप्त तथ्यों पर आधारित उनके उत्तर जिन पर हम विश्व-सृष्टि में हमारी समुचित स्थिति और महत्व को आँक

पावेंगे। आज का विज्ञान इस दिशा में सत्य का जितना कुछ साक्षात् दर्शन कर चुका है उस पर हम इन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास यहाँ करेंगे।

बात को शुरू करने के पहिले हम यह लिख देना चाहते हैं कि हमें यह न भूल जाना चाहिए कि जीवन के उद्भव, और अनुकूल परिस्थितियों में उसके बहुमुखी विकास, के विषयमें हमारा समूचा ज्ञान एक दुर्लङ्घ्य चहारदीवारी में ही घिरा हुआ है। पृथ्वी पर हमारे चारों ओर जीवन को हम अनेक रूपों में थिरकते देखते हैं। यहाँ पर जिन परिस्थितियों में जीवन पहले-पहल फूट पड़ा था उनको हम अब बखूबी जान भी गये हैं। यही नहीं; आज तो हमारे वैज्ञानिकों ने अपनी प्रयोगशालाओं में उन परिस्थितियों को जुटाकर कृत्रिम जीवन का निर्माण भी कर लिया है। इस विषय में हमारा यह ज्ञान हमारी कल्पनाओं पर इतना हावी हो उठा है कि हम और किन्हीं भिन्न रूपों और भिन्न परिस्थितियो में जीवन के विकास की कल्पना भी नहीं कर पाते। सुदूर विश्व में जीवन के विकास और स्वरूपों मे यदि कोई वैचित्र्य हों भी तो हम उन्हें अभी तो नहीं जान पावेंगे।

वास्तविकता चाहे जो और जैसी हो, हमारे इस अनुभवजन्य ज्ञान के प्रकाश मे ही हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि पृथ्वी के बाहर और भी कहीं जीवन फुदक रहा है या नहीं।

समझने में सहूलियत के लिए पहिले हम पृथ्वी पर जीवन के उद्भव और विकास की कहानी लिख देते है।

अपनी रसायन-शालाओं में किए गये प्रयोगों के बलपर वैज्ञानिकों को आज पूरा भरोसा हो चुका है कि पृथ्वी पर जीवन का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव जड़ या अचेतन द्रव्य से स्वयमेव हुआ था। जब हम उद्जन (hydrogen), पानी, बेन्झीन (benzene), अण्डों के आल्बुमिन (egg albumin), इन्सुलिन (insulin), वैक्सीन विरस (vaccine virus) और बैक्टीरिया (bacteria) जैसे क्रमशः प्रगतिशील रासायनिक मिश्रणों के गठन को देखते हैं तो हमारे लिए यह असम्भव सा हो जाता है कि हम अजीव या अचेतन पदार्थों से सजीव या चेतन पदार्थों को पृथक् करने के प्रयास में कोई एक विभाजक रेखा खींच सकें।

हमने उद्जन से लेकर बैक्टीरिया तक विकास की जिस क्रमिक शृङ्खला का ऊपर उल्लेख किया है, उसकी आदिम कड़ी उद्जन तो प्रत्यक्ष एक जड़ तत्व है। यह तत्व उद्जन ही एक दूसरे तत्व आक्सीजन के साथ मिलकर इस शृखला की अगली कड़ी 'पानी' बन जाता है। स्पष्ट ही पानी एक मिश्र-द्रव्य है और जड़ भी। पानीकी एक खूबी से तो हम सब परिचित हैं ही। बरसात की मौसिम में कपड़ों के भींग जाने पर यदि उनकी सीलन कुछ दिनों बनी रहे तो उनमें छोटे-छोटे कृमि उत्पन्न होकर अचानक रेंगने लग जाते हैं। हमारे रहने के मकानों के अँधेरे कोनों में भी पानी की सीलन बनी रहने पर ऐसे ही कृमि रेंगते हुए नजर आते हैं। जो कुछ हो; स्वयं एक जड़ द्रव्य से दिखनेवाले पानी

का सजीव सृष्टि के उत्पादन में एक प्रमुख सक्रिय हाथ तो नजर में आता ही रहता है।

पानीसे आगेकी कड़ियां हैं बेन्झीन आल्बुमिन, इन्सुलिन और वैक्सीन विरस्। इनके आगे, अन्तिम कड़ी बैक्टीरिया तो प्रत्यक्ष एक सजीव सूक्ष्म कीटाणु है। इस प्रकार एक जड़तत्व उद्जन ही बीच के इन स्तरों में से गुजरता हुआ एक प्रत्यक्ष सजीव कीटाणु (बैक्टीरिया) बन जाता है। यह सब देखते हुए भी इनमें के किसी एक खास स्तर को लेकर हम दृढ़ निश्चय के साथ यह नहीं कह सकते कि ठीक यहीं आकर जड़तत्व एक सचेतन जीव बनना आरम्भ करते हैं। कैलीफोर्निया विश्व-विद्यालय के डा० वेन्डेल स्टान्ली के शब्दों में हम केवल यही कह सकते हैं कि वैक्सीन विरसों के ऊपर किए गये रासायनिक प्रयोगों ने हमें यह सोचने के लिए कुछ नये कारण दिए हैं कि जिस जीवन से हम परिचित हैं वह कहीं से अकस्मात् ही नहीं फूट पड़ा है; वह तो सभी द्रव्यों या पदार्थों में अन्तर्निहित है।

चाहे जो हो ; वैज्ञानिकों का आज यही अनुमान है कि हमारी पृथ्वी पर जीवन का सर्व-प्रथम आविर्भाव सम्भवतः आज से करीब एक या दो अरब वर्षों पहिले समुद्र के गर्भ में ही हुआ था। संस्कृत भाषा के इस शब्द 'समुद्र' की व्युत्पत्ति कितनी सार्थक है ?—' समुद्रवन्ति (सम्+उ+ गत्यर्थक 'द्रु' धातु) भूतानि यस्मिन् सः समुद्रः"; अर्थात् जिसमें प्राणी अपनी गति या जीवन प्राप्त करते हैं उसे समुद्र कहते हैं। मनुस्मृति के

प्रथम अध्याय में जीव-सृष्टि का क्रम-विकास बतलाते हुए राजर्षि मनु ने कहा है;

"अपएव ससर्जादौ तस्मिन्नण्डमबासृजत्।

... .।।"

अर्थात्; (विश्व-स्रष्टाने) शुरू में जल की सृष्टि की और उसमें फिर अण्डे को सिरजा। वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित जिस विकास शृङ्खला का हमने ऊपर उल्लेख किया है उसकी दो कड़ियों—पानी और अण्डोके आल्बुमिन (egg albumin) का ही यह एक स्पष्ट निर्देश है।

सोवियत रूस के महान् जीवशात्री ए० आई० ओपारिन (A. I. Oparin) ने जीवन की प्रथम अभिव्यक्ति के उन दिनों में पृथ्वी की तात्कालिक परिस्थितियों का एक मनोहर कल्पना-चित्र खींचा है। आरम्भ में पृथ्वी अत्यन्त गर्म थी। काल पाकर धीरे-धीरे वह ज्यों-ज्यों ठण्डी होती गई, उसपर 'काबाईड' (Carbides) पैदा होते गये। भाप उगलते हुए पृथ्वी के वायु-मण्डल के सम्पर्क में आकर उन कार्बाइडों ने 'हाइड्रो-कार्बन' hydro-Carbons बनाये। हाइड्रोकार्बन ही सभी सजीव पदार्थों की आदिम कड़ियाँ हैं। उन हाइड्रोकार्बनों के कुछ भाग पृथ्वी के वायु-मण्डल की अमोनिया गैस के सम्पर्क में आये। इस सम्पर्क के कारण उनमें कुछ रसायनिक प्रतिक्रियाएँ हुई जिनसे 'नाइट्रोजन' के अनेक रूपान्तर बने।

जैसे-जैसे पृथ्वी ठण्डी होती गई, वह सब द्रव्य उसके वायु-

मण्डल और समुद्रों में एक गर्म रासायनिक घोल के रूप में रहते रहे। समय पाकर उन द्रव्यों ने एक दूसरे के साथ और पानी के साथ मिलकर कुछ और रासायनिक प्रतिक्रियायें कीं। इन प्रतिक्रियाओं ने सजीव रासायनिक समासों organic Chemical Compounds की एक बहुत बड़ी संख्या को जन्म दिया, जिनमें अत्यन्त ऊँचे मिश्रण के 'प्रोटीन' proteins भी थे। यह बड़े-बड़े रासायनिक समास या द्व्यणुक ही आपस में मिलकर अनेक छोटे-छोटे कतरे से बन गये। यह कतरे स्थायी न थे; लगातार टूटते और फिर बनते रहते थे और रासायनिक तत्वों से भरे हुए समुद्र में तैरते रहते थे। इस प्रकार बने हुए अरबों और खरबों कतरों में से कुछ तो अपनी आन्तरिक बनावटों में इतने संगठित हो चुके थे कि वह अपने आपको जीवित रखने और प्रजनन की क्रिया द्वारा अपनी संख्या बढ़ाने के लिये आवश्यक खुराक को ग्रहण कर सकते थे। जिन उपयुक्त रासायनिक संयोगों ने जीवन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति को सम्भव बनाया था उनके स्वयं आविर्भाव होने में करीब करोड़ों वर्ष लग गये।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में शिकागो विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्री स्टैन्लीमिलर ने एक महत्वपूर्ण प्रयोग द्वारा जीवन के प्रादुर्भाव की आरम्भिक क्रियाओं पर नया प्रकाश डाला है। उन्होंने कांच के बने एक फ्लास्क में उन-उन तत्वोंको रक्खा जो, विश्वास किया जाता है कि, आज से करीब दो या

तीन अरब वर्षों पहिले हमारी पृथ्वी के वायु-मण्डल में थे। वह तत्व थे; मीथेन (Methane) अमोनिया, हाइड्रोजन और पानी। इन तत्वों पर मिलर ने विद्युत् की एक चिनगारी का बार-बार स्पर्श करवाया। इस प्रकार उन्होंने एक सप्ताह के भीतर इन तत्वों के संयोगों से तीन किश्मों के आमिनोएसिड aminoacids बनाए जो प्रोटीन के आरम्भिक-स्रोत हैं। इस प्रयोग ने यह बता दिया कि जीवन के निर्माण में आवश्यक प्रथम द्व्यणुक शायद पृथ्वी के वायुमण्डल पर विद्युत के बार-बार आघात होने पर ही बने थे।

उन कल्पनातीत पुराने युगों में जीवन-निर्माण की दिशा में पृथ्वी पर जो कुछ हो रहा था, उसके हमारे अध्ययन में एक और भी महत्वपूर्ण सूराग विरसों (viruses) में मिलता है। यह 'विरस्' अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और इन्फ्ल्युएञ्जा तथा हैज़ा जैसे रोगों के प्रधान जनक हैं। कृमि—विज्ञान के विशेपज्ञ भी अब तक यह निश्चय नहीं कर पाये हैं कि 'विरस्' सजीव प्राणी हैं अथवा महज निर्जीव रासायनिक द्रव्य। उदाहरण के लिए हम तमाखू के पत्तों के विरसों को ले सकते हैं। रसायनशालाओं में व्यवहार की जानेवाली प्रयोग-नलिकाओं test tubes में इन विरसों को वर्षों तक, बिना खुराक, रक्खा जा सकता है। वहाँ रहते हुए वह न तो अपनी आकार वृद्धि करते हैं और न प्रजनन-क्रिया ही। संक्षेप में; वहाँ रहते समय वह महज़ रासायनिक-द्रव्य ही मालूम होते हैं। परन्तु ज्योंही उन्हें नलिकाओं से

निकाल कर तमाखू के एक पत्ते पर रक्खा जाता है, वह सजीव प्राणियों की तरह अपने आकारों में बढ़ने और प्रजनन-क्रिया द्वारा अपनी कौम को बढ़ाने भी लगते हैं। सच ही जड़ और चेतन के बीच कोई एक स्पष्ट रेखा ऐसी नहीं, जो उनको अलग-अलग विभक्त कर सके।

जीवन को फूटने और पनपने के लिए वायुमण्डल में आक्सीजन और ऐसे ही अन्य आवश्यक तत्व होने चाहिए और साथ ही यह (वायुमण्डल) अमोनिया जैसे तत्वों की घातक मात्राओं से मुक्त भी होना चाहिए। तापमान भी कुछ निश्चित अंशो degrees के भीतर ही होना चाहिए। जिस तापमान पर पानी खौलने लगे (boiling point) उतने ऊँचे तापमान पर एवं शून्य अंश से भी दस अंश नीचे तापमान पर सरल बनावट के कुछ थोड़े प्राणी ही ज्यादा देर जीवित रह सकते हैं।

जीवन की उत्पत्ति और विकास की अनुकूल परिस्थितियों के जिक्र का उपसंहार हम अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के एक ज्योतिर्विद सर हैरोल्ड स्पेंसर जोन्स Sir Harold spencer Jones के शब्दों में ही कर देना चाहते है। अपनी एक नव प्रकाशित पुस्तक 'लाइफ आन अदर वर्ल्डस्' "Life on other worlds में वह लिखते हैं; Life does not occur because of some unique incident. It is the result of definite processes; given the suitable Conditions, these processes will inevitably lead to the develope-

ment of life." अर्थात्; जीवन की उत्पत्ति किसी एक ऐसी घटना के कारण नहीं होती जिसकी फिर कोई आवृत्ति ही न हो सके। यह (जीवन) तो किन्हीं खास प्रक्रियाओं की परिणति है; यदि अनुकूल परिस्थितियाँ जुटा दी जाँय तो वह प्रकियायें जीवन के विकास की ओर अनिवार्य चल पड़ेंगी।

जीवन के विषय में अबतक हम इतना ही कुछ जान पाये हैं। इस ज्ञान के प्रकाश में अब हम पृथ्वी के बाहर कुछ पिण्डो पर जीवन के अस्तित्व की टोह लेने का प्रयास करेंगे। पहिले हम अपने ही कुनबे (सूर्य और उसके ग्रह) के घरो में झाँक कर यह देखेंगे कि क्या उनके आँगनो पर भी सजीव प्राणी हँस-खेल रहे हैं ?

सूर्य एक धधकता हुआ उत्तप्त पिण्ड है; एक तारा है, जिसका अत्यधिक ऊँचा तापमान ही वहाँ किसी भाँति के जीवन के होने की कल्पना करने से ही हमें रोक देता है। अब बचे उसके ग्रह। इनमें बुध तो हमारी पृथ्वी की तुलना में इतना अधिक छोटा है और इस कारण उसका गुरुत्वाकर्षण gravitation भी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की तुलना में इतना कम है कि उसने जीवन के पनपने के उपयुक्त वायुमण्डल को करीब-करीब खो डाला है। उधर वृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेप्चून जैसे ग्रह पृथ्वी की अपेक्षा अधिक बड़े होने के कारण अधिक बड़े वायुमण्डलों को पकड़ कर रक्खे हुए हैं, जिनमें ऐसी विषाक्त गैसें मौजूद हैं कि वहाँ जीवन का अस्तित्व असम्भव-सा ही है।

प्लूटो ग्रह अत्यन्त ठण्डा है और इस कारण वहाँ भी जीवन के होने की कोई आशा नहीं है।

अब रहे शुक्र और मङ्गल। इनमें शुक्र ग्रह पर दिख पड़नेवाले वादलों को लेकर यह तर्क किया तो जा सकता है कि उस ग्रह पर पानी भी अवश्य होगा। परन्तु हमारी बड़ी-से-बड़ी दूरवीन से देखने पर भी हमें वहाँ पानी के होने के कोई स्पष्ट चिन्ह दिखाई नहीं पड़े हैं। शुक्र के बादल सम्भवतः विषैली गैसों और धूल के बने हुए हैं। शुक्र के वायुमण्डल में काफी अधिक कार्बन डायोक्साइड गैस है। सर हैरोल्ड का मत है कि इस गैस की अधिकता के कारण ही शुक्र का तापमान 'वाष्प-विन्दु' (जिन अंशों पर पानी खौलकर भाप बनने लगे) से भी ऊँचा होगा। इतने ऊँचे तापमान के कारण उसके वायुमंडल में होनेवाली हलचले पृथ्वी की अपेक्षा बहुत अधिक तेज होंगी। उसकी सतह पर भी हवाई तूफान और बवण्डर भयानक वेग से लगातार चलते रहते होगे। इन सब बातों को देखते हुए यह सम्भव नहीं मालूम होता कि वहाँ जीवन पनप सका है।

मङ्गल की चर्चा को हमने जानबूझ कर ही सब के बाद रक्खा है; क्योंकि यही एक ऐसा ग्रह है, जहाँ जीवन के होने के चिह्न दिखाई पड़ते है। संस्कृत भाषा में मङ्गल का एक दूसरा नाम 'भौम' भी है—भौम, अर्थात् भूमि का पुत्र। पृथ्वी और मङ्गल पर पाई जानेवाली अवस्थाएँ बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी हैं। सूर्य से पृथ्वी जितनी दूर है, उससे डेढ़ गुना दूर मङ्गल

है। इस ग्रह पर दिन और रात की लम्बाई हमारे बराबर ही है; २४ घण्टे और ३७·५ मिनट। इसका एक वर्ष, अथवा दूसरे शब्दों में सूर्य के चारों ओर इसका एक पूरा चक्कर, हमारे वर्ष का दूना है। मङ्गल के पिण्ड का व्यास पृथ्वी के व्यास का आधा है और इसका समूचा भार पृथ्वी के भार का दशवाँ भाग ही है। वज़न में इतना हल्का होने के कारण ही इसका गुरुत्वाकर्षण भी कम है। परिणाम यह हुआ है कि इस ग्रह ने अपने वायु-मण्डल के कुछ हलके तत्वों, जैसे कि हाइड्रोजन और हीलियम, को खो डाला है।

इस ग्रह का तापमान भी दिन में तो शून्य अंश से ५० अंश ऊपर रहता है और रात को उतर कर शून्य से ८० या ६० अंश नीचे तक चला जाता है। हिमालय पर्वत की सबसे ऊंची चोटी गौरीशंकर (माउन्ट एवरेस्ट) पर भी तापमान का उतार-चढ़ाव ठीक इतना ही है। इस तापमान पर जीवन का अस्तित्व सम्भव तो है ही।

मङ्गल के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर दिखने वाली सफेद चोटियाँ ग्रीष्म काल में पिघल कर दूर हट जाती है और शीत ऋतु में फिर वढ़ आती है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ इस ग्रह की सतह के बड़े-बड़े भाग अपना रङ्ग बदलते रहते हैं; कभी भूरे और कभी हरे। सर हैरोल्ड का कहना है कि रङ्गों के इन परिवर्तनों की वनस्पतियों के मौसिमी उगाव के अलावा कोई और व्याख्या करना मुश्किल है। गर्मी की मौसिम में बर्फ

की वह चोटियाँ पिघलने लगती हैं और उनका पानी बहकर निचले भागों में जा पहुँचता है। वनस्पतियाँ तब उगने लगती हैं और उनसे ढके हुए भाग भूरे रङ्ग से बदल कर हरे दिखने लगते हैं। शीत-ऋतु के आने पर यह हरा रङ्ग धीरे-धीरे फिर भूरे रङ्ग में वदल जाता है।

यह सब तथ्य मिलकर इस ओर इशारा करते हैं कि इस ग्रह पर वनस्पति-जीवन तो अवश्य है, यद्यपि देखने में वह धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। पशु-जीवन के होने की वहाँ कोई सम्भावना नहीं मालूम होती और मनुष्यों से मिलते-जुलते उच्च-स्तरीय प्राणी तो वहाँ निश्चय नहीं हैं।

सर हैरोल्ड के इस मत के विरुद्ध अमेरिका के मीचीगन विश्व-विद्यालय के एक ज्योतिर्विद् डा० डीन मैक्लौलिन (Dr. Dean Mclaughlin का यह कहना है कि मङ्गल ग्रह अभी तक विकास के उन आरम्भिक स्तरों में से ही गुजर रहा है जिनमें होकर कभी हमारी पृथ्वी को भी गुजरना पड़ा था इसके पहिले कि उसपर जीवन का प्रथम स्पन्दन हुआ। अब तक जो प्रमाण मिले हैं, वह इस बात को ही पुष्ट करते हैं कि यह ग्रह (मङ्गल) फिलहाल तो अपने ज्वालामुखियो द्वारा भीषण रूप में हिलाया-डुलाया जा रहा है। इस ग्रह के मुखपर जो अजब किस्म के बादल दिख पड़ते है, वह इन ज्वालामुखियों के मुँह से निकली हुई धूल और भाप की विशाल लहरें ही है। वायु के द्वारा इधर-उधर उड़ाई हुई ज्वालामुखियों की राख ही

मङ्गल के चेहरे पर कुछ ऐसे दिख पड़ने वाले निशान बना देती है जिनको हम पानी की नहरें समझ बैठते हैं और जो भाग काले से दिख पड़ते हैं, उनको हम कभी-कभी वनस्पतियाँ मान लेते हैं। सम्भव है कि समय बीतने पर यह ज्वालामुखी ही एक दिन इस ग्रह के अन्तराल के जल को उसकी सतह पर उठा लावेंगे और इस प्रकार वहाँ समुद्रों का निर्माण करेंगे जिनमें जीवन भी आगे चलकर स्पन्दन करने लगेगा।

उड़न तश्तरियों Flying Saucers की चर्चा तो आपने भी सुनी होगी। सन् १९५३ ई० से लेकर आगे के दो वर्षों में पृथ्वी के अनेक देशो के ऊपर आकाश में आश्चर्यजनक तेजी से उड़ती हुई यह तश्तरियाँ प्रायः ही देखी गई थीं। लगता था जैसे कि कुछ जलते हुए शोले आकाश में तीव्र वेग से भाग रहे हैं। अनेक व्यक्तियों का दावा था कि उन्होंने उन तश्तरियों में बैठे हुए विचित्र प्राणियों को भी स्पष्ट देखा था। अनुमान तो यही लगाये गये थे कि वह सब उड़न-तश्तरियाँ हमारी पृथ्वी के बाहर ही कहीं से आती थीं—शायद मङ्गल ग्रह से ही। कहा जाता था कि मङ्गल पर हमसे भी उच्चस्तरके प्राणी निवास करते हैं जो वैज्ञानिक अनुसन्धानो में हमसे बहुत-बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इस मत की पीठ ठोंकने को कोई वैज्ञानिक तो आगे नहीं बढ़े परन्तु जेरल्ड हर्ड जैसे प्रख्यात पत्रकार ने बड़ी ऊहापोह के साथ इसको अपना समर्थन दिया था।

अभी हाल में, ८ सितम्बर सन् १९५९ ई० के दिन, अपनी

कक्षा पर ही घूमता हुआ यह ग्रह हमारी पृथ्वी के अधिकतम पास आ गया था। करीब ३० वर्षों के अन्तर से ऐसे अवसर प्रायः आते रहते हैं। अनेक देशों के वैज्ञानिक बड़ी उत्सुकता के साथ इस अवसर की बाट जोह रहे थे। उस दिन यह ग्रह पृथ्वी से कुल साढ़े तीन करोड़ मील दूर ही रह गया था। मङ्गल के रूप की कुछ झलक पाने के लिए वैज्ञानिकों ने पहिले से ही अपनी सुसज्जित दूरबीनें इसकी ओर लगा रक्खी थीं।

उस दिन मङ्गल अपनी धुरी पर इस प्रकार झुका हुआ था कि उसका दक्षिणी ध्रुव भाग हमारी पृथ्वी की ओर था। वैज्ञानिकों ने उस ग्रह के पीले से दिख पड़ने वाले विशाल बादलों को बिल्कुल स्पष्ट देखा। उसके रूप के अन्य पहलुओं की अपेक्षा उसके यह बादल अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ रहे थे।

सोवियट रूस के ज्योतिर्विदों का दावा है कि उन्होंने मङ्गल ग्रह के हरे रङ्ग के समुद्रों, पीले रङ्ग के धुन्धलके में लिपटे हुए धूल के बड़े-बड़े बवण्डरों और उसके दक्षिणी ध्रुव की हिमाच्छादित चोटियों को घेरे हुए हलके भूरे रङ्ग के भूभागों को भी देखा है। उनमें का एक वैज्ञानिक तो और आगे बढ़ कर यह दावा भी करता है कि उसने मङ्गल की सतह पर ऐसे रङ्ग देखे है जो हमारी पृथ्वी पर वसन्त ऋतु के आरम्भ में उगने वाले पौधो के रङ्गो से हूबहू मिलते हुए थे। यदि यह बात ठीक हो तो हमारे पास एक प्रमाण और भी जुट जाता है कि मङ्गल की सतह पर ऊँचे दर्जे का वनस्पति-जीवन मौजूद है।

उधर जापान के ज्योतिर्वैज्ञानिकों ने उक्त रूसी वैज्ञानिकों के इस मत से अपनी असम्मति प्रकट की है। उनके अनुसार इस ग्रह के दक्षिणी ध्रुव की बर्फीली चोटियाँ अभी पिघलनी शुरू ही नहीं हुई है और इस कारण वहाँ वनस्पति-जीवन के अस्तित्व की कोई गुञ्जाइश नहीं है।

आस्ट्रेलिया के नाक्षत्रिक यह कहते हैं कि उन्होंने मङ्गल को एक ऐसे गोलपिण्ड के रूप में देखा है जो नारंगी और लाल रङ्गो के मिले-जुले रङ्ग का है। हमारी पृथ्वी की तरह यह ग्रह भी ध्रुवों की टोपियाँ ओढ़े हुए है और इसकी सतह भी कहीं कहीं हरापन लिए हुए है।

इटली देश के ज्योतिर्विद् कहते है कि उन्होने मङ्गल के उन भीमकाय बवण्डरों को प्रत्यक्ष देखा है जो उनके अनुसार धीरे धीरे मन्द पड़ते जा रहे हैं।

जो कुछ हो ; मङ्गल ग्रह पर उगने वाले पौधो को देख कर सर हैरोल्ड जैसे वैज्ञानिक यह तो कहने ही लगे हैं कि जीवन सिर्फ अकेली पृथ्वी पर ही नहीं है। यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि विश्वमें जहाँ कहीं भी अनुकूल परिस्थितियाँ जुट सकी हैं, वहाँ हम मनुष्यों की तरह के उच्च-स्तर के प्राणी अवश्य उत्पन्न हो सके हैं या हो चुके हैं।

सूर्य-परिवार के बाहर, सुदूर विश्व में, जीवन के कहीं अस्तित्व की खोज में हमारी बड़ी से बड़ी दूरबीन भी हमें कोई सहायता नहीं दे पाती। इन दूरबीनों से देखने पर भी सूर्य-

परिवार के बाहर का विश्व केवल छोटे-छोटे धब्बों के रूप में असंख्य तारों के पुञ्ज सा ही दिख पड़ता है। इन सब तारों की सतहों के तापमान, जैसा कि हम पाँचवें परिच्छेद में लिख आये हैं, हजारों और लाखों अंशों degrees पर हैं। इसलिए स्वयं इन तारों पर तो हमारे परिचित जीवन के होने की कल्पना भी करना दुःसाहस ही होगा। परन्तु यह कल्पना तो हम अवश्य कर ही सकते हैं कि उन सब तारों में कुछ तारे तो ऐसे होंगे ही जिनके अपने ग्रह-परिवार हों। ऐसा सोचने के लिए हमारे पास एक दृढ आधार तो है ही; क्योंकि हमारा सूर्य स्वयं एक तारा ही है और उसके ग्रह-परिवार से हम चिर-परिचित हैं। उनमें के एक ग्रह (पृथ्वी) पर ही हमने बसेरा ले रक्खा है। यह तो हम कह ही नहीं सकते कि विश्व के इन खरबों तारों में विश्व-प्रकृति ने सिर्फ एक ही तारे (सूर्य) को अपना ग्रह-परिवार रखने की इजाजत दी है। सच ही; विश्व-प्रकृति इतना पक्षपात तो नहीं करती होगी।

पहिले हमें यह टोह लेनी है कि विश्व में और भी कहीं ऐसे ग्रह-परिवार हैं या नहीं। सर हैरोल्ड का तो यही कहना है कि सम्भावनायें बहुत कुछ ऐसी हैं कि सूर्य की तरह अपने-अपने ग्रह-परिवार रखने वाले और भी अनेक तारे है। परन्तु इस धारणा को पुष्ट करना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि वह तारे स्वयं इतने चमकीले है कि उनके साथ यदि कोई ऐसे काले पिण्ड (ग्रह) हों भी ता वह अपने उन तारों की

चमक में डूब जाने के कारण हमारी दूरबीनों में देखे ही नहीं जा सकते।

हाँ, हमारा गणित शास्त्र अवश्य ऐसे एक ग्रह के होने की सम्भावना बतलाता है। राजहंस ६१ (61 cygni) नामक एक द्विक्तारा है। सन् १९४२ ई० में पेन्सिलवानिया (अमेरिका) स्वार्थमूर कालेज की स्प्रौल वेधशाला के डाक्टर के० ए० स्ट्राण्ड (Dr. K. A. Strand) ने बताया था कि इस द्विक् के दो तारो में से एक तारा समय समय पर अपने भ्रमण-मार्ग से थोडा हटकर चलता हुआ सा दिख पड़ता है। गणित के आधार पर की गई धारणा के अनुसार अपने भ्रमण-मार्ग पर उसे जहाँ होना चाहिए था उससे कुछ अलग हट कर ही वह चलता दिखाई देता है। डा० स्ट्राण्ड की गणितीय प्रक्रियाओं ने उन्हें यह बतलाया कि उस तारे का वह हटाव या विचलन सम्भवतः उसके अपने एक अदृश्य ग्रह के कारण ही होता है जिसकी द्रव्य-मात्रा पृथ्वी की द्रव्यमात्रा की ४०७० गुनी है।

अपनी दूरबीनों से चाहे हम उन्हें न भी देख सकें, फिर भी विश्व में अपने अपने तारों से बँधे हुए अनेक ग्रह है। उनमें भी अनेक ग्रह ऐसे हैं जिन पर हमारी पृथ्वी की तरह ही वायु-मण्डल हैं और जिन पर पृथ्वी की तरह ही जीवन का उद्भव और विकास हुआ है। हार्वर्ड यूनीवर्सिटी वेधशाला के डाक्टर हार्लो शैप्ली Dr. Harlow shapley का कहना है कि यह मानना विचार-सङ्गत ही होगा कि प्रत्येक दसलाख तारों में

एक तारा तो अवश्य ऐसा होगा जिसका अपना ग्रह-परिवार हो। प्रत्येक एक हजार ऐसे ग्रह-परिवारों में एक परिवार ऐसा भी होगा जहाँ जीवन के उद्भव के लिए आवश्यक अनुकूल परिस्थितियाँ होंगी। इनमें भी प्रत्येक एक हजार जीवन-वाहक ग्रहों में एक ग्रह तो अवश्य ऐसा होगा जिस पर उच्च-स्तर के बुद्धि-शील प्राणी निवास करते होंगे।

अनुमान लगाया जाता है कि विश्व में एक सौ ट्रिलियन (दस लाख×दस लाख×दस लाख) तारे है। इसलिये डाक्टर शैप्ली के मतानुसार दस करोड़ ग्रह तो अवश्य ऐसे होंगे, जहाँ हमसे कुछ मिलते-जुलते से बुद्धिमान् प्राणी निवास करते होंगे।

'हम से कुछ मिलते-जुलते से' शब्दों का प्रयोग हमने जान बूझ कर ही किया है। डार्विन के सर्वमान्य 'विकास वाद' (The theory of Evolution) के अनुसार किसी एक जीव-विशेष की हजारों पीढ़ियों में होने वाले क्रमिक रूप-परिवर्तनों की जड़ में काम करने वाले कारण इतने भिन्न-भिन्न किस्मों के होते है कि किसी एक खास विकास-क्रम के फिर से दुहराये जाने की सम्भावना अत्यन्त कम अथवा नहीं के समान ही होती है। हमारा अपना ग्रह (पृथ्वी) ही हमें यह बतलाता है कि जीवन के विकास का क्रम सरल से जटिल की ओर बार-बार कैसे बढ़ता है। प्रकृति की चाह के अनुरूप अपने परिवर्तन करने वाले प्राणी ही केवल जीवित रह पाते हैं और 'बुद्धिशीलता' तो प्रकृति का अत्यन्त कृपापात्र रूपान्तर है।

इन सब तथ्यों का निचोड़ सर हैरोल्ड के अपने शब्दों में यह है ; "We cannot resist the conclusion that life, though rare, is scattered throughout the Universe. It may be compared to a rare plant which can flourish only when the temperature, the humidity, the soil, the altitude and the amount of sun-shine are favourable. Given these appropriate conditions, then here, there or elsewhere the plant may be found". अर्थात् ; हम इस निष्कर्षको टाल ही नहीं सकते कि जीवन, दुष्प्राप्य होने पर भी, विश्व में कई जगहों पर बिखरा हुआ है। इसकी तुलना ऐसे एक दुष्प्राप्य पौधे से की जा सकती है जो तापमान, आर्द्रता, जमीन, सतह की ऊँचाई और धूप की मात्राओं के अनुकूल होने पर ही उग और पनप सकता है। यदि यह उपयुक्त परिस्थितियाँ जुटा दी जाँय तो यहाँ, वहाँ और अन्यत्र भी वह पौधा पाया जा सकेगा।

सम्भव है, दूसरे ग्रहों पर रहनेवाले प्राणियों से हम कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क न बना पावें ; क्योंकि हमारे और उनके बीच भयावह दूरियाँ हैं। चाहे जो हो, सिर उठाकर तारों की ओर देखते समय हम यह तो जान ही सकेंगे कि विज्ञान आज हमारी पीठ ठोक कर कह रहा है : 'विश्व में तुम अकेले तो नहीं हो।"

बारहवाँ परिच्छेद

दूर-दूर फैलता हुआ विश्व

पिछले परिच्छेदों में हम विश्व की बनावट का एक मोटा-सा खाका, जैसा कि आज तक उसे जान पाये है, खींच चुके हैं। अब हम इसके कुछ ऐसे पहलुओ पर प्रकाश डालने की कोशिशें करेंगे जो अत्यन्त दुरूह, जटिल और मुश्किल से समझ में आने-वाले और उलझन भरे है। इनको जाने बिना विश्व का हमारा अध्ययन अधूरा और बेजान ही रहेगा।

जिन पिण्डों ने मिलकर इस विश्व के शरीर का निर्माण किया है उनको एक बार और हम, अपने अध्ययन को ताजा बनाए रखने के लिये, दुहरा देना चाहते हैं। सूर्य और उसके परिवार के ९ ग्रह जिनमें एक हमारी पृथ्वी है; करोड़ों और अरबों तारों का एक विशाल जमाव जिसे हम अपने आकाश की गंगा कहते हैं; इस गंगा से अति दूर की नीहारिकाएँ या आकाश-गंगाएँ जिन प्रत्येक मे अपने-अपने करोड़ों विशाल-काय तारे हैं; धूल और गैसों के भारी-भरकम बादल जो सुदूर अनन्त में सर्वत्र फैले हुए है; विशाल आकारों के "काले तारे" जो हम से लुका-छिपी का खेल खेल रहे हैं;—यह है एक संक्षिप्त-सी

सूची उन पिण्डो की जिन्होने मिलकर इस विश्वको उसका अपना रूप दिया है।

यह सब पिण्ड यदि अपनी-अपनी जगहों पर, एक दूसरे से चाहे जितनी दूर, स्थिर जमे बैठे रहते तो हम बड़ी आसानी के साथ विश्व के आकार-विस्तार की एक समझ में आने लायक कल्पना कर सकते थे। परन्तु हमारी आसानियों और मुश्किलों से तो उनको कोई सरोकार नहीं। उस महान् निर्माता और निर्देशक ईश्वर ने विश्व के चल-चित्र में खेलने के लिये उनको जो जो भूमिकाएँ दी हैं, उन-उनको वह, उस निर्देशक के इशारों पर, पूरी निभा देना चाहते हैं; भले ही, उनकी यह गतिविधियाँ हम मनुष्यों के लिये समझने और बोधगम्य करने में दुरूह हों।

विश्व के चित्र में उनको तो भाग-दौड़ ही करनी है; एक दूसरे की अपेक्षा दूर-दूर, सभी ओर। यों भागते हुए संयोगवश वह एक दूसरे के मार्ग में भी कुछ देर के लिये आ पड़ते हैं; परन्तु शीघ्र ही एक दूसरे को पार कर, वह आगे बढ़ जाते हैं। यह भी सम्भव है कि यह बात हमारे देखने का भ्रम ही हो; ऐसी दोनों नीहारिकाएँ उस समय हमारी दृष्टि की एक ही सीधी रेखा में हों और इस कारण, एक दूसरी से लाखों करोड़ो मील दूर रह कर ही उस रेखा को पार करती हों।

बात का सिलसिला अब यहाँ आकर रुकता है कि विश्व का समूचा आकार-विस्तार एक अति विशाल वृत्त या गोल चक्कर के रूप में है और इस वृत्त की परिधि (इसके विराव की

अन्तिम सीमा-रेखा) निरन्तर फैलती जाती है। इस समूची परिधि का प्रत्येक बिन्दु आगे की ओर बढ़ता चलता है और यों विश्व का आकार निरन्तर बढ़ता जाता है।

यह तो हुई विश्व में देखे गये एक तथ्य की, एक सत्य की, जानकारी। अब हमें यह देखना है कि कैसे और क्योंकर हम इस सत्य की झलक पा सके।

यह तो हम पहिले ही, नौवें परिच्छेद में, लिख आये है कि स्लीफर ने वर्णपट-दर्शक यन्त्र की सहायता से लिए गये इन पिण्डों के प्रकाश के वर्णपटों में उनकी रेखाओं को लाल या कम फड़कनों के छोर की ओर मुड़ते देखा था। इस बात को पूरी समझ पाने के लिए हम यह याद दिला देना चाहते हैं कि प्रकाश की किरणें अपने सम्पूर्ण रूप में सफेद रङ्ग की दिखने पर भी वास्तव में अनेक रङ्गों की लहरों के मिश्रण से बनी हुई हैं। भिन्न-भिन्न रङ्गों की इन लहरों की अपनी अलग-अलग फड़कनों Frequencies की एक निश्चित संख्या होती है। एक सीधी रेखा में चलती हुई प्रकाश-किरणें उस रेखा पर, अपनी लहरो की लम्बाइयों को लेकर जितने कम्पन करती हैं, उन कम्पनो की संख्या को ही "फड़कनें" Frequency कहते हैं। वर्णपट-दर्शक यन्त्र में जो एक त्रिफलक काँच लगा रहता है उसमें होकर जब यह किरणें निकलती है तो यह काँच उन्हें भिन्न-भिन्न रङ्गों की लहरों के रूप में तोड़ देता है। यह लहरे तब एक चौड़ी पट्टी या एक छोटी झाड़ू के रूप में फैल जाती है,

जिसके एक छोर पर तो कम फड़कनों की लाल रङ्ग की लहरें होती हैं और दूसरे छोर पर होती हैं ऊँची या अधिक संख्या की फड़कनें जो बैंगनी रङ्ग की लहरें हैं। इन दोनों छोरों के बीच बाकी रङ्ग की लहरें होती हैं। लहरों की लम्बाइयाँ जितनी बड़ी होती हैं उनकी फड़कनों की संख्या भी उतनी ही कम होती हैं और वह लाल रङ्ग की लम्बी लहरों के छोर की ओर उतनी ही झुकती चली जाती हैं। इसी प्रकार जिन लहरों की लम्बाइयाँ छोटी होती चली जाती हैं, उनकी फड़कनों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती जाती है और उतनी ही अधिक वह बैंगनी रङ्ग की छोटी लहरों के छोर की ओर झुकती जाती हैं।

यही वह कसौटी है जो हमें यह बतलाती है कि विश्व-ब्रह्माण्ड का कोई एक तारा हमारी ओर दौड़ा चला आ रहा है या वह हमसे दूर-दूर आगे की ओर भागा जा रहा है। इसे वर्णपट के लाल छोर की ओर का मुड़ाव या संक्षेप में लाल-मुड़ाव Red Shift कहते हैं। स्लीफर ने जिन नीहारिकाओं के प्रकाश की किरणों के वर्णपट लिए थे, उनकी रेखाओं को उसने वर्णपट के लाल रङ्ग के छोर की ओर ही मुड़ते देखा था। यह मुड़ाव बताते थे कि यह नीहारिकाएं हमसे दूर, आगे की ओर भागी जा रही हैं। उनके यों दूर भागने के वेग उस समय ११२५ मील प्रति सेकन्ड तक कूते गए थे!

सन् १६२४ ई० में एडविन हब्बल Edwin Hubble ने अपने आकाशीय अध्ययन के सिलसिले में, माउन्ट विल्सन

वेधशाला की १०० इञ्च व्यास की दूरबीन से लिए गये फोटो-चित्र जब प्रकाशित किए तो नक्षत्र-विज्ञान के जगत् में एक नये ही युग का आरम्भ हुआ। इसके पहिले वैज्ञानिकों का यही मत था कि दूर अनन्त में प्रकाश के विथड़ों से दिख पडनेवाली नीहारिकाएं गैसों और धूल के बादल ही थी और यह बादल सृष्टि-रचना के आरम्भ मे ही पैदा हुए थे। हब्बल के फोटो-चित्रों ने यह सिद्ध कर दिया कि बात यह नहीं है; वास्तव में यह नीहारिकाएँ तारों के बहुत बड़े-बड़े जमाव हैं, ठीक वैसे ही जैसा कि हमारा "दुधैला मार्ग" या आकाश-गंगा। उसने इन नीहारिकाओं का काफी गहरा अध्ययन किया।

पहिले तो उसने सिर्फ नीहारिकाओं के गुच्छकों की जांच की; क्योंकि यह जानना अत्यन्त आवश्यक था कि मुड़ावों की राशियों और उन नीहारिकाओं की दूरियों में कोई एक सुयोजित सम्बन्ध है या नहीं। जैसा कि हम पहिले स्पष्ट कर आये हैं (दशवें परिच्छेद में), एक विचारपूर्ण मान्यता के आधार पर इन नीहारिका-गुच्छकों की परस्पर सापेक्ष दूरिएँ जान ली गई। कुछ गुच्छकों की दूरियें तो बहुत ही बड़ी थीं। इसलिए सोचा गया कि इनके वर्णपटों की रेखाओं के "लाल छोर" की ओर के झुकावों या मुड़ावों की राशियों और उन नीहारिकाओं की दूरियों में यदि कोई ऐसा सुयोजित सम्बन्ध हो तो उनकी यह दूरियां अवश्य ही उस सम्बन्ध को, थोड़े-बहुत अनिश्चित या बिल्कुल निश्चित रूप में, झलकावेंगी।

हब्बल ने जहाँ इन नीहारिकाओं और इनके गुच्छकों की दूरिएँ आँकी, वहाँ उसने यह भी पता लगाया कि अनन्त में वह किस प्रकार बिछी हुई हैं। उसने एक और भी महत्वपूर्ण काम किया; उसने इनकी गतियों का भी विश्लेषण किया। उसीने पहिले-पहल यह पता लगाया कि इन गतियों का एक अनोखा पहलू यह है कि यह गतियाँ बेतरतीब-सी नहीं मालूम होतीं, जैसी कि गैसों में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकनेवाले द्वयणुकों की गतियाँ होती हैं; अपितु इनमें एक ऊँचे दर्जे की सुव्यवस्था और सुघड़पन है।

हब्बल के इन अध्ययनों ने ही वर्णपटों के लाल छोर की ओर के मुड़ावों या झुकावों की यह कसौटी खोज निकाली। मजे की बात तो यह कि सबसे पहिला जो "लाल-मुड़ाव" Red shift पकड़ा गया था, वह बड़े गुच्छकों में से एक गुच्छक का ही था। इस मुड़ाव की मात्रा उस गुच्छक के २४०० मील प्रति सेकन्ड वेग से दूर भागे जाने की कहानी कह रही थी। बहुत शीघ्र और भी अनेक छोटे और धुँधले नीहारिका-गुच्छकों के विषय में ऐसे ही परिणाम निकाल लिए गये। जब तक १०० इञ्च व्यास की दूरबीन अपनी सामर्थ्य की अन्तिम सीमा तक जा पहुँची थी, तब तक यह दूरबीन २६००० मील प्रति सेकन्ड दूर भागने के वेग को झलकानेवाले एक "लाल मुड़ाव" को पकड़ चुकी थी। वेग की यह राशि प्रकाश के वेग की सिर्फ ७वाँ भाग ही थी। "लाल-मुड़ाव" की इस कसौटी ने

हमें यह बता दिया कि प्रत्येक नीहारिका, अनन्त में जहाँ कहीं भी थी, हमारे सौर-परिवार से दूर-दूर आगे की ओर भागी चली जा रही-सी दिखती थी।

"लाल मुड़ाव" की राशि, जिसका वेग के रूप में भी उल्लेख किया जाता है, अपनी नीहारिका या तारा-गुच्छक की दूरी के सीधे समानुपातों में ही पाई गई है। सम्भवतः यह सबसे सरल सम्बन्ध है और सरल-से-सरल शब्दों में यों व्यक्त किया जाता है—गुच्छक जितना ही दूर होगा, "लाल-मुड़ाव" भी उतना ही बड़ा होगा। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं : किसी एक दूर भागनेवाली नीहारिका की हमसे दूरी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यो-त्यों उसकी अपनी गति का वेग भी बढ़ता जाता है।

हब्बल और उसके साथ काम करनेवाले मिल्टन एल. ह्यूमेसन Milton L. Humason ने आगे जाकर इस अनुपात को भी ढूँढ़ निकाला और सन् १९२९ ई० में इन दोनों विद्वानों ने मिलकर नक्षत्र-विज्ञान को अपना वह प्रसिद्ध समीकरण equation दिया जो सृष्टि-विज्ञान में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हो उठा। आज इसको "हब्बल-ह्यूमेसन-नियम" Hubble-Humason Law कहते हैं। यह समीकरण है—"व्ही. एम्.= ३८ आर. (V. M.=38 r.)। वैज्ञानिक संकेतों में "व्ही. एम्." का मतलब है, दूर भागनेवाली नीहारिका या तारा-गंगा का प्रति सेकन्ड मीलों में वेग; और "आर" का मतलब है उस

नीहारिका या तारा-गंगा की पृथ्वी से, १० लाख प्रकाश-वर्षों की ईकाई में, आज के दिन की दूरी। इस नियम के अनुसार पृथ्वी से १० करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर की कोई नीहारिका आज दिन (३८×१००) अर्थात् ३८०० मील प्रति सेकन्ड के वेग से हमारी पृथ्वी से दूर भागी जा रही होगी। १ अरब प्रकाश-वर्ष दूर की कोई नीहारिका (३८×१०००) अथवा ३८००० मील प्रति सेकण्ड के वेग से बाहर की ओर दूर भागती दिख पड़ेगी। यह वेग प्रकाश के वेग का करीब ८वां भाग होगा।

पांचवें परिच्छेद में, हमारी अपनी आकाश-गंगा के तारों के विषय में लिखते समय, हमने उनके प्रकाश के वर्णपटों में देखे गये रेखाओं के झुकावों या मुड़ावों का, बिना किसी हिचकिचाहट के, यही अर्थ लगाया था कि हमारी दृष्टि की सीधी रेखा में आगे की ओर होनेवाली उनकी गतियों के कारण ही यह झुकाव या मुड़ाव होते हैं। यह निष्कर्ष प्रत्येक बार सही और ठीक सिद्ध हुआ ; इसलिए उस अर्थ पर हमारा विश्वास भी बढता चला गया। परन्तु वहाँ एक बात जरूर थी; यह मुड़ाव परिमाण या मात्रा में छोटे होते थे और इस कारण वर्णपटों में उनको देख पाने के लिए एक सूक्ष्म दर्शक micros-cope की जरूरत पड़ जाती थी।

नीहारिकाओं के प्रकाश के वर्णपटों में देखे गये मुडावो की राशियां इनसे भिन्न होती है। इनको तो हम बड़ी आसानी से हमारी नंगी आंखों से भी देख सकते है। जो नीहारिकाएँ

अपने प्रकाश के वर्णपटों में बड़े मुड़ावों को दिखलाती हैं, वह अपने दिख पड़ने वाले आकारों में छोटी और धुँधली होती हैं। इनके वर्णपटों में जो शोषणरेखाएँ देखी गई हैं वह सिर्फ चूने की ही हैं। यह दो रेखाएँ हैं जिनको क्रम से "एच्-रेखा" और "के-रेखा" कहते हैं। यह दोनों ही रेखाएँ वर्णपटों के अत्यन्त घने बैंगनी रङ्ग के छोर की ओर ही देखी जाती हैं। वर्णपटों का यह भाग हमारी आँखों से बिल्कुल ओझल रहता है, यद्यपि हम आसानी से इनके फोटो-चित्र तो ले सकते हैं। युवकों की आँखें तेज होने के कारण वह सूर्य के प्रकाश के वर्णपट में दोनों ही "एच्" और "के" रेखाओं को अलग अलग देख सकते हैं, परन्तु अधेड़ अवस्था के या और भी अधिक उम्र के व्यक्ति इनको नहीं देख पाते।

सप्तर्षि तारा-मण्डल the great Bear में एक नीहारिका-गुच्छक है। उसकी नीहारिकाओं के वर्णपटों में यह दोनों ही रेखाएँ उन वर्णपटों के नीले और बैंगनी रङ्गों के भागों के ठीक बीच में मुड़ी हुई देखी जाती हैं। यह एक ऐसी बात है जो बिल्कुल अनोखी है ; रङ्ग का यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। जो रेखाएँ साधारणतया वर्णपट के हरे भागों में पाई जाती हैं उनको यदि हम इन वर्णपटों में अलग से देख पावें तो मालूम होगा कि वह उनके लाल रङ्ग के भागों में जा पहुँची है।

ज्यों-ज्यों अधिक वर्णपट प्राप्त किये गये और उनकी रेखाओं के मुड़ाव नापे गये यह स्पष्ट होता गया कि सभी जगह

एक ही नियम काम कर रहा है। ऊपर हमने एक नियम का वर्णन किया है; यदि कोई एक नीहारिका बहुत दूर है तो उसके प्रकाश के वर्णपट का मुड़ाव भी बड़ा है। यह तो हम कह ही चुके है कि "लाल-मुड़ाव" का अर्थ हम यही लगाते हैं कि किसी एक पिण्ड के प्रकाश के वर्णपट में कैलसियम या चूने की दोनों रेखाएँ चलते-चलते उस वर्णपट के लाल रङ्ग के छोर की ओर मुड़ गई हैं। यदि यह नियम नीहारिकाओं और नीहारिका-गुच्छकों की काफी बड़ी संख्याओं पर बार-बार सही उतरे तो निश्चय ही हम "लाल-मुड़ाव" को सभी नीहारिकाओं और गुच्छकों की दूरियों को नापने के एक माप-दण्ड के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

इस पुस्तक में हमने आकाश के पिण्डों कीं दूरियों को नापने के कई तरीकों का जिक्र किया है। उन तरीकों की तहों में जो नियम रहते हैं ठीक वैसा ही यह ऊपर का नियम भी है। एक बार जहाँ हम जानी हुई दूरियों के पिण्डों में एक ही रूप के कुछ पहलू पकड़ पावें तो उन्हीं पहलुओं को हम आगे चलकर उन पिण्डो पर भी लागू कर सकेंगे जिन की दूरियें जानी नहीं जा चुकी हैं। यह बात कहाँ तक सङ्गत और सत्य है, यह तो इसको सर्वत्र मिली सफलता और परिणामों के शुद्ध होने के कारण स्पष्ट ही है।

अनन्त के पिण्डों की दूरियें आँकने के जिन नये-नये और अधिकाधिक शक्तिशाली तरीकों पर हम धीरे-धीरे जिस क्रम से पहुँचते गये हैं उनकी ओर एक बार मुड़कर दृष्टि डालना बड़ा

ही रुचिकर है। हमने पहिले सूर्य और तारों के लम्बनों से आरम्भ किया था। आगे जाकर दूर "देश" में लम्बन जहाँ लड़खड़ाने लगे तो हमारे हाथ लगा वह सम्बन्ध जो सेफीड तारोंकी घट-बढों के समय के अन्तरों और उनकी दीप्तियों में है। इसने हमारा हाथ पकड़ कर एक ही झटके में हमें लम्बनों के संकीर्ण दायरे से बाहर निकाल लिया। प्राप्त परिणामों ने हमारे साहस को दाद दी। सेफीड तारों का यह सम्बन्ध भी जब आगे जाकर हार मान बैठा तो प्रकाश के वर्ण-पटों के "लाल-मुड़ावों" ने हमारी लाठी थामी और हमें आगे बढाये ले चले। दूरियें नापने की इन कसौटियों को हम जहाँ कहीं भी लगावें वह वहाँ लगी दूसरी कसौटियो से मेल खा जाती है और इनमें की प्रत्येक कसौटी दूसरी को सहारा और पुष्टि देती चलती है।

इस तरह, ऐसा मालूम होता है, जैसे कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड अपने वृत्त की परिधि पर, हमारे सभी ओर, दूर-दूर आगे फैलता चला जा रहा है। इसका यह मतलब तो हर्गिज़ नहीं है कि विश्व वैज्ञानिक घूम फिर कर फिर उसी पुरानी धारणा पर लौट आये हैं जिसके अनुसार हमारी पृथ्वी ही अखिल विश्व का केन्द्र थी। यह धारणा तो कब की मर चुकी, जैसा कि हम पहिले परिच्छेद में विस्तार के साथ लिख आये हैं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रकाश-किरणों के लाल छोर की ओर के मुड़ाव यदि दूर भागने की गतियों के ही सूचक हैं तो यह कहना कि यह सब करोड़ों और अरबों पिण्ड

हमसे दूर भागे चले जा रहे हैं, एक अर्ध-सत्य ही होगा। सत्य का दूसरा आधाभाग यह है कि उनमें के प्रत्येक पिण्ड से हम भी दूर भागे चले जा रहे हैं। इन दोनों ही अर्ध सत्यों को मिलाकर पूरा सत्य तो यह है कि हम सब एक दूसरे से दूर भागे चले जा रहे हैं—वास्तव में; दूर और अधिक दूर होते चले जा रहे हैं। पृथ्वी और सूर्य की तो बिसात ही क्या; हमारी आकाश-गंगा भी अब विश्व का केन्द्र नहीं रह पाई है। उन विशालकाय तारा-झुण्डों में यह सिर्फ एक झुण्ड ही है। यदि किसी भी एक नीहारिका का अपना कोई एक ग्रह हो और उस पर भी कहीं कोई एक बुद्धिशील दर्शक रहता हो तो वह भी ठीक वही बात, वही दृश्य, देखेगा जो हम आज हमारी पृथ्वी से देख रहे हैं। अनन्त के पिण्डों के प्रकाश के वह जो वर्णपट लेगा, (हमारी आकाश-गंगा के जमाव के वर्णपट भी जिनमें होंगे) उनमें प्रकाश किरणों के "लाल-मुड़ाव" उसको भी यही बतलावेंगे कि वह सब पिण्ड उसके अपने ग्रह से दूर भागे चले जा रहे हैं। ठीक हमारी तरह वह भी एक अर्ध-सत्य का ही प्रयोग करते हुए कहेगा कि सभी नीहारिकाएँ, जिनमें हमारी पृथ्वी को लिए हुए आकाश-गंगा भी होगी, उससे दूर-दूर आगे की ओर भागी जा रही हैं।

प्रायः ही ऐसा होता है कि अर्ध-सत्य आपस में टकरा जाते हैं और जब पूर्ण-सत्य उनकी जगह स्थापित कर दिए जाते हैं तब जाकर ही यह कशमकश खत्म हो पाती है।

विश्व के इस फैलाव या दूर-दूर आगे बढ़े जाने के दृश्य को समझ में बिठा पाने के लिए हम यह कल्पना कर सकते हैं मानो यह समूचा ही विश्व एक ऐसा गुब्बारा है, जिसकी ऊपरी सतह पर, जहाँ-तहाँ, कुछ छोटे-छोटे कागज के टुकड़े चिपकाए हुए हैं। इनमें का प्रत्येक टुकड़ा एक-एक आकाश-गंगा या नीहारिका है। यदि इस गुब्बारे को हवा भरकर फुलाया जाय तो स्पष्ट ही यह टुकड़े अपनी-अपनी जगहों पर जमे हुए ही, एक-दूसरे से दूर होते चले जावेंगे।

और भी एक कल्पना कर सकते हैं। मान लीजिए कि यह विश्व एक विशाल-काय बादल है। यह बादल अत्यन्त बारीक और पतली गैस का बना हुआ है। इस गैस का प्रत्येक द्व्यणुक Molecule (अणुओं का एक जोड़ा) एक-एक आकाश-गंगा है। यदि यह बादल समूचा, एक ही साथ, समान रूप से फैलने लगे तो इसमें का प्रत्येक द्व्यणुक, कुछ समय बाद, दूसरे प्रत्येक द्व्यणुक से अपनी दूरी को दुगुनी कर लेगा।

इन "लाल-मुडावों" के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जा रहा है, उसको लेकर कुछ सन्देहशील वैज्ञानिकों ने एक विवाद खड़ा तो जरूर किया था। वह कहते थे कि और भी कुछ ऐसी बातें हैं, जो अनन्त के उन ज्योति-पिण्डों को लाल रङ्ग में रङ्ग देती है और इस कारण स्वभावतः ही उनकी प्रकाश किरणें उनके वर्णपटों के लाल छोरों की ओर देखी जा सकती हैं। परन्तु उन वैज्ञानिकों द्वारा उठाई गई इन शङ्काओं को एक-एक

कर गलत सिद्ध कर दिया गया है ; और आज तो यही एक सर्वसम्मत मत अपना लिया गया है कि आकाश-गङ्गाओं अथवा नीहारिकाओं का दूर-दूर आगे की ओर भागना महज़ एक दृष्टि-भ्रम न होकर एक विश्व-सत्य है ; एक वास्तविकता है। विश्व-ब्रह्माण्ड का यह एक ऐसा बर्ताव है जो हमें एक ही साथ भय और विस्मय में डाल देता है।

आकाश-गङ्गाओं के इस प्रकार एक-दूसरी से दूर-दूर भागते रहने के इस तथ्य की पुष्टि में दो अमेरिकन वैज्ञानिकों ने एक प्रमाण और भी जुटा दिया है। यह वैज्ञानिक हैं डाक्टर एडवर्ड लिली (Dr. Edward Lilly) और मि० एडवर्ड मेक्लैन (Mr. Edward Meclain) जो दोनों ही वाशिङ्गटन नैवल रीसर्च लेबोरेटरी से सम्बद्ध हैं। तारों की दो नीहारिकाओं अथवा आकाश-गङ्गाओं के एक भीषण संघर्ष के सूचक कुछ रेडियो-संकेतों (Radio signals) को उन्होंने अभी हाल में, १० जनवरी सन् १९५६ ई० के दिन, पकड़ा है। इन दोनों वैज्ञानिकों का कहना है कि यह संकेत भी ठीक वैसा ही 'लाल-मुड़ाव' दिखलाते है जैसा कि सुदूर अनन्त के ज्योतिपिण्डों (तारों) से आती हुई प्रकाश-रश्मियाँ दिखलाती हैं। उनके अपने शब्दों में ; "......This was fresh evidence that the universe was expanding" अर्थात् यह एक ताजा प्रमाण है जो यह सिद्ध करता है कि विश्व आगे की ओर र-दूर बढ़ा जा रहा है।

आकाश-गङ्गाओं की आबादी का यह आगे की ओर होने-वाला बढ़ाव न केवल समझने में ही कठिन और दुरूह है, अपितु इसने सृष्टि-विज्ञान (Cosmology) के सामने कुछ अत्यन्त जटिल प्रश्न भी ला खड़े किये हैं। इनमें सब से अधिक प्रमुख प्रश्न यह है कि यदि बात कुछ ऐसी ही है तो निश्चय ही वह नीहारिकाएँ अथवा आकाश-गंगाएँ आज दिन अपनी उस जगह पर तो कदापि न होंगी, जहाँ वह हमें आज दिखाई पड़ रही हैं। हम उनको आज जो देख पा रहे हैं, वह उनके केवल उस प्रकाश के साधन पर ही, जिसे उन्होने आज से बहुत-बहुत पहिले ही हमारी ओर आने को भेजा था। प्रकाश की अपनी गति तो आखिर प्रति सेकन्ड १८६,००० मील के वेग पर ही है। अपने मूल-स्रोत से चलकर हम तक पहुँचने में इस दूत को एक कल्पनातीत दूरी पार करनी होती है। इस दूरी को पार करने में उसे लाखों वर्ष लग जाते हैं। निश्चय ही, उस प्रकाश को हमारी ओर भेजकर वह नीहारिका अपनी उस समय की जगह पर जमकर तो बैठी नहीं रही। बीच की इस कालावधि में वह तो दूर और बहुत दूर, आगे की ओर, बढ चुकी होगी।

यह प्रश्न बहुत सङ्गत है और इसका उत्तर भी हाँ में दिया जाता है। सच है; वह नीहारिका आज अपनी उस पुरानी जगह पर तो नहीं है, जहाँ रहकर उसने अपने उस दूत (प्रकाश) को हमारी ओर भेजा था जो आज इतने वर्षों बाद हमारे पास

पहुँच पाया है। बात कुछ टेढ़ी है, इसलिए इसे सरल और सुबोध बनाने के लिए हम चित्र ३३ दे रहे हैं।

इस चित्र में; केन्द्र में एक गेंद के रूप में हमारे "स्थानीय-नीहारिका-दल" Local group of Galaxies (परिच्छेद ६ में वर्णित) को दिखलाया है। उसके आगे चारों ओर जो गेंदें दिखलाई गई हैं, वह करोड़ों नीहारिकाओं या आकाश-गंगाओं का प्रतिरूपण करती हैं। यह गेंदें एक दूसरी से और इस कारण केन्द्र की गेंद (हमारे "स्थानीय-दल" से) दूर-दूर आगे लुढ़कती दिखलाई गई हैं—जिन पर १ और २ के अङ्क हैं। अङ्क १ की गेंद उस स्थिति को बतलाती है जहाँ होते हुए इसने उस प्रकाश को भेजा था जिसे हम अब देख पा रहे हैं। बाहर की ओर आगे की अङ्क २ की गेंद उसकी वह स्थिति है जहाँ वह वास्तव में अब है। यह गेंद (नीहारिका) इतने तीव्र वेग से भाग रही है कि इसका प्रकाश इसके चेहरे (आगे के भाग) पर छोटी नीली लहरों की एक झुरमुट बना लेता है और पीछे के भाग में (जो हमारी ओर रहता है) लम्बी लाल लहरों के रूप में पूँछ-सी बना लेता है। प्रकाश की इस पूँछ की ललाई पर ही उस दूर भागने वाली नीहारिका का गति-वेग आँका जाता है।

चलते-चलते, इस प्रसङ्ग में, एक बात और भी कह देने की है, और वह यह कि यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि किसी एक नीहारिका की आकृति भी आज ठीक वही तो नहीं हो सकती जो आज हमें दिखाई पड़ रही है। नीहारिका "एम्

रेखा-चित्र ३३

हमें दिख पड़ने वाला विश्व बाहर की ओर सब तरफ, आगे और अधिक आगे, बढ़ता जा रहा है। इस चित्र की कल्पना का आधार यह विश्व-तथ्य ही है। चित्र के केन्द्र में गहरे सफेद रङ्ग का गोला 'स्थानीय-दल' (local group) (पृष्ठ २३७) की नीहारिकाओं का द्योतक है। प्रत्येक सफेद गेंदें उन लाखों नीहारिकाओं की द्योतक हैं जो हमारे 'स्थानीय दल' से और स्वयं एक दूसरी से दूर दूर भागी जा रही हैं। (पृष्ठ ३१८)

३१" हमारी दृष्टि की सीधी रेखा पर बहुत ही झुकी हुई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जिस प्रकाश के साधन के बल पर हम उसके दूसरी ओर के (हमारी अपेक्षा) किनारे को देखते हैं, वह प्रकाश हमारी ओर के उसके किनारे को दिखलाने वाले प्रकाश से ४०,००० (उसका अपना व्यास diameter इतना ही है) वर्षों पहिले ही चल चुका था। क्योंकि यह नीहारिका अपने चारों ओर भी घूम रही है, इसलिये यह बात तो स्पष्ट ही है कि जब वह पहिला प्रकाश उसके हमारी ओर के किनारे तक पहुंचा, तब तक उसका वह आगे का किनारा जिसने उस पहिले प्रकाश को भेजा था, स्वयं भी कुछ घूम चुका था। इस बात को दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते है कि किसी भी एक क्षण, जब हम इस समूची नीहारिका को देखते हैं, उसका आगे की ओर का किनारा हमारी ओर के उसके किनारे से उम्र में ४०,००० वर्ष पुराना है। इसलिए अवश्य ही उस क्षण वह नीहारिका अपना एक विकृत रूप ही हमें दिखलाती है। बात यह बिल्कुल सत्य है; हां, इस विकृति की मात्रा को हम नहीं जान पाये हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि अनन्त के पेट में हम जितनी ही दूर बैठते जावेंगे, उतना ही ज्यादा वहां वैषम्य भी पाते जावेंगे। जो नीहारिका आज हमसे ५० करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर देखी जाती है, वह हमें अपना आज का रूप न दिखला कर ५० करोड़ वर्ष पुराना रूप ही दिखला रही है। इसी प्रकार आज हम

उसे जहाँ मौजूद देखते हैं, वहाँ तो वह आज से ५० करोड़ वर्ष पहिले थी। यदि वह सचमुच, हमसे दूर ही भाग रही है तो आज दिन अपनी दिख पड़नेवाली जगह से बहुत-बहुत आगे निकल चुकी होती है। हम यह भी नहीं जान सकते कि आज वह अपने मूर्त रूप में जीवित भी है या मर चुकी। यदि वह आज मर कर नष्ट भी हो जाय, तो भी उसका भूत हमें आगे के ५० करोड़ वर्षों तक दिखाई पड़ता रहेगा।

इसी प्रकार जैसे-जैसे हम अधिक ऊँची दूरियों की ओर बढ़ते चलेंगे, यह वैषम्य भी उतना ही बढ़ता जायगा। विश्व के दूर के पिण्डों के लिए जो "भूतकाल," या बहुत पहिले बीत चुका समय है, हमारे लिए वही "वर्तमान काल" बन जाता है। सच तो यह है कि विश्व-ब्रह्माण्ड में बाहर की ओर दूर-दूर, देखने का मतलब ही है, भूतकाल में झाँकना ?

इस प्रकार चलते-चलते बात का सिलसिला अब वहाँ आ पहुँचा है जहाँ "देश" Space और "काल" Time मिल जुल कर एक हो जाते हैं। वास्तव में, विश्व के रूप की किसी भी कल्पना में हम देश और काल को अलग करके नहीं देख सकते। इसी कारण आज हम सृष्टि-विज्ञान के पण्डितों को "देश-काल का घिराव या चौखटा" Space-Time Continuum के विषय में चर्चा करते सुनने लगे हैं।

"लाल मुड़ाव" की बात या खोज जहाँ स्वयं अपने आप में हमारे लिए अनोखी, नयी और उलझनपूर्ण है वहाँ उसने अपनी

जैसी ही अनोखी और नयी इस "देश काल के चौखटा" की बात को भी जन्म दिया है। यह बात आइन्स्टीन के 'सापेक्षवाद' का एक प्रमुख पहलू है। उस 'वाद' का विवेचन करते समय हम इस पर पूरा प्रकाश डालेंगे।

अब हम यह समझ सकते हैं कि सृष्टि-विज्ञान के पण्डित, इस विश्व की चर्चा करते समय, "यहां" और "अब" इन शब्दों का प्रयोग करने में क्यों इतने हिचकिचाते हैं। हमारे किसी भी शहर–दिल्ली, कलकत्ता, और बम्बई—की भौगोलिक स्थिति बतलाते समय हम, दृढ़ निश्चय के साथ, यह कह सकते हैं कि वह अमुक शहर अमुक अक्षांश और देशान्तर रेखाओं पर है और इस आधार पर कोई भी दूसरा व्यक्ति एक मानचित्र map में उसकी सही स्थिति जान सकता है। हमारी पृथ्वी की उसकी भ्रमण-कक्षा पर किसी भी दिन की स्थिति को भी हम इतने ही निश्चय के साथ ठीक बतला सकते हैं। परन्तु जब हम दूर और अधिक दूर के आकाशीय पिण्डों की स्थितियां बतलाने का प्रयास करते हैं, हमारे सामने अनेक उलझनें आखड़ी होती हैं।

सच तो यह है कि प्रत्येक पिण्ड की 'अनन्त देश' space में दो-दो स्थितियां होती हैं : (१) जहां हम उसे आज देखते हैं और (२) जहां वह आज वास्तव में है। हमारे सबसे पास के तारे आल्फा सेन्टौरी Alpha Centauri को ही लीजिये। उसके विषय में हम दृढ़ विश्वास के साथ यह तो कभी नहीं कह

सकते कि जिस रूप में और जहाँ उसे हम आज और अब देखते हैं, वह उसका शुद्ध वास्तविक रूप और स्थिति है। हम तक पहुँचने में उसका प्रकाश चार वर्षों से कुछ अधिक समय ही लेता है; इसलिये आज हम उसके जिस रूप और स्थितिको देख पा रहे हैं वह, वास्तव में, चार वर्ष पहिले का उसका रूप और स्थिति है। यही नहीं; हम निश्चय पूर्वक यह भी नहीं बतला सकेंगे कि वह तारा आज मौजूद भी है या नष्ट हो चुका। इस बात को तो हम आज के लगभग चार वर्ष बाद ही जान पावेंगे।

यह बात और भी अधिक जटिल और दुरूह हो उठती है जब हम दूर भागती हुई नीहारिकाओं अथवा आकाश-गंगाओं की चर्चा पर उतर आते हैं, न केवल इसी कारण कि हमसे उनकी दूरियाँ उतनी बड़ी हैं; अपितु दूर भागने के उनके वेग भी उतने ही उलझन भरे हैं।

अब, यदि हम यह मान लें कि जिन आकाश-गंगाओं को हम देख रहे हैं वह अरबों और खरबों वर्षों से उन्हीं सापेक्ष दिशाओं में और उन्हीं सापेक्ष वेगों से एक दूसरी से दूर-दूर बाहर की ओर दौड़ी चली जा रही हैं तो हम स्पष्टतः इसी एक निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन सबने एक ही जगह से और एक ही समय यों भागना शुरू किया था। सीधे से शब्दों में इसका यही मतलब हुआ कि इन आकाश-गङ्गाओं की इस दौड़ की शुरुआत का समय ही इस समूचे विश्व की उत्पत्ति का समय

है। ठीक उस समय को ही हम विश्व का उद्भव-काल कहते हैं। इस उद्भव काल को लेकर वैज्ञानिकों ने विशुद्ध वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर, अनेक कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। आगे चलकर एक परिच्छेद में हम इन कल्पनाओं का पूरा विवरण देंगे।

"लाल-मुड़ाव" (the Red Shift) ने विश्व के जिस मौलिक रहस्य को खोलकर हमारे सामने रख दिया है, उस पर हम प्रकाश डाल चुके। यह हमारा सौभाग्य ही था कि "लाल मुड़ाव" हमारे हाथों में आ पड़ा; नहीं तो लाख सिर पटकने पर भी अनन्त के पेट में गड़े हुए इस भेद को हम नहीं जान पाते और विश्व के विषय में हमारा ज्ञान अधूरा, अधकचरा और भ्रामक ही बना रहता। दूर-दूर, आगे की ओर, फैलते या बढ़ते हुए विश्व की कल्पना इतनी दुरूह है कि समझ में आना ही नहीं चाहती।

यहाँ हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यह फैलाव विश्व के समूचे आकार-विस्तार का ही है; विश्व के सभी ठोस पिण्डों (ग्रहों और तारों) के अपने व्यक्तिगत आकारों में ऐसा कोई फैलाव नहीं होता। इस बात का हमें प्रत्यक्ष अनुभव भी है। हम देखते हैं कि हमारी पृथ्वी तो फैल नहीं रही है। यदि यह भी यों फैलती होती तो वृत्ताकार बनी रहते हुए इसका अर्धव्यास (जो वास्तव में इसकी वक्रता का अर्ध-व्यास ही है) लगातार बढ़ता ही जाता; और ठीक इसके अनुरूप पृथ्वी की सतह पर के सब स्थान भी एक दूसरे से दूर, और अधिक दूर,

होते जाते। भारत की राजधानी दिल्ली में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति, उस अवस्था में, यही कहता कि दुनियाँ के सभी नगर, कस्बे और गाँव दिल्ली शहर से लगातार दूर होते चले जा रहे हैं। जो स्थान दिल्ली शहर से अधिक दूर होते वह, उस शहर के पास के स्थानों की अपेक्षा, अधिक शीघ्र गति से दूर होते चलते। लन्दन शहर का निवासी कहता कि दुनियाँ के सभी नगर और कस्बे, उसके अपने शहर लन्दन से, लगातार दूर होते चले जा रहे हैं। इस प्रकार, दुनियाँ के प्रत्येक स्थान का निवासी, अपने स्थान को लेकर, बिलकुल ऐसी ही बातें कहता।

विश्व यदि इस अर्थ में, जिसके स्पष्टीकरण की ऊपर चेष्टाएँ की गई हैं, सचमुच फैल ही रहा हो तो हम नहीं कह सकते कि इसका यथार्थ विस्तार कितना है; क्योंकि यह विस्तार तो लगातार बढ़ ही रहा है।

इस प्रसङ्ग को समाप्त करने के पहिले हम एक दिलचस्प तुलना का जिक्र कर देना चाहते हैं। "लाल मुड़ाव" को पकड़ने में जिस वर्णपट-दर्शक यन्त्र को हम काम में लेते हैं उसकी तुलना 'रडार' (Radar) के एक ग्राहक-यन्त्र से कर सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में शत्रुओं के बम-वर्षक हवाई जहाजों को दूर रहते ही देख पाने और फिर उचित प्रतीकार करने के लिए ही इस यन्त्र का आविष्कार और उपयोग किया गया था। "रडार किरणों" द्वारा पकड़ कर लाया गया शत्रु के हवाई जहाज का बिम्ब (blip) जब उस यन्त्र के ग्राहक-पर्दे पर

पड़ता है तो यन्त्र-चालक तुरन्त जान जाता है कि पर्दे पर अङ्कित 'शून्य' बिन्दु और उस बिन्दु, जहाँ वह पड़ रहा है, के बीच की दूरी उस यन्त्र के ग्राहक-दण्ड (receiving aerial) और उस हवाई जहाज की दूरी के ठीक समानुपात में है। गणित की एक सीधी-सी प्रक्रिया द्वारा वह चालक तब उस समानुपात की राशि को मीलों में बदल कर तुरन्त जान लेता है कि वह जहाज उससे कितना दूर है।

ऐसा करने में उस यन्त्र-चालक को विद्युत्-शास्त्र की अथवा विद्युत्-चुम्बकीय किरणों के गुणों की कोई विशेष जानकारी होना आवश्यक नहीं है ; उस चालक के दृष्टिकोण से वह असम्बद्ध से हैं। ठीक इसी तरह यदि खगोल-वैज्ञानिक भी आकाश-गङ्गाओ की केवल दूरियाँ जानने में ही रुचि रखते होते तो वह भी अपने वर्णपट-दर्शक यन्त्र को उतनी ही लापरवाही के साथ देखते जैसे कि रडार-यन्त्र के चालक उस यन्त्र में लगे हुए "कैथोड किरण ट्यूब" के पर्दे को देखते हैं। उनका काम तब केवल यही होता कि वह वर्णपट के लाल छोर की ओर होनेवाले प्रकाश-किरणों के मुड़ावों को नाप भर लें और उनपर हिसाब लगाकर उस प्रकाश को भेजनेवाले ज्योति-पिण्ड की दूरी जान लें। परन्तु इन वैज्ञानिकों को तो मानो एक सनक रहती है ; विश्व की रचना के किसी भी अङ्ग या विषय को वह अछूता छोड़ना नहीं चाहते। उनको तो सनक चढ़ी रहती है कि यह सब विषय उनके सामने आकर अपनी वेष-भूषाओं को

उतार फेंके और अपने विशुद्ध नंगे रूप में खड़े हो जांय। वह यह जानना चाहते हैं कि इन मुड़ावों के होने के क्या कारण हैं और उनके महत्व क्या हैं। यदि यह मुड़ाव हमारी दृष्टि की सीधी रेखा पर ही दूर आगे की ओर होनेवाली गतियों के कारण होते हैं तो वह (वैज्ञानिक) यह जानना चाहते हैं कि इन गतियों के मूल-स्रोत कहाँ हैं—उनकी इन गतियों का आरम्भ क्यों और कैसे हुआ। उनके यह प्रश्न विश्व के उद्भव से संबंधित हैं और जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, आगे एक परिच्छेद में उन पर प्रकाश डालेंगे।

तेरहवाँ परिच्छेद

विश्व का ओर-छोर : है या नहीं ?

छान्दोग्य-उपनिषद् के एक ऋषि ने ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा था : "खं ब्रह्म" ; यह शून्य (अनन्त आकाश) ही ब्रह्म है। अपने सामने चारों ओर फैले हुए, आकाश के विषय में मनुष्य की सदा यही धारणा रही है कि इसका कहीं कोई अन्त नहीं, इसकी कोई अन्तिम सीमा-रेखाएँ नहीं ; यह अनन्त है।

आज भी हम यही सोचते हैं कि हमारी पृथ्वी, अपनी पीठ पर हम सब को लादे हुए, अनन्त आकाश में आगे की ओर एक सीधे परन्तु कभी खत्म न होनेवाले मार्ग पर दौड़ी चली जा रही है। उसको इस मार्ग पर दौड़ते हुए अरबों वर्ष तो बीत चुके हैं, मार्ग तो खत्म होता दिखता नहीं। क्या इस प्रकार दौड़ते भागते ही रहना होगा ? यदि हां, तो कब तक ? इस विश्व का कहीं कोई ओर-छोर है भी या नहीं, जहां जाकर यह पृथ्वी विश्राम ले सके ? यदि विश्व का कोई ऐसा ओर-छोर है, तो उसके और आगे क्या है ? इन प्रश्नो ने हमें एक अजब परेशानी और उलझन में डाल दिया है। एक असीम और अपरिच्छिन्न वस्तु को ग्रहण कर पाने, समझ पाने में हमारे मस्तिष्क समर्थ नहीं हैं।

एक समय था, जब हमारे आकाश में लहरें मारती हुई आकाश-गंगा के विस्तार की बाबत हम ज्यादा कुछ नहीं जानते थे। उस समय हमारे लिए यही सोचना सम्भव और स्वाभाविक था कि चाहे जिस दिशा में और चाहे जितनी दूर हम चले जायँ, अपने आपको तारों से घिरे हुए ही पावेंगे। इस मान्यता के विरुद्ध यह तर्क पेश तो अवश्य किया जाता था कि यदि आकाश की कोई सीमा-रेखाएँ नहीं है और वह अपरिछिन्न ही है और यदि तारे भी असंख्य है और कहीं जाकर भी उनकी समाप्ति नहीं होती है, तो उन तारों के बीच बीचमें जो काले अन्धकारपूर्ण स्थान देखे जाते है वह न दिखाई

पड़ते। उस अवस्था में तो यह समूचा ही आकाश, अपने सम्पूर्ण रूप में, प्रकाश से दिपता होता। आज हम यह जान गये हैं कि हमारी आकाश-गंगा के तारों की एक निश्चित संख्या है, और यह भी कि यदि हम प्रकाश की चाल के वेग से (एक सेकन्ड में १८६,००० मील के वेग से) ऊपर की ओर बढ़ते चले जायँ तो कुछ ही हजार वर्षों में तारों के इस झुण्ड (आकाश गंगा) से आगे निकल जायँगे। रात के आकाश में तारों के बीच दिख पड़ने वाले अन्धकार-क्षेत्रों की एक बार तो हम यों विवेचना कर सकते हैं।

परन्तु, विश्व-ब्रह्माण्ड में अकेली हमारी आकाश-गंगा ही तो नहीं है। दूर-दूर, और भी दूर, आगे न मालूम कितनी ऐसी आकाश-गंगाएँ भरी पड़ी हैं। आख़िर वह सब तारों की ही तो बनी हुई हैं—तारों की महज़ एक-एक झुण्ड हैं। इस कारण वह सब प्रकाशमान हैं और अपने चारों ओर ही अपना प्रकाश बिखेर भी रही हैं। इस तरह के करोड़ों ही तारा-पुञ्ज विश्व में विद्यमान हैं और हमारी बड़ी से बड़ी दूरबीन भी इन तारा-पुञ्जों के विशाल समूहों का कोई अन्त नहीं देख पाई है। इतना सब होने पर भी रात के समय आकाश में अन्धकार तो बना ही रहता है। प्रश्न यह है कि, यदि नीहारिकाएँ (तारा-पुञ्ज) इस विश्व में आगे, और आगे, इसी प्रकार बिखरी हों तो क्यों नहीं हम समूचे आकाश को बराबर प्रकाशित ही देख पाते? फिर यह अन्धकार क्यों?

इस प्रश्न का एक जँचता-सा उत्तर दिया तो जाता है। इस उत्तर का मूल आधार वह धारणा ही है कि प्रकाश-किरणों के लाल-छोर की ओर के मुड़ाव redshifts सचमुच उन पिण्डों के दूर भागने की गतियों के सूचक ही हैं। हमसे ५० करोड़ प्रकाश-वर्षों की दूरी पर जाकर तो वह पिण्ड दूर भागने की अपनी चालों को इतनी तेज कर लेते हैं कि वह प्रकाश की चाल के एक तिहाई तक जा पहुँचती हैं। किसी एक पिण्ड की हमसे दूरी और उसके आगे भागने के वेग में एक सीधा समानुपातिक सम्बन्व है जिसका जिक्र हम १० वें परिच्छेद में कर आये हैं। यदि यह सम्बन्ध सभी दूरियों पर एक समान लागू हो तो हमें मानना होगा कि आज हम जिन नीहारिकाओं को, माउन्ट पैलोमर दूरबीन की मदद से, हमसे २ अरब प्रकाश-वर्ष दूर देखते हैं (वास्तव में, आज हैं तो वह ३½ अरब प्रकाश-वर्ष दूर ; परिच्छेद १०) वह प्रकाश-वेग के दो तिहाई वेग से दौड़ रही हैं। यदि माउन्ट पैलोमर की दूरबीन से भी बड़ी एक दूरबीन और हो, और वह हमारी दृष्टि-शक्ति को बढ़ा कर हमें २॥ अरव प्रकाश-वर्षों दूर तक की नीहारिकाओं को दिखा सके (जो आज दिन, वास्तव में हमसे ५ अरब प्रकाश-वर्ष दूर होंगी) तो उस हालत में हमारी आँखें उन नीहारिकाओ या आकाश-गंगाओं को जा छूएँगी जिनके दौड़ने के वेग, हब्बल-ह्यूमेसन नियम के अनुसार, प्रकाश के वेग के बराबर होंगे। 'परन्तु, क्या हम उनको देख भी सकेंगे ? क्योंकि, यदि वह

नीहारिकाएँ प्रकाश के बराबर के वेग से बाहर की ओर, हम से दूर-दूर भाग रही हो तो न्यूटन के भौतिक नियमों के अनुसार, उनका प्रकाश पृथ्वी तक कभी पहुँच ही नहीं पायेगा। जब प्रकाश ही नहीं पहुँचेगा तो हम उनको देखेंगे भी तो किस बल पर, किस साधन के द्वारा ?

प्रकाश तो हमारी ओर वह तब भी भेजती रहेंगी, परन्तु उनका वह दूत हम तक कभी पहुँच न पावेगा। प्रकाश का अपना जो वेग है और जिस वेग से वह हमारी ओर दौड़ा चला आता है, वह नीहारिकाएँ भी उसी वेग से हमसे दूर-दूर भागी जा रही होती हैं; या यों भी कह सकते हैं कि हम ही उन नीहारिकाओं से दूर भागते होते हैं। चाहे अनन्तकाल तक वह प्रकाश हमारा पीछा करे, फिर भी हमें पकड़ न पावेगा; प्रकाश और हम—दोनों एक ही वेग से भाग जो रहे हैं। इस कारण यही निष्कर्ष निकलता है कि हमसे २॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर की एक नीहारिका या उसके भी और आगे यदि कोई नीहारिकाएँ हों तो वह भी, हमें कदापि दिखाई न पड़ेंगी। इस तरह यह तो स्पष्ट ही है कि हमारी दृष्टि की सामर्थ्य की एक निश्चित सीमा है और उस सीमा के और अधिक आगे की वस्तुओं को हम कभी नहीं देख पाते; चाहे हम कितनी ही बड़ी दूरबीनें क्यों न बना ले। उस सीमा से आगे बढ़ने की मानो इन दिव्य-चक्षुओं को सख्त मनाई है। उपनिषद् के शब्दों में, कुछ मामूली हेरफेर के साथ, हम कह सकते हैं; "यतो दृशः (मूल है "वाचः")

निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"—आँखें जहाँ तक आकर आगे और कुछ न पाकर, मन के साथ ही वापिस लौट आती है।

इस बात को हमें और भी गहरे जाकर देखना है। पीढ़ियों से हम यही मानते आ रहे हैं कि प्रकाश अपने मूल-स्रोत से चल कर एक निर्दिष्ट समय में जितनी दूरी तय कर लेता है, वह उस मूल-स्रोत से नापी गई दूरी ही है। यह बात बिल्कुल ठीक और सत्य होती अगर प्रकाश भी, बन्दूक से दागी हुई एक गोली की तरह ही, आचरण करता; परन्तु ऐसा वह करता नहीं है। चाहे जो हो; यह बात इतनी सीधी है भी नहीं, और न यह उतनी सीधी ही है जितनी कि एक सीटी से निकली हुई ध्वनि की लहरों का आचरण, जिनका विस्तृत वर्णन हम छठे परिच्छेद में कर आए हैं।

हम जानते हैं कि ध्वनि की तरंगें किस प्रकार चलती हैं। उनकी चालें अब एक रहस्य नहीं रह पाई हैं। सीटी को छोड़ कर ज्यों ही ध्वनि चल पड़ती है, त्यों ही वह हवा में एक तरह के लहर-कम्पन बनाती हुई फैल पड़ती है। इन कम्पनो के कारण हवा भी बार-बार दबती और कम घनी होती चलती है। यह लहर-कम्पन सिर्फ हवा से ही सम्बन्ध रखते हैं—और किसी से भी नहीं, यहाँ तक कि उस सीटी से भी नहीं। ध्वनि करने वाली सीटी भी यदि चल रही हो तो उसकी चाल के साथ कम्पनों की अपनी चाल का कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। इसी तरह इस ध्वनि को सुनने वाला कोई व्यक्ति भी अगर चल

रहा हो तो उसकी चाल से भी इन कम्पनों की चाल का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस तथ्य को व्यक्त करते हुए हम कहते हैं कि हवा को लेकर—हवा की सापेक्षता में—ध्वनि का वेग स्थिर है, अपरिवर्तन-शील है; अर्थात् उसमें कोई भी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, परिवर्तन नहीं होता।

प्रकाश भी एक तरह का लहर-कम्पन ही है। प्रकाश के लहर-कम्पन के रूप को लेकर यह तर्क किया गया कि यदि बात ऐसी ही है तो अवश्य उसका एक माध्यम भी है—कोई एक साधन जिसमें यह कम्पन होते हुए आगे बहते जाँय। इस माध्यम की कल्पना भी की गई। यह एक अनोखा माध्यम था; न तो यह दिख पड़ सकता था और न इसे छुआ ही जा सकता था। इसको "प्रकाश-वाहक ईथर" नाम दिया गया। वर्षों तक यह कल्पित ईथर मनुष्य की प्रकाश-सम्बन्धी विचार-धारा पर शासन करता रहा।

ईथर ने, अपने शासन-काल में "देश" (space) की एक ग़लत व्याख्या को काफी प्रश्रय दिया था। अनन्त शून्य को ही, समूचे रूप में, "देश" (space) कहते हैं। यह बात शुरू से ही एक स्वयं-सिद्ध के रूप में मान ली जाती थी कि "देश" एक स्थिर और अचल आधार है, जिस के प्रसङ्ग में किसी भी वस्तु की शुद्ध "परमार्थ" अथवा "निरपेक्ष" (absolute) स्थिति या गति को व्यक्त किया जा सकता है। भौतिक-विज्ञान के पण्डितों ने जब यह कहा कि "देश" में सर्वत्र ईथर, अलक्ष्य रूप

में, भरा हुआ है, तब तो अचल "देश" की मान्यता को और भी ज्यादा जोर मिल गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के एक गणितज्ञ क्लर्क मैक्स्वेल (Clerk Maxwell) ने, गणित के प्रयोगों के आधार पर, यह बता दिया था कि प्रकाश के गुणों की शुद्ध और सन्तोषजनक व्याख्या सिर्फ इसी एक मान्यता पर ही की जा सकती है कि कोई भी एक लहर-कम्पन, अपने वास्तविक और सच्चे रूप में, विद्युत्-चुम्बकीय है। विद्युत् और चुम्बक के जाने हुए गुणों को लेकर ही उसने यह बताया कि निश्चय ऐसा लहर-कम्पन है और यह भी कि विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त के कुछ "स्थिरों" (constants) के साथ उस लहर-कम्पन के वेग का एक निर्दिष्ट सम्बन्ध भी अवश्य है। इस प्रकार गणित-शास्त्र ने न केवल प्रकाश के प्रसार की क्रिया का सही स्पष्टीकरण ही किया अपितु, अपने प्रयोगों के एक आवश्यक निष्कर्ष के रूप में, उन विद्युत्-चुम्बकीय लहरों की उत्पत्ति की सम्भावना भी बता दी—उन लहरों की जिन्हें आज के वैज्ञानिकों ने आविष्कृत कर बेतार (wireless) अथवा रेडियो लहरों का नाम दिया है। क्लर्क मैक्स्वेल का यह काम बड़ा महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी था। इसने हर्ट्ज़, लोज़ और मार्कोनी जैसे अन्वेषकों को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का उत्साह दिया और उनको अपने अन्वेषणों के सही मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर दिया। हर्ट्ज़ ने, आगे बढ़ कर सर्वप्रथम एक विद्युत्-चिनगारी की लहरो ओर प्रसारों को

दूर से ही पकड़ा। अगर क्लर्क मैक्स्वेल अपने गणितीय प्रयोगों के द्वारा इस क्रिया की सम्भावना न बता गया होता तो हर्ट्ज के लिए इस क्रिया को कर पाना शायद ही सम्भव हो पाता। मार्कोनी को ही हम बेतार-लहरों का प्रथम आविष्कारक मानते हैं; हमें अपना सिर पीछे की ओर घुमाकर, जरा एक नज़र, जेम्स क्लर्क मैक्स्वेल को भी देख लेना चाहिए जिसने इन लहरों के सही रूपों को अपने गणितीय तुल्यकों अथवा समीकरणों equations में पहिले ही देख लिया था। किसी एक सिद्धान्त की पुष्टि में इससे और ज्यादा जोरदार प्रमाण हो ही नहीं सकते।

वायरलेस अथवा बेतार-तरङ्गें, प्रसरण-शीलताप, प्रकाश, पराकासनी किरणें, एक्सकिरणें, रेडियो धर्मी पदार्थों की किरणें और जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों को बर्बाद करने वाली अणु-बम की किरणें-यह सब, मूल रूप में, एक ही हैं; उस अर्थ में ही जिसमें कि किसी एक वाद्य-यन्त्र के सप्तकों से निकले स्वर एक ही हैं। उनमें परस्पर जो कुछ भी दिख पड़ने वाली भिन्नता है वह सिर्फ उनकी अपनी-अपनी फड़कनों frequencies की संख्या और लहर-लम्बाइयों की कम-बेसी के कारण ही है। इन सबका एक सामूहिक नाम "किरण-प्रसरण" radiation है। समूचा अनन्त या "देश" (space) इस किरण-प्रसरण से भरा हुआ है। सच कहा जाय तो यह भौतिक विश्व सिर्फ द्रव्य और किरण-प्रसरण का बना हुआ ही है।

हम ऊपर कह आये है कि ध्वनि की चाल का वेग, उसकी वाहक और माध्यम हवा की सापेक्षता में, हमेशा अपरिवर्तनशील या वही रहता है। अगर किरण-प्रसरण भी ईथर में एक लहर-कम्पन ही हो तो उसके प्रसार का वेग भी अपने वाहक और माध्यम ईथर की सापेक्षता में, हमेशा अपरिवर्तनशील ही होगा।

परन्तु यह बात इतनी सीधी नहीं। वेधों और परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि किरण-प्रसरण का वेग, उसके किसी भी दर्शक या देखने वाले व्यक्ति की सापेक्षता में तो अपरिवर्तनशील ही है। जो कुछ हो एक बात तो बिल्कुल निश्चित है ; किरण-प्रसरण का वेग उस वस्तु, जो उसे प्रसारित कर रही है (अपने स्रोत या जनक) की सापेक्षता में तो अपरिवर्तनशील नहीं है। अगर ऐसा होता तो द्विक्-तारों binary stars (परिच्छेद ६) के हमारे वेधों के परिणाम जो कुछ अब हैं उनसे बिल्कुल ही भिन्न होते।

यह तर्क कि, हमसे २॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर दिख पड़ने वाली (वास्तव में, आज है तो वह हमसे ५ अरब प्रकाश-वर्ष दूर) एक नीहारिका या आकाश-गंगा का प्रकाश हम तक कभी पहुँच ही न पायेगा, बिल्कुल गलत है। उतने वर्षों में (२॥ अरब वर्षों में) वह हम तक पहुँचेगा तो जरूर, परन्तु किस रूप में ? उस समय उस प्रकाश की फड़कन Frequency "शून्य' संख्या में होगी और उसकी लहर-लम्बाई भी होगी अपरिच्छिन्न,

असीम। उस रूप में तब वह किरण-प्रसरण न रह पावेगा। उसकी सहायता से न तो हम उस नीहारिका का एक फोटो-चित्र ही ले सकेंगे और न उसे देख ही सकेंगे। किसी और तरीके पर भी हम उसके अस्तित्व को न जान पावेंगे। वह नीहारिका हमसे हमेशा अदृश्य ही बनी रहेगी। यह तो वही बात हुई—हमारे लिए तो वह नीहारिका, तब, न होने के समान ही होगी।

छठे परिच्छेद में, डोपलर के सिद्धान्त को समझाते हुए, हमने किसी रेलवे-स्टेशन के प्लैटफार्म पर खड़े एक व्यक्ति के द्वारा सुनी गई रेलवे-एञ्जिज की सीटी की ध्वनि के घटाव और बढ़ाव का जिक्र किया था। ध्वनि की तेजी के घटाव और बढ़ाव को जानने के लिए हमने वहाँ ध्वनि की चाल के वेग के, हवा की सापेक्षता में, अपरिवर्तनशील होने की बात का सहारा लिया था। हमने तब यह मान लिया था, यद्यपि इस बात का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया था, कि वहाँ प्लैटफार्म पर हवा चल नहीं रही थी; क्योंकि हमें तो वहाँ यही समझाना था कि ध्वनि का वेग, सुनने वाले की सापेक्षता में अपरिवर्तनशील है। ठीक उसी प्रकार, प्रकाश किरणों के "लाल-मुड़ाव" को लेकर उस नीहारिका के हमसे दूर भागने की गति का वेग जानने के लिए हम यहाँ भी यही मान लेते हैं कि प्रकाश का वेग, उस नीहारिका की सापेक्षता में अपरिवर्तनशील न हो कर दर्शक की सापेक्षता में ही ऐसा है।

सन् १६०५ ई० के पहिले तो हम नि.संकोच यह कह सकते थे कि प्रकाश का वेग, अपने माध्यम ईथर की सापेक्षता में, अपरिवर्तनशील ही है। हम यह भी मान सकते थे कि ईथर-वायु बह नहीं रही है। परन्तु सन् १६०५ ई० में जर्मनी के तत्कालीन निवासी अल्बर्ट आइन्स्टीन ने "सापेक्षता के विशेष सिद्धान्त" पर कुछ पत्र प्रकाशित किए। आइन्स्टीन के इन सिद्धान्तों ने ईथर को राज्य-च्युत कर मानों उसे देश-निकाला ही दे दिया। आज तो हमारे पास अनेक सबल कारण जुट चुके हैं जिनसे हमारा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि विश्व में, अथच "देश" में, "ईथर" नामक कोई चीज है ही नहीं। इस बात को हम, अगले परिच्छेद में स्पष्ट समझावेंगे।

फिलहाल तो हमारे सामने यही प्रश्न है कि जो नीहारिका हमसे २॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर होगी, उसका क्या हाल होगा ? अब तक हम जिन मान्यताओं पर चलते आ रहे हैं, उनके बल पर तो इस प्रश्न का सिर्फ एक ही उत्तर दिया जा सकेगा और वह यह कि वह नीहारिका हमसे अदृश्य ही बनी रहेगी। यदि हम कोई और दूसरी मान्यता अपना लें, तो जैसा हम यहाँ आगे चलकर स्पष्ट करेंगे, उक्त उत्तर से भिन्न दूसरा एक उत्तर और भी हो सकेगा। पृथ्वी के गोले की परिधि २४००० मील मान कर हम कह सकते हैं कि रामेश्वरम् के शिव-मन्दिर से जो स्थान १२,००१ मील दूर है, वही स्थान उस मन्दिर की दूसरी ओर उससे ११,६६६ मील दूर भी है।

यहाँ आकर हमें यह महसूस हो रहा है, मानो हम अब गहरे पानी में घुसते जा रहे हैं। आइन्स्टीन का महज नाम लेने से ही इस बात का अंदेशा हो जाता है। परन्तु, आइन्स्टीन को हम टाल भी तो नहीं सकते। यदि हम इस विश्व के रूप को बुद्धिगम्य करने में कुछ प्रगति करनी चाहें, तो, देर अबेर, कभी न कभी तो हमें आइन्स्टीन से निबटना ही होगा। परन्तु उसको छेड़ने के पहिले, हम मौजूदा वर्णन की विषय उक्त २॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर की नीहारिका को लेकर छिड़ी हुई बातचीत को पूरी कर लेना चाहते हैं।

यदि फड़कनों और दूरियों का आपसी सम्बन्ध समूचे विश्व में सर्वत्र ठीक उतरे; यदि प्रकाश-क्रिरणों के "लाल-मुड़ाव" डोपलर के सिद्धान्त के अनुसार ही हों और पिण्डों के दूर-दूर भागने की वास्तविक गतियाँ ही उनके अर्थ हों; यदि अनन्त "देश" बिल्कुल सीधासपाट हो और उसमें आइन्स्टीन द्वारा सुझाई गई ऐंठनें twists or kinks न हों; तो निश्चय ही २॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर या उससे भी परे की कोई नीहारिका हमारी आँखों से हमेशा अदृश्य ही बनी रहेगी और एक अर्थ में तो यह भी कहा जा सकेगा कि उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जो वस्तु न तो एक भौतिक रूप में और न एक सिद्धान्त के रूप में दिख पड़े, हमारा आज का विज्ञान उससे कोई सरोकार ही नहीं रक्खेगा। हम यह तो मान सकते हैं कि हमारी आकाश-गंगा में रहनेवाले रुकावटी बादलों

के आगे, उस ओर, नीहारिकाएँ है क्योंकि तब हम यह कल्पना तो कर ही सकते है कि कभी न कभी वह बादल उनके आगे से हट जावेंगे और तब हम उन नीहारिकाओं को देख सकेंगे। परन्तु यह तो हम कभी नहीं मान सकेंगे कि प्रकाश के वेग ने हमारी दृष्टि-शक्ति की जो अन्तिम सीमा-रेखा खींच दी है, उसके आगे और भी नीहारिकाएँ हैं ; क्योंकि लाख सिर पटकने पर भी हम ऐसी किसी नीहारिका को अनन्त काल तक कभी भी नहीं देख पावेंगे। और जिसे हम देख ही नहीं सकते, हमारे लिये तो वह न होने के बराबर ही होगी। किसी भी हालत में हम यह कल्पना तो कर ही नहीं सकते कि प्रकाश का वेग अथवा उसके गुणों और धर्मों के परिणाम कभी उस रूप या रूपो से भिन्न भी हो सकेंगे जिस रूप में या जिन रूपों में वह विश्व में देखे जाते हैं। अब, तर्क के लिये यदि हम यही मान लें कि प्रकाश के "लाल मुडावों" का उक्त अर्थ गलत है और वह नीहारिकाएँ हमसे दूर-दूर न भागकर एक ही जगह स्थिर खड़ी है, तो उस हालत में भी बात वही होगी। २॥ अरब प्रकाश-वर्षों की सीमा पर प्रकाश-किरणों के मुडाव इतने बड़े हो उठेंगे कि वर्णपट ही स्वयं गायब हो जायगा—कोई वर्णपट बनेगा ही नहीं। उस हालत में प्राप्त किया जा सके, ऐसा कोई किरण-प्रसरण ही न रहेगा। उक्त दूरी पर, या उससे भी परे, जो नीहारिकाएँ होगी वह बिल्कुल अदृश्य रहेंगी। जैसा हम ऊपर भी कह चुके हैं, एक अथ में तो हमारे लिये वह न होने के

समान ही होंगी। प्रश्न को हम चाहे जैसे टटोलं, उत्तर एक ही होगा जो ऊपर दिया जा चुका है।

इस पिछली मान्यता को यदि हम सही मान लें तो उस नीहारिका को लेकर तो कोई गड़बड़ न होगी; इसके अनुसार भी वह हमसे ओझल ही रहेगी। परन्तु तब प्रश्न यह होगा कि प्रकाश-किरणो के लाल छोर की ओर देखे जाने वाले मुड़ाव यदि, इस मान्यता में, पिण्डों के दूर भागने की गति के कारण नहीं हैं तो उनका दूसरा कारण और कौन-सा है? इस कारण को खोजने के लिये हमें और गहरे उतर कर प्रकाश-किरणों के अणुओं पर नजर डालनी होगी। प्रकाश के वर्णपट spectrum के किसी एक विन्दु पर होने वाली उसकी (प्रकाश की) फड़कनें (मसलन्, कैल्सियमकी "के" रेखा) उन किरणो से सम्बन्धित अणुओं की ही स्वाभाविक फड़कने है—"के" रेखा में कैल्सियम के अणुओं की। यह स्वाभाविक फड़कनें स्वयं अणुओं के भीतर होने वाले अत्यन्त तेज कम्पन ही हैं। हम जानते हैं कि पृथ्वी पर तो यह भिन्न-भिन्न फड़कनें, निश्चित संख्याओं में बँधी हुई है। कुछ बातें, जैसे कि दबाव, उन पर असर तो डाल सकती हैं, परन्तु उन असरों की मान-राशि को जाना जा सकता है और उनका उचित जमा खर्च भी किया जा सकता है।

जो हो; एक बात तो जरूर है कि बहुत थोड़े समय से ही हमने इनको देखना और नापना शुरू किया है। इसलिये इस

बातकी सम्भावना से हम इन्कार नहीं कर सकते कि अणुओं की यह स्वाभाविक फड़कनें, समय बीतने के साथ-साथ, बदल भी सकती हैं। यदि विश्व-प्रकृति कुछ इस तरह की हो कि अणुओं की अन्तरङ्ग स्वाभाविक फड़कनें, समय के साथ-साथ, बढ़ती जायँ तो उन लाल-मुड़ावों का पूरा स्पष्टीकरण हो जायगा और जिस मात्रा में वह वृद्धि होगी उसकी नाप-तौल को जानने का साधन भी हम पा सकेंगे। बात बिल्कुल साफ है क्योंकि जिस प्रकाश की सहायता से हम आज उस नीहारिका को देख पाते है, वह तो वहाँ से (नीहारिका से) करीब २॥ अरब वर्ष पहिले चल पड़ा था और उस समय (थोड़ी देर के लिये हम माने लेते है कि) उस प्रकाश की फड़कनें जितनी आज है, उनसे तब कम ही थीं। उस नीहारिका के वर्णपट की कैल्सियम-रेखा के अणुओं के साथ, जो २॥ अरब बर्ष पुराने है, आज पृथ्वी पर पाये जाने वाले कैल्सियम-अणुओं की तुलना करते समय हमें यह न मान लेना चाहिये कि उन दोनों के गुण एक समान ही होंगे।

ऐसे विषयों का यथार्थ वर्णन करने में हमारी अपनी भाषा कितनी असमर्थ और पंगु है ? करोड़ों और अरबों वर्ष पहिले की एक घटना के लिये भी हम "है" इस वर्तमान क्रिया का ही प्रयोग करते हैं। यह तो ठीक है कि इस घटना की सूचना तो हमें आज ही मिल रही है और हमारे लिये तो यह वर्तमान काल की ही एक घटना है ; परन्तु, वास्तव में, इसे घटे हुए

करोड़ों और अरबों वर्ष बीत गये हैं। सुदूर का भूतकाल ही हमारे सामने वर्तमान-काल का चोगा पहन कर आ खड़ा हुआ है। परन्तु इन सब बातों से त्राण पाना भी तो मुश्किल है। यदि अनन्त "देश" के सुदूर भागों के निवासियों का वर्णन करना ही हो तो इस मार्ग के सिवा दूसरा कोई और मार्ग नजर भी नहीं आता। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दो में यही कहना पडता है ; "यदीदंस्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्" यदि स्वयं अर्थों (वस्तुओं या पिण्डों) की यही मर्जी हो, उन्हें यही पसन्द हो, तो हम वहाँ कौन ?

अणुओं के कम्पनो के दृष्टिकोण से देखने पर हमारी आलोच्य (२॥ अरब प्रकाश-वर्ष दूर की) नीहारिका के विषय में अब हमारा क्या मत रहा ? उस नीहारिका के अणु, आज से २॥ अरब वर्ष पहिले, एक "शून्य" फडकन से कम्पन कर रहे थे—इसका यह मतलब हुआ कि, सच पूछो तो, वह अणु तब कम्पन कर ही नहीं रहे थे। और जो अणु कम्पन नहीं करते, वह देखे भी नहीं जा सकते। इस तरह इस दृष्टिकोण से देखने पर भी बात ठीक वही हुई जो डोपलर के सिद्धान्त के अनुसार थी—वह नीहारिका और उससे आगे भी अगर कोई हो तो वह भी, हमारी आँखों से हमेशा अदृश्य ही बनी रहेगी। एक बात और भी है और वह यह कि, यह भी सन्देहास्पद ही है कि शून्य फड़कन के किसी अणु का, किसी भी अर्थ में, अस्तित्व है भी या नहीं। इस विश्व की सृष्टि के विषय में आज जो

वैज्ञानिक धारणा बना ली गई है, उस पर भी, शून्य फड़कन के एक अणु की बात, आगे बढ़कर प्रहार करेगी। यदि २॥ अरब वर्ष पहिले के अणुओंका अस्तित्व ही न हो तो हमारा यह कहना कहाँ तक बुद्धि-संगत होगा कि विश्व की रचना का प्रारम्भ इतने वर्षों पहिले ही हुआ था।

प्रकाश-किरणों के लाल-मुड़ावों की एक तीसरी कैफियत और भी दी जाती है। यहाँ, इस कैफियत में, यह मान लेना होता है कि अनन्त "देश" में विचरण करता हुआ किरण-प्रसरण (radiation) मार्ग में अपनी कुछ शक्ति खो बैठता है। ऐसा मानने का कोई आधार तो नहीं है कि वह यों अपनी शक्ति खोता ही है, परन्तु प्रकाश-किरणों के यह मुड़ाव इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनको लेकर दी गई प्रत्येक सम्भव कैफियत पर हमें विचार करना ही होगा। उसपर विचार करने पर कुछ अन्य प्रश्न भले ही खड़े हो जांय। किरण-प्रसरण के गुण ऐसे हैं कि हमें बाध्य होकर पहिले से ही यह मान लेना पड़ता है कि द्रव्य की तरह वह भी विकरण-शील और अणु-आत्मक है। किरण-प्रसरण के एक अणु को कणिका या कान्त (a quantum) कहते है; यह शक्ति की एक कणिका या कान्त है। किसी एक कणिका या कान्त में शक्ति की कितनी मात्रा है, यह बात उसकी अपनी फड़कनो पर निर्भर है। यदि हम किसी कणिका की शक्ति-मात्रा को उसकी अपनी फड़कनों से भाग दें तो भागफल अथवा उन दोनों शक्ति-मात्रा और फड़कनों का अनुपात अपरिवर्तनशील (cons-

tant) ही होगा—उसमें रञ्चमात्र फर्क भी कभी न आवेगा। क्वान्त-क्षेत्रो का विषय बड़ा ही दिलचस्प है और वह विश्व-सृष्टि के एक मात्र मसाले हैं; उनपर हम आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से अलग लिखेंगे (सत्रहवाँ परिच्छेद)।

अब यदि कणिकाएँ अनन्त "देश" में सफर करती हुई क्रमशः अपनी शक्ति खोती जाँय तो उनकी फड़कनें भी, क्रमशः उसी अनुपात में कम होती चली जावेंगी; ताकि फड़कनों और शक्ति का वही अनुपात बना रहे। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी एक किरण-प्रसरण की कणिका की शक्ति के ह्रास का आवश्यक और अवश्यम्भावी परिणाम ही वर्णपट की रेखाओं का उसके निम्न-फड़कन-क्षेत्र (लाल छोर) की ओर का मुड़ाव, या संक्षेप में लाल-मुड़ाव है।

लाल-मुड़ाव (Red-Shift) की इस तीसरी व्याख्या या कैफियत के अनुसार, २॥ अरब प्रकाश-वष दूर की एक नीहारिका ने, साधारण तौर पर, अपना स्वाभाविक प्रकाश भेजा था; परन्तु हम तक पहुँचते-पहुँचते उस प्रकाश ने अपनी सारी शक्ति मार्ग में ही खो दी और इस कारण उसकी फड़कन भी शून्य रह गई। प्रकाश तो सारा ही मार्ग में चू गया और अब उस नीहारिका के अस्तित्व की खबर देने वाला कोई भी चिह्न हमारे पास न आ पाया। हमारे लिए तो वह नीहारिका जैसे है ही नहीं—घूमफिर कर फिर वही बात।

इस परिच्छेद को आरम्भ करते हुए हमने जो प्रश्न उठाया

था, उसका सिर्फ एक ही उत्तर है। प्रकाश-किरणों के लाल-छोर की ओर के मुड़ाव यही निर्देश करते हैं कि हम चाहे जितने शक्तिशाली दूर-दर्शकों (दूरबीनों) की सहायता लें, जितनी नीहारिकाओं के अस्तित्व को हम जान सकेंगे, उनकी एक सीमित संख्या ही होगी।

विश्व का विस्तार कितना है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले हमें आइन्स्टीन के सापेक्षवाद को समझना होगा, क्योंकि उस सिद्धान्त के एक निष्कर्ष को जाने बिना हम इस प्रश्न का कोई सही उत्तर न दे सकेंगे।

चौदहवाँ परिच्छेद

सापेक्षवाद।

विश्व के अध्ययन में अलबर्ट आइन्स्टीन और उसके सिद्धान्तों ने अतीव महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हमारी आज की बड़ी-से-बड़ी माउन्ट पैलोमर की दूरबीन अनन्त की भयावह गहराइयों में बहुत दूर ले जाकर हमें और अधिक आगे ले जाने से बिल्कुल इन्कार कर देती है। यह बात तो हर्गिज नहीं कि वह वहाँ पहुँच कर, हमसे बगावत कर बैठी है। सच

तो यह है कि वहाँ से और अधिक आगे बढ़ने की उसमें सामर्थ्य ही नहीं रह गई है। आगे तो हमें बढ़ना ही है, क्योंकि ऐसा किए बिना हमारी यह ज्ञान-यात्रा अधूरी ही रह जाती है। हमें आगे ले चलने को एक पथ-प्रदर्शक तो चाहिए ही। हम हताश से होकर इधर-उधर देखते हैं। तभी आकर आइन्स्टीन और उसका सिद्धान्त हमारा हाथ थाम लेते हैं। उसका सापेक्षवाद The Theory of Relativity ही अब हमारा नेतृत्व करता है।

यह विषय जितना ही भयजनक और दुरूह है, उतना ही आकर्षक भी है। गणित की क्लिष्ट और जटिल प्रक्रियाओं में लिपटा हुआ इसका रूप दहशत पैदा करता है। परन्तु हिम्मत के साथ आगे बढ़कर यदि हम इसको समझने और जानने का प्रयास करें, तो हम देखेंगे कि इसकी आधारभूत कल्पनाओं को समझ पाना उतना कठिन नहीं है, जितना हमने इसे पहिली नजर देखने पर सोचा था।

बात को शुरू करने के पहिले हम यह जान लेना चाहेंगे कि अनन्त "देश" में प्रकाश चलता क्योंकर है। कहा तो यह जाता है कि एक माध्यम (ईथर) ही अपने कम्पनों द्वारा प्रकाश को "देश" के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है। यदि यह बात है तो जब हम कहते हैं कि प्रकाश एक सेकण्ड में १८६,००० मील चलता है, तब हमारा मतलब यही होता है कि वह ईथर में ही अपनी यह गति करता है—अर्थात्, ईथर के

एक ख़ास भाग से चलकर १८६,००० मील दूर एक दूसरे ख़ास भाग तक जाने में उसे एक सेकण्ड का समय लगता है।

यह बात ठीक उसी तरह की है जैसी कि ध्वनि या शब्द का हवा में चलना। कुछ गुब्बारों को एक दूसरे से एक निर्दिष्ट दूरी पर उड़ाकर अथवा उतनी ही दूरी पर धुएँ के दो गोट छोड़कर हवा को तो हम बड़ी आसानी से कुछ खास टुकड़ों में बाँट सकते हैं। इसके बाद एक गुब्बारे से दूसरे गुब्बारे तक अथवा धुँए के एक गोट से दूसरे गोट तक जाने में शब्द या ध्वनि को कितना समय लगता है, यह भी जान सकते हैं। ध्वनि और हवा की बाबत यह बात हमने एक सिद्धान्त के रूप में ही कही है; इसको व्यवहार में लाने के लिये तो हमें एक ऐसा दिन चुनना होगा जब हवा बिल्कुल शान्त हो।

हवा को लेकर तो हम बड़ी आसानी से यह क्रिया कर सकते है, परन्तु इस "ईथर" को लेकर तो बिल्कुल नहीं। इस ईथर के भिन्न-भिन्न भागों को हम ऐसे किसी भी तरीके से बाँट कर अलग-अलग नहीं जान पाते। रोमर के वेधों के अनुसार, जिनका जिक्र हम ग्रहों के विषय में लिखते समय कर आए हैं, वृहस्पति ग्रह से पृथ्वी की ओर आते हुए प्रकाश के वेग को जब हम कूतते है अथवा जब हम, पृथ्वी की सतह पर स्थित दो स्थिर और अचल बिन्दुओं के बीच दौड़ते हुए प्रकाश की गति के वेग को कूतते है, तो हमारी स्थिति ठीक उस मनुष्यकी-सी हो जाती है, जो पृथ्वी पर ही दो बिन्दुओं के बीच दौड़ती हुई

ध्वनि या आवाज के वेग को कूतने की कोशिशें तो जरूर करता है, परन्तु इस बात की ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं देता कि हवा भी तब चल रही है या नहीं।

मान लीजिये यह जानने का, कि हवा चल रही है या नहीं, हमारे पास कोई और साधन नहीं सिवाय इसके कि हम भिन्न भिन्न दिशाओं में ध्वनि के वेग को कूतें। ऐसा करने के लिये हम एक ही समय बताने वाली दो घड़ियाँ देकर दो व्यक्तियों को, एक दूसरे से १ मील दूर, पहिले तो उत्तर-दक्खिन की ओर और फिर पूर्व-पश्चिम की ओर, खड़ा करते हैं। उनमें से एक व्यक्ति के पास एक पिस्तौल है और उसे कह दिया गया है कि वह एक ख़ास निश्चित समय पर उसे दागे। ठीक समय पर वह व्यक्ति पिस्तौल दागता है। अपने स्थान पर खड़ा दूसरा व्यक्ति, जिस क्षण उस पिस्तौल की आवाज सुनता है, ठीक उस क्षण को दर्ज कर लेता है। यह क्रियायें हम बारी-बारी से चारों ही दिशाओं में करते हैं और इस प्रकार दर्ज किये गये समय के आधार पर उन उन दिशाओं में ध्वनि के वेग को कूत लेते हैं। हम तब यह जान जाते हैं कि हवा किस दिशा में और किस वेग से बह रही है ; क्योंकि जिस दिशा से हवा बह रही होगी उस दिशा से आती हुई ध्वनि को सामने खड़े दूसरे व्यक्ति तक पहुँचने में अपेक्षाकृत कम ही समय लगेगा, जब कि हवा के बहाव के विरुद्ध चलने वाली ध्वनि को अपेक्षाकृत ज्यादा समय लगेगा।

यह सब तो ठीक है ; परन्तु जब एक अकेले ही व्यक्ति को यह जानना पड़ जाय कि हवा चल रही है या नहीं और अगर चल रही है तो किस दिशा से, तो उस अवस्था में वह क्या करे ? वह व्यक्ति एक जानी हुई दूरी पर एक परावर्तक-पर्दा a reflecting screen (जो पर्दा ध्वनि को वापिस लौटा सके) लटका देगा और तब एक पिस्तौल दागकर अपनी घड़ी में देखेगा कि उस आवाज को परदे पर जा टकरा कर, एक प्रति ध्वनि के रूप में वापिस उसके पास लौटने में, कितना समय लगा। बारी-बारी से चारों ही दिशाओं में वह यह क्रियायें करेगा। निश्चय ही, पिस्तौल की आवाज को पर्दे तक जाने और वहाँ से वापिस उस व्यक्ति तक लौटने में जो समय लगेगा वह उस दिशा में, जिधर हवा बह रही है, ज्यादा होगा और बाकी दिशाओं में कम। इसलिये वह यह तो बतला ही सकेगा कि हवा उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम रेखाओं में बह रही है, परन्तु वह यह नहीं बतला पाएगा कि यह उत्तरी हवा है या दक्षिणी ; पूर्वी है या पश्चिमी।

प्रकाश के सम्बन्ध में हम ठीक इस अकेले व्यक्ति की स्थिति में हैं। यदि ईथर, हमारे पास से होकर हमारी पीठ की दिशा की ओर बह रहा है अथवा यदि हम ही उसमें गति कर रहे है (दोनो बातें एक ही है) तो भी हमे उसका कोई ज्ञान, कोई भान, नहीं होता। हम इस ईथर-वायु को महसूस ही नहीं कर सकते। जब हम प्रकाश के वेग को जानना या कूतना चाहें

(रोमर के तरीके के अलावा) तो हमें प्रकाश को एक दर्पण पर भेजकर उसकी प्रतिच्छाया को हम तक वापिस लौटने में लगे समय को अपनी घड़ी में देखना होगा।

सौर-मण्डल (सूर्य और उसके ग्रह) अथवा आकाश-गंगाकी सापेक्षता में, ईश्वर की किसी भी हलचल का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह तो हम जरूर जानते हैं कि हर साल जून के महीने में हम (पृथ्वी) एक ख़ास तारे (सूर्य) की ओर चलते रहते हैं और दिसम्बर के महीने में उससे दूर हटते रहते हैं। इस बात को हम पहिले ही स्पष्ट कर आये हैं और पाँचवें परिच्छेद में ब्राडले के अपरेण aberration की खोजों की मदद से पुष्ट भी कर आये हैं।

इसलिए यदि हम ईथर-वायु को पकड़ना चाहें तो हमें अवश्य ही इस बात का सहारा लेना होगा। इस वायु का वेग चाहे जो हो और चाहे जिस दिशा में इसका बहाव हो, सूर्य के चारों ओर हमारे (पृथ्वी के) वार्षिक भ्रमण के कारण, वर्ष के एक भाग में तो उसका (ईथर का) वेग निश्चय बढ़ा हुआ होगा और उसके ठीक ६ महीनों बाद कम हो जायगा। हम, अपनी स्थिति के कारण, उसी तरीके को अपनाते हैं जिसे उस अकेले व्यक्ति को अपनाना पड़ा था जो ध्वनि के वेग को नाप कर हवा के वेग और बहाव को जानना चाहता था और जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है। पहिले तो हम उस दिशा में, जिधर पृथ्वी अपनी कक्षा पर घूम रही है, प्रकाश के वेग

को नापते हैं। फिर पृथ्वी की भ्रमण-कक्षा पर समकोण बनाती हुई दिशाओं में उसे (प्रकाश-वेग को नापते है। वर्ष के भिन्न-भिन्न समयों में हम इन नापों की अनेक क्रियाएँ करते है; इन्हें दुहराते है। जिस प्रकार ध्वनि हवा के द्वारा ढोई जाती है, यदि प्रकाश भी उसी प्रकार ईथर के द्वारा ढोया जाता हो तो, इन परीक्षणों के सिलसिले में कभी न कभी तो इसके वेग में हम कुछ-न-कुछ फर्क अवश्य पावेंगे।

सन् १८८७ ई० में माइकेल्सन और मोर्ले नामक दो अमेरिकन भौतिक वैज्ञानिकों को, पहिलेपहल, ऐसा एक प्रयोग करने की सूझी। उन्होंने यह प्रयोग किया भी। इस प्रयोग में उन्होंने एक साधन-यन्त्र का उपयोग किया जिसे इन्टरफेरोमीटर Interferometer कहते थे। यह यन्त्र इतना नाज़ुक और सूक्ष्म-ग्राही था कि १८६,२८२ मील प्रति सेकन्ड के वेग से चलने वाले प्रकाश के वेग की एक मील चाल के भी एक छोटे भाग में होने वाली घटा-वढ़ी को पकड़ सकता था। बार-बार प्रयोग करने पर भी हर बार यही देखा गया कि प्रकाश के वेग पर पृथ्वी की चाल, किसी भी दिशा में, कोई सूक्ष्म भी असर नहीं करती थी। सभी समयों और सभी दिशाओं में प्रकाश का वेग एक ही था, बिल्कुल शुद्ध वही वेग। इस प्रयोग को "माइकेल्सन-मोर्ले प्रयोग" कहा जाता है। इस प्रयोग ने एक ही प्रहार में ईथर को मार डाला।

ईथर के प्रेमियों और भक्तों ने इसे फिर से जिलाने की वहुत

चेष्टा की। "माइकेलसन-मोर्लेप्रयोग" के परिणाम का ईथर के अस्तित्व से मेल बैठाने के लिए उन्होने अनेक सुझाव रक्खे। एक सुझाव यह था कि पृथ्वी पर और उसके आस-पास बाहर रहने वाला ईथर भी पृथ्वी के भ्रमण-मार्ग पर उसके साथ-साथ खींचा चला जाता है, इस कारण इस प्रयोग में उसका कोई असर नहीं दिख पाता। यदि हम इस सुझाव को मान लें तो प्रकाश के अपरेण aberration (परिच्छेद ५) और दूसरी अन्य बातों के सम्बन्ध में महान् कठिनाइयाँ खड़ी हो जायँगी। दूसरा सुझाव यह रक्खा गया था कि सारी भौतिक वस्तुएँ, जिनमें माइकेलसन-मार्लेप्रयोग का साधन-यन्त्र इन्टरफेरोमीटर भी शामिल है, ईथर में गति करती समय, अपनी गति की दिशा में, कुछ छोटी पड़ जाती हैं। वस्तुओं का यह छोटी पड़ जाना ठीक उतनी ही मात्रा में होता है जितनी मात्रा में, प्रकाश को उस दिशा में जाने और वापिस आने में लगा समय, उस दिशा पर सम-कोण बनाती दिशाओं में इस तरह लगे समय से, ज्यादा बढ़ा हुआ होता है। इस सुझाव को 'फित्जेरल्ड लोरेञ्ज का संकोच' Fitzgerald-lorentz contraction कहते हैं, क्योंकि सन् १८६३ ई० में फित्जेरल्डने और सन् १८६५ ई० में लोरेन्ज ने अलग-अलग इसका प्रतिपादन किया था।

ठीक इसी जगह आकर आइन्स्टीन ने हस्तक्षेप किया। उसने कहा ; यदि हम माइकेलसन-मोर्लें प्रयोग के परिणाम को सिर्फ मान भर लें तो यह सारा बखेड़ा मिटा ही पड़ा है। हमने

स्वयं प्रकृति से ही एक प्रश्न पूछा था और प्रकृति ने उसका खरा जवाब दे दिया :—प्रकाश का वेग दर्शक की सापेक्षता में अपरिवर्तनशील है। इसका मतलब तो यही हुआ कि ईथर है ही नहीं। यदि ईथर होता तो प्रकृति का दिया हुआ जवाब भी कुछ और ही होता।

ईथर तो यों गया; परन्तु जिन कामों को भुगताने के लिए उसकी कल्पना की गईथी, उन्हें अब कौन संभालेगा। आइन्स्टीन ने कहा; घबड़ाइए नहीं इन कामोंको अब तक जो करता आया है, वह 'देश-काल का घिराव या चौखटा' (space time continuum) ही और आगे भी यह सब काम करता रहेगा। आपने चाहे इसे अब तक भुलाए रक्खा और इसके किए हुए कामों का श्रेय एक ठगोरे ईथरको देते रहे, फिर भी एक ईमानदार सेवक की भांति बिना किसी मलाल के यह तो अपना काम करता ही रहा और आगे भी करता रहेगा।

इस अनोखे और अपरिचित नाम को सुनते ही हम यकायक सहम उठते है। यह नई बला आखिर है क्या चीज ?

इस 'चौखटे' की बात को समझाने के पहिले हम एक नजर यह देख लें कि ऐसे कौन से वह काम थे जिनको भुगताने के लिए ईथर की कल्पना की गई थी। ईथर का मुख्य काम यही माना गया था कि वह हमें एक अचल और सर्वव्यापी आधार दे सकेगा जिसकी अपेक्षा में या जिसके प्रसंग में हम अनन्त 'देश' में भागने वाले असंख्य पिण्डो की 'निरपेक्ष' (बिना किसी का

सहारा लिए स्वयं अपनी ही गतियों को) जान सकेंगे। इसके सिवाय इसके और भी अनेक गौण काम थे जिन्हें हम मैक्स्वेल (Maxwell) के शब्दों में यों कह सकते हैं "Ethers were invented for the planets to swim in, to constitute electric atmospheres and magnetic effluvia to convey sensations from one part of our body to another,........." अर्थात्; ईथरों की कल्पना इसलिए की गई थी, ताकि उनमें ग्रह भाग-दौड़ सकें, वैद्युतिक आवरण और चुम्बकीय प्रवाह बन सकें, हमारे शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक हमारी चेतना पहुँच सके। कहना न होगा कि उन दिनों इन सब भिन्न-भिन्न कामों को करने के लिए उनके अनुरूप अनेक ईथरों की कल्पनाओं की बाढ़-सी आ गई थी। परन्तु आज के करीब ५० वर्ष पहिले पदार्थ को जब मूल रूप में प्रकाश या विद्युत् की किरणें ही मान लिया गया तब अन्य ईथरों को ठुकरा कर सिर्फ एक प्रकाश-वाहक ईथर को ही बना रहने दिया गया। ह्यूगेन्स (Huyghens), टामस यंग, फैरैडे और मैक्स्वेल नामक वैज्ञानिकों ने अधिकाधिक शुद्ध रूप में ईथर के गुणों की व्याख्या भी कर डाली जो प्रकाश को वहन करने में ईथर के लिए आवश्यक थे। जो कुछ हो; अपने मुख्य रूप में ईथर एक अचल और सर्वव्यापी आधार था, जिसके प्रसङ्ग में विश्व के अन्य चल-पिण्डों की 'शुद्ध' या व्यक्तिगत गतियों को बताया जा सकता था।

उन दिनों प्रचलित वैज्ञानिक विचार-धारा ही कुछ इस तरह की थी। जो वस्तु एक अचल और स्थिर वस्तु की अपेक्षा अपनी पहिले की स्थिति को बदल लेती थी, उसे चल या गतिशील कहा जाता था और स्थिति बदलने की इस क्रिया को गति कहते थे। जून सन् १९०५ ई० में आइन्स्टीन ने यह कहा कि हमारा नक्षत्र-विज्ञान अब तक तो किसी एक ऐसी वस्तु को खोज पाने में असफल रहा है जो (वस्तु) 'परमार्थ' या 'शुद्ध' रूप में एक-दम अचल हो; और इस कारण विश्व-प्रकृति में 'स्थिरता' और 'गति' यह दोनों केवल सापेक्ष शब्द ही हैं। अपनी बात को समझाते हुए आइन्स्टीन ने कहा :—मान लीजिए कि समुद्र की सतह पर एक जहाज, हमारे देखने में बिल्कुल शान्त और स्थिर खड़ा है; परन्तु पृथ्वी की अपेक्षा ही वह ऐसा शान्त और स्थिर है और पृथ्वी तो तब भी सूर्य की अपेक्षा गति कर रही है। इसलिए पृथ्वी की ही एक वस्तु होने के नाते वह जहाज भी पृथ्वी के साथ-साथ सूर्य की अपेक्षा, गति कर रहा होता है। ठीक उस समय (जहाज के शान्त और स्थिर खड़े रहते समय) यदि पृथ्वी भी किसी तरह सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक कर स्थिर खड़ी हो जाय तो उस हालत में वह जहाज सूर्य की अपेक्षा तो शान्त और स्थिर खड़ा हुआ ही होगा, परन्तु वास्तव में, दोनों—पृथ्वी और वह जहाज—घूमती हुई आकाश-गङ्गा के तारों में चलते हुए होंगे; क्योंकि सूर्य के पाश में बँधी हुई वह पृथ्वी तब सूर्य के साथ-साथ आकाश-गङ्गा के अन्य तारों में

गति करती होगी। सूर्य आकाश-गङ्गा का ही एक तारा है; यदि तब (जहाज और पृथ्वी के स्थिर खड़े रहते समय) सूर्य भी, अपनी गति बन्द कर स्थिर खड़ा हो जाय, तो उस हालत में भी वह जहाज, पृथ्वी और सूर्य—तीनों ही दूर की नीहारिकाओं की अपेक्षा गति करते होंगे। सूर्य और उसके परिवार (जिसमें हमारी पृथ्वी भी एक है) को लिए-दिए हमारी यह आकाश-गङ्गा तो तब भी दूर की उन नीहारिकाओं में गति करती हुई होगी। दूर की यह नीहारिकाएँ भी प्रति सेकन्ड सैकड़ों या हजारों मीलों की रफ्तार से एक दूसरी से दूर-दूर भागी जा रही होंगी। अनन्त शून्य में ज्यों ज्यों हम दूर-दूर आगे की ओर बढ़ते जायँगे, हमें कोई भी ज्योति-पिण्ड 'विशुद्ध' रूप में स्थिर या अचल खड़ा दिखाई न देगा। न केवल यही, अपितु अधिकाधिक बढ़ती हुई गति ही दिख पड़ेगी (देखिए परिच्छेद १२—"दूर-दूर फैलता हुआ विश्व")। आइन्स्टीन के अपने ही शब्दों में "Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever." विश्व-प्रकृति स्वयं कुछ ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा 'निरपेक्ष' या 'शुद्ध' गति को पकड़ पाना असम्भव है।

ठीक इसी प्रकार 'निरपेक्ष' या 'विशुद्ध' स्थिरता को भी हम समूचे विश्व में कहीं भी नहीं पकड़ पाते। हम यदि कहीं बैठे हों और कोई एक व्यक्ति हमारे निकट से जा रहा हो, तो हम

यह तो कह सकते है कि उस व्यक्तिकी 'अपेक्षा' हम स्थिर बैठे हैं; कोई गति नहीं कर रहे हैं। परन्तु, किसी भी हालत में हम यह तो कह ही नहीं सकते कि हम 'निरपेक्ष' रूप में स्थिर बैठे हैं। हमारी पृथ्वी हमें अपनी पीठ पर ढोये हुए तब भी १८'८ मील प्रति सेकण्ड के वेग से दौड़ रही होती है।

हमारी इस भावना को "कि हम विशुद्ध रूप में स्थिर और अचल बैठे है" बनाने में पीढ़ियों से चले आते हुए हमारे कुछ ग़लत और भ्रामक सँस्कारों ने प्रमुख भाग लिया है। आइन्स्टीन के पहिले तक हम यही मानते आ रहे थे कि 'देश' space हमारे चारों ओर ही 'कुछ' है और वह एक अचल आधार है। इसी प्रकार 'काल' Time के बिषय में भी हम सोचा करते थे कि वह हमारे निकट से या हममें से होकर बीत जाने वाला ही 'कुछ' है; और यह भी कि यह दोनों ही (देश और काल) अपने मौलिक रूपों में एक दूसरे से हर सूरत में जुदा-जुदा दो चीजें हैं। हम सोचते थे कि 'देश' में तो हम पीछे की ओर अपने कदमों को हटा सकते हैं, परन्तु 'काल' में तो हर्गिज़ ऐसा नहीं कर सकते। जो बीत गया सो बीत गया। 'देश' में तो हम अपनी इच्छानुसार शीघ्रता से या धीमे-धीमे चल फिर भी सकते है ओर यदि चाहें तो न भी चलें; परन्तु काल की अबाध गति को तो हम में से कोई भी बाँध कर नहीं रख सकता। वह तो हम सबके लिये एक ही समान अनियन्त्रित चाल से बीतता चला जा रहा है। परन्तु, आइन्स्टीन के इस 'साक्षेपवाद' ने

हमें एकदम चौंका देने वाली बात कही है। यह सिद्धान्त कहता है कि 'देश' और 'काल' के विषय में हम सब इस प्रकार चाहे जो सोचे विश्व-प्रकृति तो इन सब बातों को ऐसे जानती ही नहीं।

हम सव जीव जन्तु, पृथ्वी के सभी पहाड़ और समुद्र, स्वयं पृथ्वी, नक्षत्र और उनके समूह (नीहारिकाएं)—गर्ज यह कि यह समूचा विश्व ही 'पदार्थ' का बना हुआ है। स्वयं यह पदार्थ' matter भी अपने मूल रूप में विद्युन्मय कण या तरंगें ही है। 'सापेक्षवाद' के प्रसिद्ध व्याख्याकार मिङ्कौस्की Minkowsky ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि इस सिद्धान्त के अनुसार सभी विद्युन्मय हलचलें 'देश' और 'काल' के एक मिले जुले घिराव या चौखटे में ही होती हुई सोची जा सकती है। इस घिराव या चौखटे में 'देश' और 'काल' के कोई अलग अलग अस्तित्व नहीं है, जैसा कि अव तक हम सोचते चले आये है। इस घिराव में 'देश' और 'काल' दोनों ही इस प्रकार सम्पूर्ण रूप मे एक हो गये हैं कि उनके इस विलक्षण मिलाप का कोई रञ्चमात्र भी निशान पकड़ पाना असम्भव है। दो कपड़ों का यह एक ऐसा विलक्षण जोड़ है जिसकी सींवन के धागो का लेशमात्र भी देख पाना असम्भव है। प्रकृति की समूची घटनाएँ, उसके अपने सब क्रियाकलाप, इस चौखटे को 'देश' और 'काल' के अलग-अलग रूपों में बांट पाने में बिल्कुल असमर्थ हैं।

जव हम लम्बाई और चौड़ाई की अलग-अलग दो इकाइयो

को एक दूसरी में मिलाते हैं, तो वह गुणित होकर, हमें एक क्षेत्र (area) देती है; मान लीजिए, क्रिकेट खेलने का एक मैदान। खेल में भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न खिलाड़ी इस मैदान की दोनों ही आयतों (लम्बाई और चौड़ाई) का अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार और अपनी-अपनी अपेक्षा में, भिन्न-भिन्न प्रकार से विभाग कर लेते हैं। गेंद फेंकने वाला जिस भाग को 'आगे की ओर' समझता है, ठीक वही भाग बल्ला पकड़े हुए खिलाड़ी के लिए 'पीछे की ओर' होता है। हार जीत का फैसला देने वाला व्यक्ति जो एक तरफ करीब बीच में खड़ा है, उसी भाग को "बायाँ से दाहिना" मानता है। इतना सब होने पर भी, गेंद तो इन सब फर्कों को नहीं जानती। बल्ले से ठोकर देकर उसे जिधर भी फेंका जाता है, वह उधर ही जार्ती है। गेंद तो प्रकृति के नियम-कानूनों में बँधी हुई है; और प्रकृति इस मैदान को एक अविभाज्य सम्पूर्ण क्षेत्र ही जानती है जिसमें लम्बाई और चौड़ाई दोनो इस प्रकार मिल कर एक हो गई हैं कि उनको विलग किया ही नहीं जा सकता।

यह तो हुई दो आयतों के एक क्षेत्र की बात। अब हम यदि, ओर आगे बढ़ कर, दो आयतों के इस क्षेत्र (उदाहरण के लिए वह क्रिकेट खेलने का मैदान) को तीसरी एक आयत ऊँचाई में मिलावें तो वह गुणित होकर हमें तीन आयतों का एक 'देश' (space) देगी। पृथ्वी के निकट रहकर जब तक हम ऐसा करते रहेंगे—दो आयतो के उस क्षेत्र को 'ऊँचाई' की

तीसरी आयत में मिलावेंगे—तब तक तो बड़ी आसानी के साथ हम तीन आयतों के उस 'देश' को, हमारी इच्छा हो, तो ऊंचाई और क्षेत्र में अलग-अलग बांट कर देख या समझ भी सकेंगे; क्योंकि तब तक हमें पृथ्वी के 'गुरुत्वाकर्षण' की मदद मिलती रहेगी। हम तुरन्त जान सकेंगे कि जिस दिशा में एक निश्चित दूरी तक क्रिकेट-गेंद को फेंक पाना अधिकतम मुश्किल होगा, वही 'ऊँचाई' की दिशा या आयत होगी। परन्तु सुदूर अनन्त में ज्यों ही हम कदम बढ़ा चुके होंगे, ऊंचाई और क्षेत्र को इस प्रकार अलग कर देख पाना हमारे लिए एकदम असम्भव हो उठेगा। विश्व-प्रकृति हमें कोई भी ऐसा एक साधन नहीं देगी जिसके बल पर हम ऐसा कर सकेंगे; क्योंकि प्रकृति में तो 'देश' का ऐसा कोई बॅटवारा है ही नहीं। यह सिर्फ हमारे मन की ही सृष्टि है। पृथ्वी पर अपना काम चलाने के लिए ही हमने 'देश' की इन आयतों की कल्पना कर ली है।

एक आयत से चलकर दो आयतों के क्षेत्र की कल्पना को तो हम बड़ी आसानी से समझ गये। आगे बढ़ कर जब हमने इसमें तीसरी एक आयत और भी गुणकर तीन आयतोंके 'देश' की कल्पना की तो वह भी हमारी समझ में बडी आसानी से आ गई। कारण यह है कि, रात दिन अपने दैनिक व्यवहार में इन कल्पनाओं से हमारा काम पड़ता रहता है; इनसे हम बखूबी परिचित हैं। हजारों वर्षों से हमारी अनेक पीढ़ियाँ इनको काम में लेती आ रही हैं। परम्परा से चले आये यह

संस्कार हम में दृढ़ हो चुके हैं। और इस कारण हम इनको एक ही नजर में समझ लेते हैं। परन्तु, आगे बढ़ कर जब हम तीन आयतों के इस 'देश' में एक और आयत 'काल' को जोड़ना (वास्तव में गुणित करना) चाहते हैं, तभी हठात् हमारी अक्ल हैरान हो जाती है; हमारी सूझ-बूझ कुण्ठित हो उठती है। कारण भी स्पष्ट है; चार आयतों के एक 'देश' का हमें कोई व्यावहारिक अनुभव ही नहीं है। हमें इससे कभी कोई काम नहीं पड़ा। एक भारी अड़चन और भी है। चार आयतों के जिस 'देश' की हम खास कर चर्चा करने चले हैं उसकी वह चौथी आयत 'काल' तो हमारी जानी पहिचानी किसी भी दिशा की द्योतक नहीं है। व्यवहार की सुगमता के लिए हमने 'देश' को कुछ दिशाओं में बाँट रक्खा है:—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊपर आकाश की ओर। किसी एक खेत के विषय में जब हम यह कहते है कि पूर्व की ओर के इसके किनारे से पश्चिम की ओर का इसका अगला किनारा १ मील दूर है तो हम झट जान जाते हैं कि यह उसकी लम्बाई है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि उस खेत के उत्तर किनारे से दक्षिण की ओर उसका अगला किनारा पौन मील है तो उसे हम उसकी चौड़ाई कहते हैं। ऐसे ही, उस खेत के ठीक ऊपर आकाश की ओर ऊँचाई भी समझ लेते हैं। परन्तु 'काल' को तो हम ऐसी किसी दिशा के प्रसङ्ग में व्यक्त नहीं कर सकते। जो कुछ हो, 'देश और काल के, इस घिराव' को समझ पाने के लिए

हमें "देश" की इस चौथी आयत को किसी न किसी प्रकार समझने की चेष्टा करनी होगी।

शुरु में हम दो आयतों के एक 'देश' की कल्पना करते है जिसकी एक आयत तो होगी हमारी सुपरिचित 'लम्बाई' और दूसरी आयत होगी 'काल'। इस कल्पना को और भी अच्छी तरह समझ पाने के लिए नीचे हम रेखा-चित्र ३४ देते हैं।
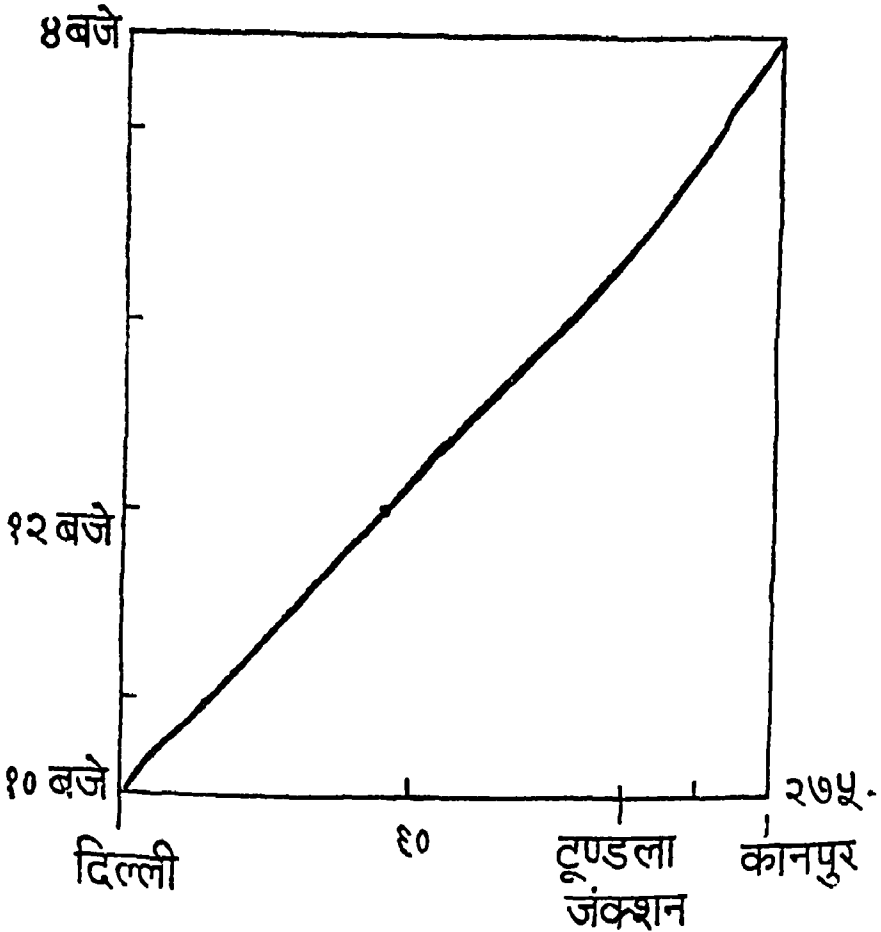
इस चित्र मे हम दिल्ली से कानपुर तक जाने वाली एक रेल-गाड़ी की समयसारिणी को एक खाके के रूप में दे रहे है।

दिल्ली से कानपुर करीब २७५ मील दूर है। दिल्ली से १० बजे रवाना होकर यह रेलगाड़ी करीब ४ बजे शाम को कानपुर पहुँचती है। चित्र में दिल्ली और कानपुर को जोड़ने वाली जो एक आड़ी रेखा है वह उन दोनों स्थानों से बीच, २७५ मील लम्बे रेल-पथ की द्योतक है। इस रेखा के 'दिल्ली' बिन्दु पर ऊपर की ओर जो एक खड़ी रेखा है वह सुबह १० बजे से शाम के ४ बजे तक के समय का अन्तर (६ घण्टे) हैं। चित्र के बीच में, एक कोने से दूसरे कोने तक गई हुई, मोटी रेखा उस गाड़ी की प्रगति की द्योतक है। मानलीजिये कि गाड़ी ४५ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से दौड़ रही है। रेलगाड़ी की प्रगति को दिखलाने वाली इस मोटी रेखा पर एक बिन्दु 'क' है जो १२ बजे (मध्याह्न) के ठीक सामने और दिल्ली से ९० मील दूर के एक बिन्दु के ठीक ऊपर है और इस बात का द्योतक है कि दोपहर १२ बजे तक यह रेलगाड़ी ९० मील चल चुकी है। चित्र में दूसरा एक और बिन्दु "ख" भी है जो ठीक १२ बजे (मध्याह्न) के समय टूण्डला जंक्शन के पास ही किसी एक स्थान का द्योतक है। यह दूसरा बिन्दु 'ख' उस मोटी रेखा (रेलगाड़ी की प्रगति को बताने वाली रेखा) पर हार्गिज नहीं है, क्योंकि वह गाड़ी १२ बजे (कध्याह्न) के समय टूण्डला जॅक्शन के पास उस स्थान पर तो तब तक नहीं पहुँची है। इस चित्र का सम्पूर्ण क्षेत्र (२७५ मील × ६ घण्टे), सुवह १० बजे से लेकर शाम के ४ बजे के बीच प्रत्येक समय में, दिल्ली और कानपुर के वीच

उस रेलमार्ग पर पड़नेवाले सभी सम्भव स्थानों का चित्रण करता है। इस प्रकार, लम्बाई (२७५ मील लम्बा रेल पथ) की एक आयत को काल की एक आयत (६ घन्टों) में मिलाने या गुणने से हम को एक ऐसा क्षेत्र मिलता है जिसकी एक आयत तो, हमारी परिचित 'देश' की एक इकाई (लम्बाई) है और दूसरी आयत है 'काल'।

उक्त २७५ मील रेल-पथ का प्रत्येक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अंश ६ घन्टों (सुबह १० बजे से शाम के ४ बजे तक) के समय के प्रत्येक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंश से इस प्रकार संयुक्त है कि उन्हें अलग कर देख पाना असम्भव है। दूसरे शब्दों में, उक्त २७५ मील का रेल-पथ ही ६ घन्टे हैं और उक्त ६ घन्टे ही २७५ मील है।

इसी बात को और आगे बढ़ा कर हम 'देश' की तीन आयतों (लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई) को 'काल' की एक आयत में संयुक्त कर चार आयतों के 'देश' की कल्पना बखूबी कर सकते हैं। चार आयतों के इस 'देश' को ही आइन्स्टीन ने 'कन्टिनुअम' continuum नाम दिया है, जिसका हिन्दी रूपान्तर हैं देश-काल का घिराव अथवा चौखटा।"

सच पूछिए तो यह 'चौखटा' हमारे लिए एक दम अजनबी भी नहीं है। हमारे साथ इसका अब तक साक्षात् परिचय चाहे न हुआ हो पिछले हजारों वर्षोंसे हम, अनजाने ही, इसको व्यवहार में तो लेते ही रहे हैं। आकाश में पूर्व क्षितिज पर उगते

हुए सूर्य को देखते ही हम अनायास कह उठते हैं :—"देखो, सूरज निकल रहा है ; अब अमुक बजे हैं।" दोपहर को, अपने सिर पर ठीक ऊपर की ओर सूरज को देख कर हमें अनायास १२ बजे मध्याह्न का स्मरण हो आता है। पश्चिम की ओर डूबते हुए सूरज को देख कर हमें सन्ध्या के लगभग ६ बजे का सहज भान हो जाता है। यह सब आखिर है क्या,—'देश' के किसी एक कल्पित बिन्दु पर एक पिण्ड (सूर्य) की स्थिति का सहारा लेकर उस चौथी आयत 'काल' को अलग कर देखने का महज हमारा दुःसाहस।

बात जब यों पकड़ में आ रही है, तब हम एक कदम और आगे बढ़कर सापेक्षवादका यह निष्कर्ष पेश करते हैं कि सभी विद्युत्-चुम्बकीय घटनाएँ (अर्थात् यह समूची विश्व-सृष्टि) चार आयतों के इस घिराव या चौखटे में ही घटती रहती है और यह भी कि इस चौखटे में 'देश' को 'काल' से निरपेक्ष रूप में अलग देख पाना बिल्कुल असम्भव है। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि यह 'कन्टिनुअम' एक ऐसा है कि जिसमें 'देश' और 'काल' इस सम्पूर्णता से एक दूसरे में गुँथे हुए हैं कि प्रकृति के नियम कानून उनमें कोई अलगाव या फर्क नहीं बतलाते। क्रिकेट के मैदान की लम्बाई और चौड़ाई इस पूर्णता से एक दूसरी में संयुक्त है कि दौड़ती हुई क्रिकेट-गेंद उनको पृथक् करके नहीं देख पाती ; वह तो उस समूचे मैदान को महज़ एक ऐसा क्षेत्र जानती है जिसमें लम्बाई और चौड़ाई का कोई

पृथक् अस्तित्व या अर्थ ही नहीं है। 'देश' और 'काल'—इन दोनों ही शब्दों को हमने अपने व्यवहार की सुगमता के लिए गढ़ रक्खा है। विश्व-प्रकृति तो इन शब्दों को बिल्कुल नहीं जानती।

वास्तव में, देश-काल के इस चौखटे (continuum) की कल्पना हम महज़ इसी लिये करते हैं, ताकि इसके प्रसङ्ग में, इसके आधार पर, विश्व-प्रकृति के दिख पड़ने वाले क्रिया-कलापों को अपनी समझ में बिठा पावें। क्योंकि विश्व-प्रकृति की सभी घटनाओं को हम इस चौखटे में ही होती हुई समझ सकते हैं, इसलिए अवश्य ही यह चौखटा किसी एक वस्तु-निरपेक्ष (objective) तथ्य का प्रतिरूप होगा। यह बात बिल्कुल ठीक हैं; परन्तु 'देश' और 'काल' के अलग-अलग रूपों में इसका बँटवारा तो 'व्यक्ति-परक' ही है—विभाजन करने वाले उस उस व्यक्ति के दिमाग में ही केवल इसका (विभाजन का) अस्तित्व है। यदि मैं और आप भिन्न-भिन्न गतियों से चलते होते हैं तो उस हालत में 'देश' और 'काल' की मेरी धारणा आपकी धारणा से बिल्कुल भिन्न होतीहै। उस समय हम अपने-अपने दृष्टिकोण से उस'चौखटे' को भिन्न-भिन्न रूपों में विभक्त कर लेते हैं।

मानलीजिए, आप और मैं किसी एक सड़क पर आ-जा रहे हैं। जिधर से होकर आप चले आ रहे हैं, मैं ठीक उधर ही चला जा रहा हूँ। सड़क का जो भाग उस समय आपके लिए 'सामने'

होगा, वही मेरे लिए 'पीठ की ओर' होगा। इसी प्रकार जो मकान उस समय आपके लिए 'बाँई ओर' होगा वही मेरे लिए 'दाहिनी ओर' होगा। चलते-चलते यदि मैं अपनी चाल का वेग बदल लूँ अथवा किसी धीमी चलती हुई मोटर-बस पर कूद कर चढ़ जाऊँ या दाएँ-बाएँ किसी गली की ओर मुड़ पड़ूँ तो ऐसा करते हुए मैं, 'देश' और 'काल' में उस चौखटे के मेरे पहिले विभाजन को, उस बदली हुई स्थिति के अनुरूप, महज संशोधित ही कर रहा हूँ। वस्तुतः 'सापेक्षवाद' के इस सिद्धान्त का तत्व तो यही है कि 'कन्टिनुअम' या चौखटे के देश और काल में इन व्यक्तिगत विभाजनों के विषय में विश्व-प्रकृति स्वयं तो कुछ भी नहीं जानती; इनकी ओर से वह बिल्कुल उदासीन ही है। मिन्कौस्की के अपने शब्दों में—"Space and time seperately have vanished into the merest shadows, and only a sort of combination of the two preserves any reality." अर्थात् 'देश' और 'काल' अपने पृथक् रूपों में महज छायाओं में अन्तर्हित हो गये हैं और इन दोनों का एक संयुक्त रूप ही केवल एक वास्तविकता है।

मिङ्कौस्की की यह उक्ति हमें एक ही नज़र में बतला देती है कि विश्व के इस चित्र से 'ईथर' को आखिर क्यों गायब होना पड़ा। ईथर ने विश्व-प्रकृति के विरुद्ध बग़ावत की थी। समूचे 'अनन्त देश' पर ही वह अपना दावा कर बैठा था और अपने इस दावे को लेकर वह इस चौखटे (continuum) को निरपेक्ष,

या परमार्थ रूप में 'देश' और 'काल' में अलग-अलग बांटने की हिमाक़त करने लगा था। प्रकृति के नियम कानून, जो इस कृत्रिम विभाजन की सम्भावना को कतई नहीं जानते, ईथर के विरुद्ध खड़े हो गये और आखिर बेचारे ईथर को अपने प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा—उसका अस्तित्व ही मिट गया।

सापेक्षवाद का यह दृष्टिकोण वस्तुओं के रूप को बहुत ही सरल बना देता है। इसके कुछ निष्कर्ष तो, जैसा हम देख चुके हैं, हमारी अनेक पुरानी और बद्धमूल धारणाओं के विपरीत जाते मालूम होते हैं। सापेक्षवाद के इस 'विशेष सिद्धान्त' (Special theory of Relativity) में हमारी दिलचस्पी इस बात को लेकर भी है कि यह सिद्धान्त हमारी उस मान्यता को पुष्टि देता है कि सभी नीहारिकाओं के प्रकाश हम तक एक ही अपरिवर्तनशील वेग से चले आते हैं; और यह भी कि प्रकाश-किरणों के "लाल-मुड़ावों" (red shifts) को देख कर हमने जो परिणाम निकाले थे (बारहवाँ परिच्छेद) वह सब सही हैं।

"माइकेल्सन-मोर्ले" प्रयोग के परिणाम को और भी आगे तक खींच कर आइन्स्टीन ने कहा; इस प्रयोग का यह निर्विवाद परिणाम, कि प्रकाश का वेग पृथ्वी की गति से जरा भी सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश में भी, प्रभावित नहीं होता, एक ब्रह्माण्डीय (cos-mic) नियम का प्रकाशक है। यदि पृथ्वी के प्रसङ्ग में प्रकाश का वेग अपरिवर्तित रहता है, तो उसने तर्क किया कि, विश्व-ब्रह्माण्ड की किसी भी नीहारिका (आकाश-गंगा) के प्रसङ्ग में

भी यह वेग अपरिवर्तनशील ही होगा। क्योंकि प्रकाश के उद्गम-पिण्ड (source)और उसके ग्राहक (receiver) की गतियों से प्रकाश के अपने वेग मे कुछ भी परिवर्तन नहीं होता; इसलिए आइन्स्टीन ने यह मान लिया कि विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु, सूक्ष्म और महान् , नहीं जो प्रकाश के वेग से भी अधिक वेग से चल सके। प्रकाश का वेग ही, इस विश्व में, गति की पराकाष्ठा है।

इन उपलब्धियों (निष्कर्षों) के आधार पर आइन्स्टीन ने गणित के कुछ समीकरण (equations) भी रच डाले जो आज भौतिक विज्ञान (Physics) और सृष्टि विज्ञान (cosmology) के प्रमुख और आवश्यक अङ्ग हैं। उनके इन समीकरणों ने दूरी और समय के सभी नापों को नापने वाले की अपनी ही गति के अनुसार घटते-बढ़ते हुए बना दिए है। उदाहरण के लिये ; मान लीजिये पृथ्वी पर बैठे हुए हम अपने इस ग्रह (पृथ्वी) के दोनों ओर, एक दूसरी से उलटी दो दिशाओं में, दो नीहारिकाओ को देखते हैं। वह दोनो ही नीहारिकाएँ, प्रकाश वेग (१८६,३००मील प्रति सेकण्ड) के दो तिहाई वेग से (१२४,२०० मील प्रति सेकण्ड) दौड़ती हुई हम से दूर-दूर, आगे की ओर, भागी जा रही हैं। उन के इन दोनों वेगो का सरल योगफल प्रकाश-वेग का $\frac{४}{३}$ ($\frac{२}{३}+\frac{२}{३}=\frac{४}{३}$) होता है। प्रश्न होगा कि, उन दोनों नीहारिकाओ पर कहीं पर बैठे हुए कोई दर्शक क्या एक दूसरी नीहारिकाको, इस संयुक्त वेग से, एक दूसरी से दूर

भागते देखेंगे भी ? हमारे अपने दृष्टि-कोण से तो ऐसा ही होना चाहिये ; परन्तु "सापेक्षवाद" के अनुसार ऐसा होगा नहीं ; उन दोनों नीहारिकाओं में बैठे हुए दर्शकों के, समय और दूरी के विषय में, अपने-अपने मापदण्ड होंगे, जो हमारे (पृथ्वी पर) तत्सम्बन्धी माप-दण्डों से बिल्कुल भिन्न होंगे। अपने-अपने मापदण्डों के आधार पर उन दोनों नीहारिकाओं के दर्शक, अपनी-अपनी गणनाओं से उन दोनों वेगों की जो संयुक्त संख्या निकालेंगे, वह प्रकाश के वेग की राशि से कुछ कम ही होगी। सरल शब्दों में इसका यही मतलब होगा कि विश्व-ब्रह्माण्ड का कोई भी ज्योति-पिण्ड प्रकाश के वेग से अधिक वेग से गति नहीं कर रहा है।

सापेक्षवाद की यह मान्यताएँ, एक नये व्यक्ति को, बिल्कुल अजीव और अनहोनी-सी मालूम देगी ; परन्तु वेधो obser-vations और प्रयोगों experiments ने इनकी सचाई को बार-बार सिद्ध कर दिया है। प्रकाश-वेग की अपरिवर्तनशीलता का सिद्धान्त "जुड़वाँ तारों Double stars के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों से पुष्ट हो चुका है। इन तारों ने, स्वयं चलकर, इस सिद्धान्त के पक्ष में अपनी गवाहियाँ दी हैं। इन तारों का विस्तृत वर्णन हम कर आये हैं ; प्रत्येक जोड़े का एक-एक तारा अपने दूसरे साथी तारों के चारों ओर घूमता रहता है। अपने इस घूमने के सिलसिले में जब यह तारा हमारी ओर बढ़ा चला आता हो, तब उसका प्रकाश जिस वेग से चलकर हमारी ओर

आता है, ठीक उसी वेग से वह तब भी आता है, जब वह तारा हमसे दूर, आगे की ओर, भागा जा रहा होता है।

इतना सब कुछ बता चुकने पर "सापेक्षवाद" हमें आगाह भी कर देता है कि हम यह न भूल जायँ कि हमारे लिये हुए यह वेध observations विश्व-ब्रह्माण्ड में हमारी अपनी स्थिति की सीमाओं में घिरे हुए हैं; और इस कारण, सीमित हैं। ठीक इस कारण ही हम कभी भी, दृढ़ विश्वास के साथ, यह नहीं कह सकते कि "देश" space और "काल" की अत्यन्त गहराइयों में, आगे बढ़कर, जो कुछ भी नाप-ज़ोख हम करते हैं, वह "शुद्ध" ही है।

इस चेतावनी को ध्यान में रखते हुए, आज के सृष्टि-विज्ञान cosmology ने, बड़ी सावधानी और शङ्का के साथ, विश्व-ब्रह्मांड के सम्भव विस्तार के विषय में अनुमान लगाने के प्रयास किये हैं। पिछले परिच्छेद में, शुरू में ही, हमने यह प्रश्न उठाया था कि इस विश्व का कहीं कोई ओर-छोर है भी या नहीं—दूसरे शब्दो में, इस विश्व का विस्तार कितना है? हमारी आज की सबसे बड़ी, माउन्ट पैलोमर की, दूरबीन की आखिरी पहुँच पर जो नीहारिकाएँ दिख पड़ी हैं उनको लेकर, और उनसे परे भी यदि कोई और नीहारिकाएँ हों तो उन पर भी, विस्तार के साथ काफी ऊहापोह करते हुए हमने, वहाँ इस प्रश्न का संगत और तथ्यों से मेल खाता हुआ एक उत्तर खोजने की चेष्टा की थी। परन्तु, आइन्स्टीन के इस "विशेष सिद्धा

जाने बिना हमकोई ऐसा उत्तर दे नहीं पा रहे थे, इसलिये हमने इस प्रश्न को ज्यों का त्यों छोड़ दिया था। अब हम यहाँ, उस जगह आ पहुँचे हैं, जहाँ से उस प्रश्न का एक जँचता-सा उत्तर दिया जा सकता है।

"विशेष सापेक्षवाद" special relativity और हब्बल-ह्यूमेसन नियम Hubble Humason Law, दोनों ने मिलकर यह सुझाव रक्खा है कि इस विश्व का अर्ध-व्यास (radius) ५ अरब वर्षों से ज्यादा तो हर्गिज नहीं हो सकता ; क्योंकि (१) जाहिरा तौर पर विश्व ने ५ अरब वर्षों पहिले ही फैलना शुरू किया था ; (२) तब से लेकर सबके आगे दौड़ने वाली सुदूर अनन्त की नीहारिकाएँ "देश" space में एक परिवर्तनशील वेग से जो इस प्रकाश के वेग के आसपास ही है, भागी चली जा रही हैं ; (३) सापेक्षवाद जोर देकर यह कहता है कि कोई भी चल वस्तु प्रकाश वेग के अधिक वेग से नहीं चल सकती। इसका मतलब यह हुआ कि सबसे अधिक तेज चलने वाली नीहारिकाएँ भी सृष्टि-रचना के बाद, आज तक, ज्यादा से ज्यादा ५ अरब प्रकाश-वर्षों से कुछ कम ही चल चुकी होती हैं। क्योकि हमारे आजतक के वेध इस दूरी के सिर्फ दो तिहाई भाग को ही पकड़ते हैं, इसलिये हम सिर्फ यही मान ले सकते हैं कि सुदूर ब्रह्माण्ड में, हमारी दृष्टि की आखिरी सीमा के बाहर भी, कुछ अदृश्य आकाश-गंगाएँ या नीहारिकाएँ हैं, और यह भी कि इनमें सबसे आगे दौड़ने वाली नीहारिका

का सबसे अगला भाग ही आज इस विश्व के विस्तार की अन्तिम सीमा-रेखा है ।

यह विश्व कहीं न कहीं जाकर समाप्त भी होता है, यह धारणा जिस प्रकार मनुष्य के मन को एक चोट-सी पहुँचाती है, उसी प्रकार इसकी विपरीत धारणा, कि अनन्त का "देश" कभी कहीं खत्म ही नहीं होता, को आत्मसात् करने में भी वह सिहर उठता है। जो कुछ हो, "देश" space के आकार-प्रकार के विषय में सोचते समय हम अपनी इन्द्रियो के द्वारा किये हुए अनुभवों में जिन आकारों से परिचित हो चुके हैं, "देश" को भी उन आकारों में ही सोचने के अभ्यस्त हो उठे हैं। एक प्राचीन ग्रीक विद्वान् यूक्लिड Euclid ने जिस रेखागणित Geometry को संग्रहीत कर दिया था, उसे ही हम पीढ़ियों से अपने विद्यालयो में पढ़ते आ रहे हैं। इस रेखागणित में जो आकृतियाँ दी हुई हैं उनमें की किसी एक आकृति में ही हम इस विश्व की रूप-रेखा या आकार को सोचा करते हैं। इस रेखागणित की एक प्रचलित मान्यता यह है कि किन्हीं दो बिन्दुओं को एक दूसरे से मिलाने वाली एक सीधी रेखा ही, उनके वीच, सबसे छोटी और कम दूरी है। परन्तु विश्व अति विशाल है; इसकी भयावह विशालता में हमारी अनेक भौतिक मान्यताएँ काम करने में असमर्थ हो जाती है; सम्भव है, और बहुत कुछ सम्भव है कि, हमारी यह सीधी और सरल रेखागणित भी, वहाँ, बेकार हो जाय।

जिस प्रकार, पिछले कुछ वर्षों तक मनुष्य यही विश्वास करता आया था कि उसकी पृथ्वी बिल्कुल सपाट और चौरस थी, परन्तु आगे जाकर यह विश्वास गलत सिद्ध हुआ; हो सकता है कि वैसे ही, इस रेखागणित से बँधे हुए हमारे क्षुद्र दृष्टिकोण हमें सोचने के गलत मार्ग पर ही लिए जाते हों और यही सोचने को हमें बाध्य करते हों कि विश्व का "देश" भी ठीक वैसा ही होगा जैसा चारों ओर, आस-पास का भौतिक देश हमें दिख पड़ता है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ, आगे जाकर, मनुष्य ने अन्त में पृथ्वी के आकार की वक्रता curvature जैसे खोज निकाली, उसी प्रकार वेधों और गणनाओं के सजातीय साधनों के बल पर ही सृष्टि-वैज्ञानिक भी यह खोज निकालने के प्रयत्नों में थे कि विश्व का "देश" भी क्या इसी प्रकार "वक्र" तो नहीं है ?

यहाँ भी, इस खोज में भी, आइन्स्टीन ही आगे बढ़ा। उसने ही सबसे पहिले कुछ साधन जुटा दिए जब कि सन् १९१५ ई० में उसने अपना "सापेक्षवाद का सामान्य सिद्धान्त" General Theory of Relativity प्रस्तुत किया जिसमें उसने न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण को एक नई ही मान्यता दी। गुरुत्वाकर्षण को एक "शक्ति" और वह भी दूर से ही काम करने वाली (ऐसा न्यूटन ने माना था) मानने की बजाय आइन्स्टीन ने यह कहा कि विश्व-ब्रह्माण्ड के किसी भी एक पिण्ड या वस्तु के चारों ओर का "देश," एक गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र

का ही प्रतिरूपक है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक चुम्बक magnet के चारों ओर का "देश" एक चुम्बकीय क्षेत्र a magnetic field होता है। उसने आगे चल कर यह निष्कर्ष निकाला कि गुरुत्वाकर्षण करने वाले किसी एक पिण्ड की उपस्थिति, "देश" के उस भाग को जहाँ वह पिण्ड होगा, अवश्य मोड़ देगी।

वैज्ञानिक जगत् में सापेक्षवाद के "सामान्य" सिद्धान्त का व्यापक और मौलिक असर हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आइन्स्टीन का यह दूसरा सिद्धान्त उसके पहिले सिद्धान्त ("विशेष सापेक्षवाद") की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। जैसा कि हम कह चुके हैं, अपने मुख्य रूप में, यह एक "गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त" है। न्यूटन ने जब एक सेव को वृक्ष से पड़ते देखा तो उसके पाण्डित्यपूर्ण और कल्पनाशील उर्वर मस्तिष्क ने गुरुत्वाकर्षण के उसके प्रसिद्ध नियम को जन्म दिया। उसके बाद करीब २३० वर्षों के लम्बे दौर में इसको अधिक शुद्ध स्पष्टीकरण देने का कोई भी प्रयास किसी ने भी नहीं किया; यद्यपि भौतिक विज्ञान के अनेक पण्डितों को यह बात खटकती जरूर थी कि न्यूटन का यह नियम एक ऐसी "शक्ति" की कल्पना पर आधारित था जो दूर रह कर ही अपना काम करती थी—यह बात कुछ अग्राह्य थी। आइन्स्टीन ही पहिला वैज्ञानिक था जिसने इस गलती को सुधारा। उसने गुरुत्वाकर्षण को "आकार" का ही एक अङ्ग वना दिया। उसने कहा कि "देश-काल" का ही यह एक आवश्यक पहलू है।

"कमसे कम क्रिया" a law of least action का एक नियम है जिसके अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती हुई कोई भी वस्तु, हमेशा जाने के लिए सरल से सरल मार्ग ही चुनेगी; हो सकता है कि वह मार्ग एक सीधी रेखा में न हो। कहीं भी जाते समय मार्ग में पड़ते हुए पर्वतों और घाटियों को तरह देकर जाना ही सुगम होता है। यदि हम इस भद्दे से, गँवारू से रूपक को ही काम में लेकर आइन्स्टीन की बात समझावें तो कह सकेंगे कि "देश काल" कुछ पहाड़ों और घाटियों से भरा हुआ है (आइन्स्टीन ने इन्हें ऐंठें twists or kinks कहा है) और यही कारण है कि ग्रह क्यों नहीं एक सीधी रेखा में ही चलते। इस रूपक को और आगे बढ़ाते हुए हम कह सकते हैं कि सूर्य एक पहाड़ की चोटी पर है, और एक सुस्त ग्रह उस चोटी पर चढ़ने की अपेक्षा पहाड़ के चारों ओर जाना ही अधिक पसन्द करेगा।

अपने इस सामान्य सिद्धान्तको समझाने के लिए आइन्स्टीन ने बहुत ही पेचीदा कुछ प्रयोगों की कल्पना की है। जटिल होने पर भी वह रुचिकर और ज्ञानवर्धक हैं। अब हम आइन्स्टीन के पीछे-पीछे चल कर उसके "सामान्य" general सिद्धान्त को टटोलते हैं और खास कर गुरुत्वाकर्षण gravitation को लेकर दिए हुए उसके स्पष्टीकरण को।

न्यूटन के इस महान् नियम, गुरुत्वाकर्षण, The law of gravitation की नींव हमारे चारों ओर रात दिन देखी जाने

वाली इस बात पर डाली गई थी कि द्रव्यात्मक वस्तुओं में एक दूसरी की ओर खिच कर चल पड़ने का स्वभाव देखा जाता है। उनके इस स्वभाव की व्याख्या करने के लिए न्यूटन ने एक "शक्ति" के अस्तित्व की कल्पना की। यह "शक्ति" वैसी है जैसी कि हम अपने रग-पुट्ठों से सञ्चारित करते हैं। हमारे शरीर या रग-पुट्ठों की शक्ति का असर तो सिर्फ उन्हीं वस्तुओं पर होता है जो हमारे शारीरिक सम्पर्क में आती हैं—जिनको हमारे हाथ-पांव व शरीर के अन्य अङ्ग छू सकते हैं। न्यूटन की यह कल्पित "शक्ति" कुछ अद्भुत सी है। इसका असर अपने से दूर की वस्तुओं पर होता है और वह भी शून्य आकाश में से होकर। न्यूटन ने "देश" space के विषय मे भी कुछ धारणाएँ assumptions कायम कीं। न्यूटन के अनुसार "देश," सर्वत्र, यूक्लिद् के रेखागणित में कल्पित आकारों का है। "काल" के विषय में भी न्यूटन ने यह कहा कि वह (काल) एक ही चाल से, और लगातार, चलता रहता है; और "देश" से अलग, यह एक स्वतन्त्र प्रक्रिया है। "देश" और "काल" के सम्बन्ध में न्यूटन की यह धारणाएं लोगों को इतनी तर्क-सङ्गत मालूम हुई और उनको इतनी मन भा गई कि आगे चल कर वह (लोग) यह भी भूल गये कि अपने मूल रूप में यह केवल धारणाएँ या मान्यताएँ ही थीं और सिद्धान्त न थीं।

द्रव्य के विषय में आइस्टीन के दृष्टिकोण के मूल में जो कल्पना काम कर रही थी उसे समझ लेना जरूरी है। आइन्स्टीन

का यह कहना था कि दूर से ही काम करने वाली "शक्ति" की कल्पना को ठुकरा कर और "देश" तथा "काल" की प्रकृति से सम्बन्धित पूर्वग्रहों (किसी बात को पहिले से ही तथ्य मान कर उससे चिपके रहना) या धारणाओं को अपने दिमागों से निकाल फेंक कर हम गुरुत्वाकर्षण की एक ऐसी व्याख्या कर सकेंगे जो न्यूटन की व्याख्या से अधिक शुद्ध होगी। अगर हम ऐसा कर सकें और बिना कोई सवाल उठाये, प्रयोगों और वेधों के परिणामों को स्वीकार कर लें तो विश्व का एक ऐसा चित्र खींच सकेंगे जो अपने आप में पूर्ण और आत्म-निर्भर होगा। इस चित्र में देश, काल, किरण-प्रसरण और द्रव्यों के कण—सबके सब एक दूसरे से एक घनिष्ट सम्बन्ध बनाए हुए होंगे। इस चित्र में और भी एक बात होगी; ग्रहों की गतियाँ, हमारे हाथों से फेंके हुए ढेलो की गतियाँ, तारों और नीहारिकाओं की गतियाँ—यह सब, दूर रह कर ही काम करने वाली किसी "शक्ति" का परिणाम न होकर, द्रव्यो के कणों से सम्बन्धित "देश" की रेखागणितीय प्रकृति में होनेवाली भिन्नताओं के कारण ही होंगी।

न्यूटन एक खास क़िस्म के "देश" और "काल" को मानने पर ही जोर देता था—ऐसे "देश" और "काल" पर जिनमें द्रव्यो के कण, जब उन पर कोई तरह का बाहरी दबाव न हो, अपनी इच्छानुसार सीधी रेखाओं पर एक समान गति से चल फिर सकें। इस तथ्य की, कि द्रव्य के कण इस तरह की कोई

बात नहीं करते—सीधी रेखाओं पर एक समान गति से नहीं चलते—अपितु बदलते हुए वेग से मुड़े हुए मार्गों पर ही गति करते देखे जाते हैं, व्याख्या करने के लिए उसे गुरुत्वाकर्षण की "शक्ति" की कल्पना करनी पड़ी। परन्तु मज़ा तो यह कि, वह "शक्ति" शून्य आकाश में किस तरह और कैसे काम करती थी, इस बात को न तो न्यूटन ही और न कोई अन्य व्यक्ति ही सन्तोषप्रद रूप में समझा सका।

आइन्स्टीन ने "देश" के विषय में पहिले से ही कोई धारणा न बनाई। बात को शुरू करने के पहिले वह मानो इसको (देश को) बिलकुल जानता ही नहीं। वह तो पत्थर के ढेलों ग्रहों, धूमकेतुओं और अन्य पिण्डों को भिन्न-भिन्न वक्राकार या मुड़े हुए मार्गों पर चलते हुए सिर्फ देखता है; और देखता है उनके बदलते हुए वेगों को। यह मान कर कि यह गतियाँ वस्तुओं की अपनी बनावट में स्वाभाविक ही हैं, वह यह पूछ-ताछ करता है कि "देश" और "काल" के ऐसे कौनसे गुण है जो इन गतियों को स्वाभाविक और अवश्यम्भावी बना देते है। गणित के उसके तुल्यक या समीकरण equations ही उसकी पूछताछ का उत्तर दे देते हैं। जिन बातों को होती हुई हम देखते हैं उनमें से कुछ बातों का पूरा और विश्व-प्रकृति से मेल खाता हुआ स्पष्टीकरण गणितके यह तुल्यक दे देते हैं, जो न्यूटन के नियम laws of Newton नहीं दे पाते। सिर्फ अकेले इस कारण ही आइन्स्टीन की कल्पनाओ को, न्यूटन की कल्पनाओं

पर, प्राथमिकता देनी पड़ती है। जिस प्रकार, प्रथम परिच्छेद में वर्णित, कोपर्निकस का सिद्धान्त तो स्वीकार कर लिया गया और टोलेमीका ठुकरा दिया गया, ठीक उसी तरह की बात यह भी है।

यह तो सच है कि ऊपर हमने जिन बातों के होने और देखी जाने का उल्लेख किया है, उनका स्पष्टीकरण न्यूटन के नियम भी दे सकते हैं; यदि हम उनमें कुछ नई धारणाएँ और भी जोड़ दें। जिस प्रकार, प्रथम परिच्छेद में, ग्रहों और अन्य पिण्डों के वेधों से प्राप्त परिणामों को टोलेमी की धारणा में मौजूँ बैठानेके लिए रेखाचित्र १ में दिखलाई गई उसकी आरम्भिक योजना में ज्यादा और, और भी ज्यादा, वृत्त बढाए जा सकते थे, ठीक वही बात हम न्यूटन के नियमों में भी कर सकेंगे। इतना सब होने पर भी वहाँ कोपर्निकस की योजना को ही पसन्द किया गया; क्योंकि केपलर द्वारा दुरुस्त कर दी जाने पर उसमें और कोई पैवन्द लगाने की आवश्यकता न रही। अब यहाँ, न्यूटन और आइन्स्टीन के बीच भी हमें वैसा ही एक चुनाव करना होगा।

जहाँ तक सौर-मण्डल और आकाश-गंगा का सवाल है, न्यूटन और आइन्स्टीन के सिद्धान्तों द्वारा जानी गई द्रव्यात्मक पिण्डों की गतियों में आने वाला अन्तर, उनमें, अत्यन्त ही सूक्ष्म होता है। हाँ; ग्रहों में अलबत्ता एक ग्रह, बुध तो अपनी

पसन्द को खुलेआम व्यक्त करता है और, बिना कोई गलती किये, वह आइन्स्टीन को ही अपना मत देता है।

चलते-चलते बुध के इस मत दान की चर्चा भी कर देते हैं। सूर्य के चारों ओर बुध की भ्रमण-कक्षा दीर्घ-वृत्ताकार है और उस कक्षा पर एक खास बिन्दु ऐसा है जो उसके अन्य बिन्दुओं की अपेक्षा सूर्य के ज्यादा निकट है। इसको बुध का "रविनीच बिन्दु" point of perihelion कहते हैं। यदि अकेला बुध ही सूर्य के चारों ओर घूमता होता तो, न्यूटन के मत के अनुसार, यह बिन्दु हमेशा उस एक स्थान पर ही रहता। परन्तु दूसरे ग्रह बुध पर जो विचलन डालते रहते हैं उनके कारण यह रविनीच-बिन्दु उस कक्षा पर धीरे-धीरे चारों ओर चलता रहता है। इन विचलनों के असर की राशि को हम, गणना करके, बिल्कुल शुद्ध जान भी सकते हैं। बुध की कक्षा के इस बिन्दु की चालें, जो वेधों द्वारा पकड़ी जाती हैं, उन परिणामों से मेल नहीं खातीं जिनको हम न्यूटन के नियमों के अनुसार गणना करके प्राप्त करते हैं। न्यूटन के नियमो मे इनका मेल बैठाने के लिए अनेक कोशिशें की गई, परन्तु वह सब असफल ही रहीं।

आइन्स्टीन के अनुसार तो यह विन्दु हर हालत में, इस कक्षा पर चारों ओर घूमता-फिरता रहेगा—चाहे अकेला बुध ही सूय के चारों ओर भ्रमण करता हुआ क्यों न हो। इस मत के अनुसार, गणना द्वारा प्राप्त राशि में जब अन्य ग्रहो के किए

गए बुध के विचलनों के असर जोड़ दिए जायँ तो योग फल, वेधों से प्राप्त राशि से पूरा मेल खा जाता है। हम बुध की भ्रमण-कक्षा को चित्रित कर रहे है जिसमें इस रविनीचबिन्दु की, सूर्य के निकट, स्थितियां दिखलाते हैं। (रेखाचित्र ३५)

अपने 'सामान्य' सिद्धान्त को व्यक्त करते समय आइन्स्टीन ने दूसरी एक और बात की भविष्य-वाणी की थी। वह गुरुत्वाकर्षण के कारण होने वाले एक छोटे 'लाल-मुडाव' के बारे में थी। इसका हमारे प्रस्तुत विषय के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण इस पर कुछ लिखने की हमें आवश्यकता नहीं।

आइन्स्टीन की एक तीसरी भविष्य-वाणी ने, कुछ वर्षों पहिले, समाचार-पत्रों को उनके मुख-पृष्ठ पर मोटे शीर्षकों के लिए पूरा मसाला दिया था। अखबारों ने इन शीर्षकों को इन शब्दों में सजाया था :—"प्रकाश मुड़ाव लेते पकड़ा गया"; "देश में वक्रता" और "आइन्स्टीन समर्थित" इत्यादि। आइन्स्टीन की भविष्य-वाणी यह थी ; सूर्य के निकट से गुजरते समय प्रकाश अपने सीधे मार्ग से थोड़ा विचलित हो जायगा। सूर्य के एक ग्रहण-काल में, उसकी पाली (limb) के पास दिखने वाले तारों के फोटो-चित्र लिए गये और उनमें वह अपनी हमेशा की स्थितियों से कुछ अलग हटे हुए से देखे गये। यह बात तभी हो सकती थी जब उनका प्रकाश, सूर्य के पास से गुजरते समय, उसकी ओर कुछ थोड़ा हट जाता या मुड़ जाता। आइन्स्टीन की यह तीसरी भविष्य-वाणी भी सच निकली।
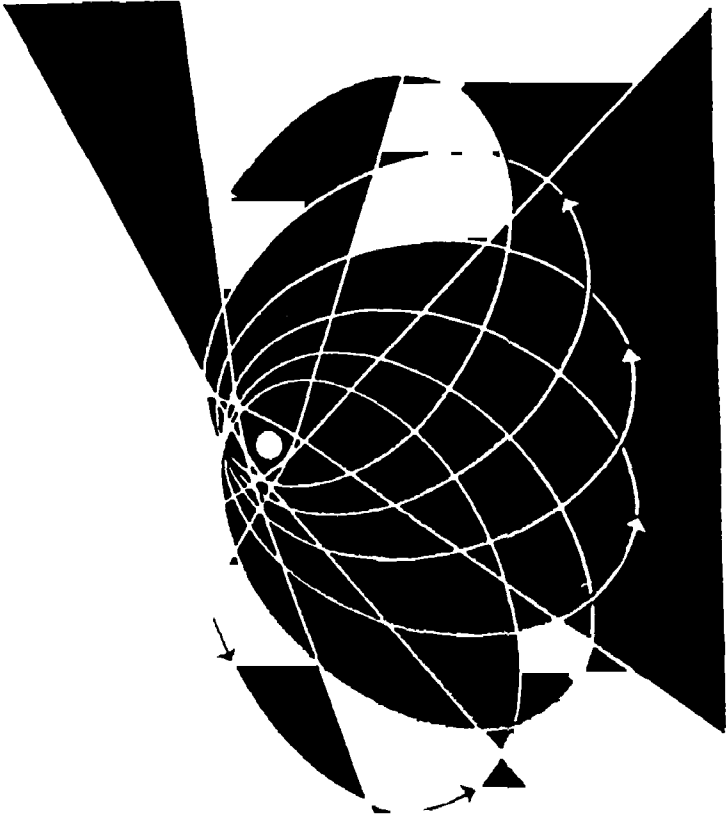
रेखा-चित्र ३५

किसी विशाल-काय पिण्ड के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में से गुजरता हुआ प्रकाश अपने सीधे मार्ग से थोड़ा विचलित हो जाता है। इस चित्र के ठीक बीचोंबीच सफेद गोले के आकार में सूर्य को दिखलाया गया है उसके चारों ओर सीधी, परन्तु सूर्य के पास कुछ मुड़ी हुई, प्रकाश-किरणें दिखलाई गई हैं। सुदूर अनन्त के तारों से हमारी पृथ्वी की ओर आती हुई इन प्रकाश-किरणों का सूर्य के पास यह विचलन कुछ बढ़ा कर दिखलाया गया है। सूर्य के पास इन किरणों का यह विचलन ·००२° से भी कुछ कम ही होता है। (पृष्ठ ३८२)

यहाँ, इस विषय में, विचार करने की बात यह है कि न्यूटन के नियमो के अनुसार कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई पड़ता जिससे यह माना जाय कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति प्रकाश पर भी कोई असर डालती है। परन्तु यह एक तथ्य है, और इसको देखते हुए एक धारणा और कर ली जाती है कि ऐसा होता है; अर्थात् गुरुत्वाकर्षण की शक्ति प्रकाश पर भी असर डालती है। ऐसा मान कर इस असर या विचलन की मात्रा को, गणना करके, जान लेते है। यह तो हुई न्यूटन की बात। आइन्स्टीन के मत में तो सूर्य के निकट से गुजरते समय प्रकाश को 'अवश्य' ही वक्राकार या मुड़ा हुआ मार्ग बनाना होगा। यह अवश्यम्भावी है, टाला जा ही नहीं सकता। यह बात स्वयं इस सिद्धान्त की ही एक अंग है और किसी बाहरी धारणा के लिए, यहाँ कोई गुञ्जायश नहीं।

एक बात और। आइन्स्टीन के मत से प्रकाश के ऐसे विचलन की मात्रा-राशि उसकी उस मात्रा-राशि से दुगुनी है जो न्यूटन के नियमो के सही होने पर होती और जब एक मनमानी धारणा और भी बनानी होती कि गुरुत्वाकर्षण से प्रकाश भी प्रभावित होता है।

इन विचलनों को देख पाना बहुत ही मुश्किल है। आज तक तो यह बात एक दृढ़ विश्वास के साथ नहीं कही जा सकती कि ऐसे किसी एक विचलन की कोई राशि देखी भी जा चुकी है जो आइन्स्टीन का पलड़ा भारी कर सके। परन्तु यह

तथ्य, कि विचलन होता तो अवश्य है, आइन्स्टीन के सिद्धान्त को पुष्ट करता है ; क्योंकि ऐसा विचलन उसके सिद्धान्त का तो एक आवश्यक अङ्ग है, परन्तु न्यूटन के नियमों का नहीं।

गुरुत्वाकर्षण को आइन्स्टीन किस रूप में देखता है, इसे समझने के लिये हमें एक उत्थापक a lift cage के भीतर, कुछ विशेष हालतों में, किये जाने वाले प्रयोगों की कल्पना करनी होगी। हम में से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने उत्थापक या लिफ्ट lift तो देखे ही होंगे। बड़े शहरों में, ४ मञ्जिलों से लेकर पाँच-छै या सात मञ्जिलों तक के ऊँचे मकान बनाए जाते हैं। उन ऊँची मंजिलों में सीढ़ियों से चढ़कर जाने और फिर वापिस उतर कर आने में काफी परिश्रम और थकावट हो जाती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए ही, सीढ़ियों के ठीक बगल में ऐसे उत्थापक (lifts) लगाये जाते हैं जो बिजली की शक्ति से ऊपर-नीचे आते-जाते हैं। ऐसे एक उत्थापक में, आइन्स्टीन के कहे अनुसार सफल प्रयोग करने में जिन विशेष हालतों की जरूरत होती है, उनमें से कुछ तो अभी व्यवहार में लाई नहीं जा सकती हैं ; परन्तु एक सिद्धान्त के रूप में वह असम्भव भी नहीं है। इस उत्थापक के भीतर प्रयोग के दौर में जो कुछ भी होता है, और आइन्स्टीन इसका जो वर्णन करता है, उसकी सचाई में किसी को कोई सन्देह नहीं है ; यद्यपि इन प्रयोगो के भावी महत्व के विषय में आइन्स्टीन की अपनी राय से सहमत होना या न होना प्रत्येक व्यक्ति की मर्जी पर है।

उत्थापक में खड़े हुए एक व्यक्ति के साधारण अनुभव एक सीमा में बँधे हुए ही होते हैं। उत्थापक के चालू होने के पहिले वह व्यक्ति किसी तरह की कोई सन-सनी महसूस नहीं करता। जब उत्थापक ऊपर की ओर चलने लगता है तब जाकर उसे (व्यक्तिको) एक क्षणिक सन-सनी-सी मालूम होती है; मानो उसका वजन कुछ बढ़-सा गया हो। ऊपर किसी एक मञ्जिल पर जाकर जब यह उत्थापक रुकता है, उसके ठीक पहिले क्षण भर के लिए वह व्यक्ति अपने वजन में हलकापन महसूस करता है। अब, यदि उत्थापक ऊपर से नीचे की ओर चले तो यही सनसनियाँ उस व्यक्ति को ठीक उलटे क्रम में महसूस होंगी। जब उत्थापक नीचे की ओर चलना शुरु करेगा तो क्षणभर के लिए वह व्यक्ति अपने आपको, वजन में, हलका-सा महसूस करेगा और नीचे आकर जब उत्थापक रुकने लगेगा तो क्षणभर के लिए उसका वजन बढ़-सा जायगा। कोई भी व्यक्ति एक लिफ्ट पर चढकर इन बातों को व्यवहार में परख सकता है।

अगर वह रस्से जिन पर यह उत्थापक लटका हुआ है, अचानक टूट जाँय और सुरक्षा के लिए बनाए गये अन्य साधन यन्त्र भी असफल हो जाँय, और इस कारण यह उत्थापक अत्यन्त शीघ्र वेग से एकदम नीचे उतर पड़े तो, इस उतराई के दौर में, इसके भीतर खड़ा हुआ वह व्यक्ति कुछ क्षणों तक अपने आपको वजन में सचमुच ही बहुत हलका महसूस करेगा। सच

तो यह होगा कि उसका तब कोई वजन ही न होगा। उत्थापक की फर्श की सतह, तब, उसके पैरों पर ऊपर की ओर दबाव न डालेगी और न उसके अपने ही पैर उस सतह पर नीचे की ओर दबाव डालते होंगे। यदि वह व्यक्ति, इस दौर के बीच, किसी वस्तु को अपने हाथ से छोड़ भी देगा तो वह वस्तु नीचे की ओर न गिरेगी ; ऐसा मालूम होगा मानो वह वस्तु बिल्कुल अधर बीच में खड़ी हो। अगर उस वस्तु को वह व्यक्ति उत्थापक के बाहर फेंकेगा तो वह वस्तु सामने की ओर, एक सीधी रेखा में ही चलती चली जायगी। इस यकायक उतराई में उस व्यक्ति के वजन में जो कुछ भी कमी आई हुई-सी मालूम होगी उसकी पूर्ति, उत्थापक के नीचे जाकर ठहरते समय, वजन में हुई विशेष वृद्धि के रूप में हो जायगी ; परन्तु दर अस्ल, बात तो यह है कि उस दशा में कोई प्रयोग कर पाना ही सम्भव न हो सकेगा।

आइन्स्टीन इन बातों पर बहुत जोर देता है ; और इनका खण्डन कोई कर भी नहीं सकता, कि यकायक गिरते हुए इस उत्थापक में पाई जानेवाली उक्त सभी अवस्थाएँ उन सभी अवस्थाओं से मिलती जुलती ही होंगी, जो अवस्थाएँ पृथ्वी और तारों से दूर शून्य आकाश में बाहर की ओर गिरते हुए एक उत्थापक में पाई जायगीं। न्यूटन की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति वहाँ अनुपस्थित होगी ; कुछ भी गिरेगा नहीं; फेंकी हुई वस्तुएँ सीधी रेखाओं में ही चलेंगीं; हमारे पैर, यदि हम वहाँ हों तो, किसी

भी वस्तु पर लगातार दबाव डालते हुए न होंगे और न कोई अन्य वस्तु ही हमारे पैरों पर कोई दबाव डालती हुई होगी। आइन्स्टीन आग्रह करता है कि हम इस बात को और इस बात के परिणामों को मान लें।

मान लीजिए कि, अब, तारों के बीच दौड़ने वाले एक उत्थापक में राकेट-मशीन बैठा दी गई है, जिससे कि ऊपर की ओर होनेवाली इसकी गति को उस गति के हिसाब से बढ़ाया जा सके जिस गति से वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं। भौतिक-विज्ञान का एक गति विषयक नियम a law of motion यह है कि कोई एक वस्तु, मुक्तरूप में गिरते समय, अपने गिरने के वेग को प्रत्येक सेकेण्ड ३२ फीट के हिसाब से बढाती जाती है। इस उत्थापक में लगे रोकेटों को यदि इस प्रकार व्यवस्थित और सुयोजित कर लिया जाय कि इसका वेग प्रत्येक सेकेण्ड में ३२ फीट बढता चला जावे, तो इसका परिणाम यह होगा कि उत्थापक का फर्श, तब, भीतर खड़े व्यक्ति के पैरों पर ऊपर की ओर ठीक वैसा ही दबाव डालना शुरु कर देगा जैसा कि पृथ्वी पर। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि उस व्यक्ति के पैर, तब, उत्थापक के फर्श को नीचे की ओर दबाने लगेंगे। यदि वह व्यक्ति, तब, कोई वस्तु अपने हाथ से गिराएगा तो वह फर्श पर जा गिरेगी। यदि उस वस्तु का वह बाहर फेंकेगा तो वह (वस्तु) एक वक्राकार मार्ग बनाएगी ; ऐसा मालूम होगा, जैसे कि वह वस्तु नीचे की ओर वेग पकड़ती हुई चली जा रही हो। यह सब

बातें ठीक उसी तरह होंगी जैसी कि वह पृथ्वी पर रोज हमारे अनुभवों में होती रहती हैं।

गति-विषयक कोई भी प्रयोग जो इस उत्थापक में खड़े होकर उक्त हालतों में किए जांयगें और उनसे जो परिणाम निकाले जांयगें, वह किसी तरह भी उन परिणामों से भिन्न न होंगे जो कि पृथ्वी पर ही किसी एक उत्थापक में किए गये प्रयोगों से उपलब्ध होंगे। एक बार और, आइन्स्टीन आग्रह करता है कि हम इन परिणामों और उनके सभी मतलबों को मान लें।

इन मतलबों में से एक तो यह है: राकेट-मशीन द्वारा चलाए गये उस उत्थापक में बाहर से आती हुई कोई प्रकाश-किरण यदि प्रवेश करे और, उसके भीतर से उसे पार करे, तो वह किरण, अवश्य, नीचेकी ओर मुड़ जायगी। इसका कारण यह होगा कि जितने समय में प्रकाश की यह किरण उत्थापक के एक ओर से दूसरी ओर जाकर उसे पार करेगी, उतने समय में यह उत्थापक ऊपर की ओर कुछ अधिक वेगशील हो जावेगा। प्रकाश-किरण का यह मुड़ाव, उस उत्थापक के अधिक वेग पकड़ने की क्रिया का ही, एक स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम होगा; ठीक वैसे ही जैसे कि उस वस्तु का, जिसे हमने अपने हाथों से नीचे गिरने दिया था, नीचे गिरते समय अधिक और अधिक वेग पकड़ना उसका स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम ही था।

क्योंकि, पृथ्वी पर के एक उत्थापक में जो हालतें होगी उनमें

और उस राकेट-चालित उत्थापकमें की हालतोंके बीच हम कोई भी भेद नहीं बता पाते; इसलिए हमें इस नतीजे पर पहुँचना ही होगा कि वह दोनों हालतें एक जैसी ही हैं।

हमें लगता है, मानो हमारी पृथ्वी हमें नीचे की ओर खींचे ले रही है और इस प्रकार हमारे वजन का हमें भान कराती रहती है, वस्तुओं को नीचे गिराती है और ऐसे अनेक काम करती रहती है; परन्तु सत्य तो कुछ और ही है। वास्तव मे, पृथ्वी तो ऐसे कोई भी काम नहीं करती। उसने (पृथ्वी ने) तो महज अपने चारों ओर के "देश" space या आकाश के गुणों को इतना बदल दिया है कि इसके प्रभाव से, हमारी स्थिति को बिना बदले ही, हम ऊपर की ओर अधिक और अधिक वेग से खिंचे जा रहे हैं। जब उत्थापक के रस्से टूट जाते है, तो यह उत्थापक स्वयं और इसके भीतर की प्रत्येक वस्तु स्थिर रहती है, जब तक कि उत्थापक के डण्डों की निचली सतह लौटकर उस पर प्रहार न करे।

उन दोनों हालतों में–पृथ्वी पर के एक उत्थापक की ओर राकेट-चालित उत्थापक की—कोई भी भेद बता पाने मे असमर्थ होने के कारण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि बाहर से आने वाली कोई प्रकाश-किरण, पृथ्वी पर स्थित खड़े एक उत्थापक मे होकर गुजरते समय, नीचे की ओर कुछ मुड़ जायगी। सच तो यह है कि यह केवल उत्थापक की ही बात नहीं है; पृथ्वी पर, सर्वत्र, ऐसा ही होता है। प्रकाश-किरणों

का यह नीचे की ओर का मुड़ाव एक बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में होता रहता है। यह मुड़ाव इतना छोटा या कम होता है कि इसे हम नाप नहीं सकते। इसके इतना छोटा होने का कारण यही है कि, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण होने वाली गति की तेजी प्रत्येक सेकण्ड मे सिर्फ ३२ फीट ही होती है। सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण गति में होने वाली तेजी बहुत अधिक होती है और इस कारण सूर्य के द्वारा हुआ ऐसा कोई भी मुड़ाव नाप में आ सकता है।

यदि कोई व्यक्ति ऊपर लिखे हुए इन परिणामों को वाहियात कहकर ठुकरा देना चाहे तो, ऐसा करने के पहिले उसे यह स्मरण कर लेना चाहिए कि इन्हीं परिणामों के आधार पर आइन्स्टीन ने पहिले से ही कह दिया था कि किसी एक तारे का प्रकाश, सूर्य के निकट से गुजरते समय, अवश्य अपने सीधे मार्ग से कुछ विचलित हो जावेगा। बाद में आइन्स्टीन के ऐसा कहने के चार वर्ष बाद ही, एक पूर्ण सूर्य-ग्रहण के अवसर पर नाक्षत्रिक विद्वानों ने सूर्य के काले पड़े हुए बिम्ब और उसके आस-पास के क्षेत्र के फोटो-चित्र लिए और इनमें दिख पड़नेवाले तारे, अपनी हमेशा दिख पड़नेवाली स्थितियों से कुछ अलग हटे हुए से देखे गये। आइन्स्टीन ने इस विचलन की राशि भी बता दी थी; वह भी करीब-करीब उतनी ही पाई गई। किसी भी अन्य व्यक्ति ने, किसी विरोधी सिद्धान्त के आधार पर, आज तक तो कभी ऐसी कोई भविष्यवाणी नही

की। इसलिए ही आइन्स्टीन की स्थापनाओं ने आज मैदान मार रक्खा है।

आइन्स्टीन के सिद्धान्तों ने विश्व-विज्ञान को बहुत कुछ दिया है और इस दान की बदौलत ही आज यह विज्ञान इतना पुष्ट, सजाबजा और तथ्योन्मुख हो सका है। इन सिद्धान्तों ने न केवल "ईथर" के मिथ्या विश्वास के बोझ से हमारे विचारों को मुक्त किया; अपितु, इसके साथ-साथ उस प्रचलित मान्यता को भी, कि "देश" एक अचल आधार है और उसमें सभी वस्तुओं की "निरपेक्ष" absolute गतियों को व्यक्त किया जा सकता है, एक घातक धक्का दिया। आइन्स्टीन ने बताया कि "देश" (हमें तो "देश-काल" कहना चाहिए) के गुण स्वयं उस द्रव्य द्वारा ही बनाये जाते हैं जिसको वह अपने में लिए हुए है। "देश" और द्रव्य, दोनो ही एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। वास्तव में "देश" सर्वत्र एक ही नहीं है।

विश्व का रूप या आकार

तारों के प्रकाश की वक्रता को लेकर की गई आइन्टीन की भविष्यवाणी की विजयपूर्ण सचाई सिद्ध हो जाने के बाद अव विश्व-विज्ञान के सिद्धान्तवादी पण्डित, विश्व-ब्रह्माण्ड के समूचे आकार की वक्रता को लेकर अटकले लगाने लगे है। इस विषय में वह तीन प्रधान सम्भावनाओ की ही कल्पना करते है :—

(१) यह विश्व, यूक्लिड की रेखागणित के ही एक आकार का है— इसमें वक्रता बिल्कुल नहीं और इसके भीतर, एक सीधी रेखा ही किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की सबसे कम और छोटी दूरी है। (रेखा-चित्र ३६-२)

(२) इसमें घन-वक्रता positive curvature है। इसके भीतर किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की सबसे छोटी दूरी एक, अपने-आपमें ही बन्द होनेवाला वक्र है; ठीक वैसा ही जैसा कि पृथ्वी के गोले globe की सतह पर देशान्तर-रेखाओं meridians of longitude के बने बड़े वृत्त हैं। (रेखाचित्र ३६-१)

(३) इसमें ऋण-वक्रता negative curvature है—घोड़े की पीठ पर कसे जानेवाले जीन saddle की सतह के अनुरूप। इसके भीतर किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की सबसे छोटी दूरी एक परवलय a parabola अथवा एक अति-परवलय a hyperbola की तरह खुली वक्रता के नमूने की है। (रेखाचित्र ३६-३)

सृष्टि-वैज्ञानिकों को आशा है कि अनन्त "देश" में आकाश-गंगाओं या नीहारिकाओं के विभाजन या चुँटाव apportionment का विश्लेषण करने और उन सबको गिन पाने के बाद ही वह इन तीनों सम्भावनाओं में से किसी एक को चुन पावेंगे।

यह मान्यताएँ समझने में मुश्किल जरूर हैं, परन्तु विश्व के फैलाव के साथ इस प्रकार गुँथी हुई हैं कि इन्हें अलग किया ही
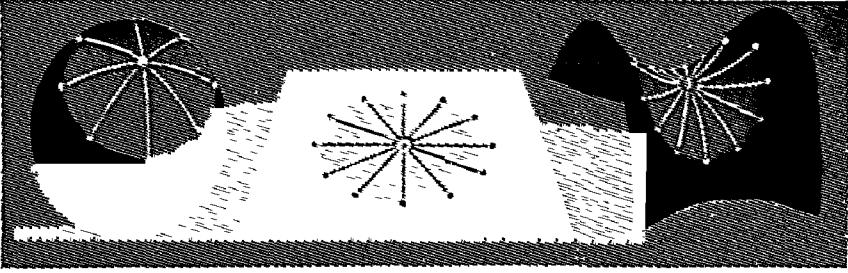
(१) (२) (३)

रेखा-चित्र ३६

इस चित्र मे विश्व के तीन स्वरूपों का चित्रण किया गया है :—
(१) धन-वक्रता लिए हुए (Positively Curved) (२) वक्रता-रहित (uncurved), (३) ऋण वक्रता लिए हुए (negatively curved) । पहिला स्वरूप गोलाकार है, दूसरा सपाट चौरस है, तीसरा है घोड़ों की पीठ पर कसे जाने वाले जीन (saddle) की तरह । सफेद धारीदार प्रत्येक आकार विश्व का, जितना हम उसे देख पाये हैं, चित्रण करता है। तीनों स्वरूपों के केन्द्र मे जो सफेद गोले हैं वह हमारी अपनी पृथ्वी है ओर प्रत्येक सफेद रेखा के किनारों पर दिखलाये गये गोले हैं दूर की नीहारिकाएँ। सफेद रेखाएं प्रकाश-किरणों की द्योतक हैं जो हमेशा छोटे से छोटे मार्ग पर ही चलना पसन्द करती हैं ।

नहीं जा सकता। साथ ही, इस विश्व की कोई सीमा-रेखाएँ भी हैं या नहीं, इस प्रश्न को लेकर पुराने जमाने से चले आ रहे विवाद के साथ भी यह मान्यताएँ इसी प्रकार बँधी हुई हैं। यदि यह विश्व यूक्लिड की रेखा-गणित के ही किसी एक आकार का है तो इसकी कोई सीमा-रेखाएँ है ही नहीं। यदि यह ऋणीय-वक्रता लिए हुए negatively curved है, तो उस हालत में भी यह असीम ही है; क्योंकि तब इसके बाहर की ओर के सभी अवयव (नीहारिकाएँ) वक्र होकर एक-दूसरे से दूर-दूर होते चले जाते है। परन्तु; यदि यह धनीय वक्रता लिए हुए positively curved है तो, उस हालत में, एक साथ अपने-आपमें पूर्ण और असीम—दोनों ही गुणों का है; जिस प्रकार हमारी पृथ्वी की सतह जो यद्यपि अपने-आपमें पूर्ण है, फिर भी इसकी कोई सीमा-रेखाएँ नहीं हैं।

इस बात को, कि विश्व अपने-आपमें पूर्ण है यद्यपि है वह असीम ही, हम कुछ थोड़े विस्तार के साथ कहना चाहते हैं। यह बात सापेक्षवाद की स्थापनाओं की ही एक आवश्यक और अवश्यम्भावी निष्कर्ष है और इसको अनेक वैज्ञानिको का समर्थन भी प्राप्त हो चुका है—ऐसे वैज्ञानिकों का, जिनकी राय को सृष्टि-विज्ञान के क्षेत्र में काफी आदर दिया जाता है।

विश्व, यदि अपने-आपमें पूर्ण परन्तु असीम हो, तो यह एक ऐसा विश्व होगा जो अपने-आप पर स्वयं एक वक्रता थोपेगा। इस बात को यदि हमें समझना हो, तो उन परम्परा-

गत संस्कारो को हमें एकबार भूल ही जाना होगा, जिन्हें यूक्लिड की रेखा-गणित ने हममें भर दिए है। विश्व की अपने ऊपर स्वयं लादी गई इस वक्रता को देखकर, अब हम यह कल्पना करने लगे है कि जो मार्ग हमें बिल्कुल सीधा दिख रहा है, उस पर चलते-चलते, एक दिन अवश्य ही हम अपने-आपको फिर अपने घरों में ठीक उन्ही स्थानों पर पावेंगे जहाँ से हमने अपनी यह यात्रा आरम्भ की थी। हमारी मार्ग-प्रदर्शक प्रकाश-किरणें ही, स्वयं हमारे लिए एक सीधे मार्ग की कसौटी हैं। परन्तु यह कसौटी खरी नहीं उतर रही है। हो सकता है; हमने ही इस कसौटी पर पड़ी लकीरां को पढ़ने में गलती की हो। आज के युग का एक महान् वैज्ञानिक, आइन्स्टीन तो यही कहता है।

अपनी इस यात्रा पर, समूचे मार्ग में ही, हमें कोई सीमा, कोई विभाजक रेखा या कोई रुकावट नहीं मिलती है। अपनी जान में तो हम हमेशा ही एक सीधी रेखा पर चलते रहे हैं— प्रकाश-किरणों की एड़ियों पर अपने पैरों के पञ्जे गड़ाए हुए; और एक समय (और सचमुच एक बहुत ही लम्बे समय) बाद हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर, पास-पड़ौस के दृश्य तो बिल्कुल परिचित, जाने-पहिचाने से हैं; हम अपने ही घरों को लौट आये है।

एक बात और भी है। यह मान्यता हमें इसी नतीजे पर ला पहुचाती है कि ऐसा विश्व कभी स्थायी हो ही नहीं सकता। यह इसकी आदत ही होगी कि अपनी रूप-रेखाओ को बदलता

रहे; या तो क्रमशः छोटा होता जावे या बड़ा। अपनी इस आदत के अनुसार यदि यह बड़ा ही होता जा रहा हो तो इसमें के सभी पिण्ड एक-दूसरे से दूर-दूर होते जावेंगे। ठीक यही बात हमारी नजरों में पड़ भी रही है। इस बात को हम यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि वर्णपटों में प्रकाश-किरणों के लाल-छोर की ओर के मुड़ाव the red-shifts (बारहवाँ परिच्छेद) इस कल्पना या मान्यता के सामञ्जस्य में ही हैं—इससे पूरा मेल खाते है।

एकबार, और हम आइन्स्टीन की कल्पनाओं के परिणामों को, दिख पड़नेवाली बातों के साथ, हूबहू मिलते पा रहे हैं। विश्व के प्राङ्गण में अबतक जो कुछ भी हम देख चुके है वह सब एक पूर्ण, असीम और वक्रता लिए हुए चौखटे—"देश-काल" के चौखटे Space—time continuum के पूरे सामञ्जस्य में ही है। इस चौखटे मे नीहारिकाएँ (आकाश-गंगाएँ, जैसा कि कुछ विद्वान् इनको कहना पसन्द करते हैं) काफी घनी जड़ी हुई है और यह चौखटा, लगातार आगे की ओर फैलता जाता है। इस फैलाव के साथ-साथ इसकी वक्रता का अर्ध-व्यास radius भी, उसी क्रम में बढ़ता चला जाता है।

प्रकाश-किरणो के "लाल-मुड़ाव", फड़कनो और दूरी का परस्पर सम्बन्ध, सूर्य के निकट से गुजरते हुए प्रकाश का मुड़ जाना—यह सभी बातें विचित्र और भविष्य-सूचक हैं। यदि

कभी विश्व के रहस्यों का अन्तिम हल पाया भी जायगा तो वह भी इतना ही विचित्र और भविष्य-सूचक होगा।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

विश्व की उत्पत्ति और उसकी द्रव्य-मात्रा

बारहवें परिच्छेद में हमने विश्व के एक विलक्षण पहलू पर प्रकाश डाला था। सुदूर अनन्त की अगाध गहराइयों में दूर-दूर भागती हुई नीहारिकाओं और उनके गुच्छों से आती हुई प्रकाश-किरणें हमारी दूरबीनों में लगे हुए फोटो-प्लेटों की कसौटी पर "लाल-मुड़ावों" (the red shifts) के जो चिह्न अङ्कित करती हैं उनके अर्थ हम निःसन्दिग्ध रूप में यही लगाते हैं कि वह हमसे दूर-दूर, आगे और, और भी आगे, भागी जा रही हैं। अब, यदि हम इस अर्थ पर पूरा भरोसा रखकर यही मान लें कि वह सब नीहारिकायें अरबों वर्षों से उन्हीं सापेक्ष दिशाओं में और उन्हीं सापेक्ष वेगों से दूर-दूर दौड़ी चली जा रही है, तो हम अनिवार्य रूप में इसी एक निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन सबने एक दिन एक ही स्थान से और एक ही समय यों दौड़ना शुरू किया था। सीधे शब्दों में इस बात का अर्थ यह

होगा कि उस एक दिन इस विश्व-ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ था। उस दिन ही विश्व के सभी छोटे और बड़े पिण्ड एक ही माँ के गर्भ से एक ही साथ जन्म लेकर एवं अपनी उस माँ से ही अपरिमित गति और शक्ति लेकर अनन्त के महापथ पर यात्रा करने को चल पड़े थे। उस दिन ही विश्व का यह समूचा दृश्य अस्तित्व में आया था।

हमारे आज के प्रौढ़ विज्ञान-शास्त्र के हाथ में जाँच-पड़ताल करने के अनेक साधन हैं। उनके बल पर विज्ञान ने उन नीहारिकाओं के दूर भागने की गतियों के वेगों को जान कर जो गणनाएँ की हैं, वह सब इस बात की ओर ही इङ्गित करतीं हैं कि "अनन्त देश" (space) में उन पिण्डों की दौड़ का आरम्भ आज से करीब ५ अरब वर्ष पहिले हुआ था। पृथ्वी के चिप्पड़ों (crusts) में पाये जाने वाले रेडियो-धर्मी (radio active); जो पदार्थ अपनी किरणो को निरन्तर धीरे-धीरे बिखेर रहे हों) पदार्थों की सम्भव उम्र की छानबीन करने पर जो संख्या जानी गई है, वह ठीक यही ५ अरब वर्षों की है। यह एक असाधारण सामञ्जस्य है। इसके सिवाय, एक और बात भी उक्त संख्या को पुष्ट करती है। तारों के विकास-क्रम के अध्ययन के सिलसिले में उनमें सबसे अधिक बूढ़े या पुराने तारे का सम्भव उम्र भी ठीक यही, ५ अरब वर्ष, आँकी गई है।

विश्व के बढ़ते हुए फैलाव (the expanding universe) को लेकर वैज्ञानिको ने काफी मगज-पच्ची की है। इसके स्पष्टी-

करण में उन्होंने अपने भिन्न-भिन्न मत पेश भी किये हैं। उन सब मतों पर हम, अब प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

बेल्जियम देश के एक सृष्टि-वैज्ञानिक एब्बे लीमैत्र (Abbe Le Maitre) का यह मत है कि नीहारिकाओं के दूर-दूर भागने की क्रिया का आरम्भ एक अति महान् विस्फोट से हुआ था—एक अति-अणु (a super atom) के आदिम प्रचण्ड विस्फोट से। विस्फोट करने वाले उस अति-अणु के दूर-दूर भागते हुए टुकड़ों को ही हम आज अनन्त के इन ज्योति-पिण्डों के रूप में देख रहे हैं।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के जार्ज वाशिंगटन, विश्वविद्यालय के डा० जार्ज गैमोव (Dr. George Gamove) ने, अभी हाल में ही, कुछ थोड़े हेरफेर के साथ लीमैत्र के इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया है कि आज से प्रायः ५ अरब वर्ष पहिले यह समूचा विश्व, एक गर्भस्थ शिशु की तरह, अत्यन्त सिकुड़ी, सिमटी-सी पुञ्जीभूत अवस्था में था। उस पुञ्ज का समूचा द्रव्य या पदार्थ (matter) और किरण-प्रसरण (radiation) लगातार सिकुड़ते और सिमटते हुए एक ही जगह जमघट-सा करते गये। ऐसा करते-करते वह उस एक जगह पर भिंचकर अविश्वसनीय मात्रा (mass) और घनत्व (density) के आदिम कणों का एक घोर धधकता हुआ पिण्ड बन गये। द्रव्य के इस सिकुड़न को गैमोव ने य्लेम (ylem) नाम दिया; यह शब्द पुरानी

अँग्रेजी भाषा का है जिसका अर्थ है "सभी वस्तुओं के आदिम संक्षिप्त रूप।"

सिकुड़े हुए मात्रा और किरण-प्रसरण के उस पुञ्जीभूत पिण्ड का तापमान खरबों ही अंशों पर था। इतने घोर ऊँचे तापमान पर कोई अणु तो रह ही नहीं सकता था; सिर्फ एक दूसरे से आजाद कुछ आणविक कण (atomic particles) ही वहाँ थे। उन कणो में भी भारी विक्षोभ था और उनमें किसी तरह की व्यवस्था भी नहीं थी। जब उस सिकुड़न की अति हो चुकी, अपनी पराकाष्ठा तक जा पहुँचा—तब विश्व-मात्रा (the cosmic mass) का वह पुञ्ज फैलने लगा। उसमें से निकल-निकल कर प्रकाश और दूसरे विद्युत्-चुम्बकीय किरण-प्रसरण (electro-magnetic radiation) अनन्त शून्य में चारों ओर उड़ने लगे। उस पिण्ड का तापमान भी धीरे-धीरे गिरने लगा। गिरते-गिरते वह तापमान जब एक खरब अंशों पर आ पहुचा तो कणों को एक दूसरे से अलग रखने वाला उसका नियन्त्रण भी ढीला पड़ने लगा। आजादी पाकर वह कण भी आपस में, एक दूसरे मे, मिलने लगे। उनके एक दूसरे में मिलने से अणु बने। जैसे-जैसे उस पुञ्ज की आदिम गैस-वाष्प (vapour) वाहर की ओर उड़ती और ठण्डी होती गई, उसमें के विक्षोभ ने गुरुत्वाकर्षण (gravitation) के साथ मिलकर उस पुञ्ज में प्रचण्ड बवण्डर उठाने शुरू किये। उन ववण्डरों से ही आगे जाकर आकाश-गंगाएँ या नीहारिकाएँ और उनके गुच्छे बने।

शुरू में, पहिले तो वह सब नीहारिकायें अन्धकार में लिपटी हुई थीं; परन्तु चक्कर मारते हुए उन अन्धकारावृत द्रव्य-बादलों में से धीरे-धीरे जमजम कर तारे फूटते और शून्य अनन्त में चमकते चले गये।

पिछले वर्षों में किये गये अनन्त के ज्योति-पिण्डों के वेधों से ऐसे प्रमाण जुट चुके है जो इस बात को ही पुष्ट करते हैं कि सभी नीहारिकायें एक ही साथ और एक ही समय जन्मी थीं। खगोल-वैज्ञानिकों ने यह देखा है कि अत्यन्त दूर की शङ्खाकार नीहारिकायें, अपेक्षाकृत पास की नीहारिकाओं की तुलना में, बहुत ज्यादा लाल हैं; और यह भी कि उनके रंगों की इस गहराई का कोई एक सन्तोषजनक स्पष्टीकरण 'लाल-मुड़ावों' की कसौटी पर नहीं हो पाता।

उनकी इस गहरी ललाई का केवल एक ही समाधान हो सकता है; वह यह कि यदि हम यह मान लें कि सुदूर की उन अधिक गहरे लाल रङ्ग की नीहारिकाओं में, पास की नीहा-काओं की अपेक्षा, अधिक बड़े और अधिक चमकीले "लाल तारों" (the red gaints) की बहुतायत है। परन्तु एक मुश्किल और भी है; सुदूर की उन शङ्खाकार नीहारिकाओं को हम केवल उनके प्रकाश द्वारा ही देख पाते हैं, और वह प्रकाश होते हैं एक या दो अरब वर्ष पुराने। पास की नीहारिकाओं को झलकाने वाले उनके अपने प्रकाश, केवल कुछ दस लाख वर्ष पहिले के ही होते हैं। इस प्रकार मुश्किल यह होती है कि पास

की उन नीहारिकाओं के अपेक्षाकृत बड़ी उम्र के रूपों को ही हम देख पाते हैं; जब कि दूर की उन नीहारिकाओं के बहुत पहिले के और इस कारण उनकी छोटी उम्र के रूप ही हमें आज दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट ही इन हालतों में हम उन दोनों नीहारिका-वर्गों की एक शुद्ध तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि "अतिदैत्य लाल तारे" (the red super giants) अपनी विकास-प्रक्रिया में जल्दी बढ़ते और जल्दी ही जलकर भस्म भी हो जाते है, इसलिए अपेक्षाकृत पास की उन नीहारिकाओं में, जो अब तक बूढ़ी हो चुकी होती हैं, वह तारे भी प्रायः पहिले ही खत्म हो चुके होते हैं; जब कि अपेक्षाकृत दूर की नीहारिकाओं में वह तारे आज भी प्रखरता से जलते हुए देखे जाते हैं। पास और दूर की सभी नीहारिकाओं के एक ही साथ और एक ही समय जन्म लेने की अवस्था में उनके रङ्गों में जो आपस में फर्क पड़ता है वह, वास्तव में, उतना ही देखा जाता है। इस कारण यह बात ही ठीक मालूम होती है कि वह सब नीहारिकाएँ एक ही साथ वनी हैं।

इस मत को "महान् विस्फोट मत" (The Big Bang Theory) कहते है।

गैमोव के इस मत के विरूद्ध ब्रिटेन के कुछ विश्व-वैज्ञानिकों ने अपना एक भिन्न मत प्रस्तुत किया है। इस मत को "निरन्तर निर्माण मत" (The Theory of Continuous Creation) कहते है। इस मत के अनुसार यह विश्व हथौड़े की किसी

एक ही चोट में नहीं बन गया है। यह एक "निरन्तर स्थिति-स्थापक" (a "steady state" universe) विश्व है। वास्तव में, इस विश्व के निर्माण का कोई एक निश्चित आदि-काल है ही नहीं। इसके निर्माण की प्रक्रिया तो निरन्तर चालू रहती है। अनन्त में (in space) सर्वत्र पदार्थ (matter) का निरन्तर निर्माण होता रहता है और विश्व के निरन्तर आगे बढ़ते रहने (परिच्छेद १२) के कारण होनेवाले नीहारिकाओ के अन्तवर्ती शून्य क्षेत्रों में उस पदार्थ से बन-बन कर नयी-नयी नीहारिकाएँ उन रिक्त जगहों पर आ बैठती हैं।

यहाँ अनायास ही हमें महाभारत-कार महर्षि व्यास का स्मरण हो आता है। अपने इस महान् ग्रन्थ के वन-पर्व में देव-सेनापति कार्तिकेय स्कन्द के जन्म और पराक्रम का वर्णन करते हुए व्यास ने लिखा है :—

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजास्वसा।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुंवनं गता॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्रंते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम्।
कालंत्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय॥
एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भातितद् वह्निदैवतम्॥

(म० भा० वन पर्व २३०।८,९, ११)

अर्थात्; रोहिणी (एक नक्षत्र मण्डल या नीहारिका) की छोटी बहिन अभिजित् देवी (दूसरी एक छोटी नीहारिका)

स्पर्धा के कारण ज्येष्ठता पाने की इच्छा से तपस्या करने के लिए वन में चली गई है (अनन्त में दूर, बहुत दूर, भाग कर due to expansion अब अदृश्य हो गई है)। तुम्हारा कल्याण हो, आकाश से यह एक नक्षत्र च्युत हो गया है; (इसकी पूर्ति कैसे हो?) इस प्रश्न को लेकर मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। स्कन्द। तुम ब्रह्मा (पदार्थ matter) के साथ मिल कर इस उत्तम काल (नीहारिका) की पूर्ति के उपायका विचार करो। इन्द्र के ऐसा कहने पर छहो कृत्तिकाएँ (वृष राशि का नीहारिका-गुच्छक) अभिजित् के रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए आकाश में उस जगह आ बैठीं।

भारत के एक दिव्यद्रष्टा ऋषि-वैज्ञानिक ने आज से हजारों वर्ष पहिले रूपक के अपने एक अनोखे ढङ्ग पर नीहारिकाओं के दूर भाग कर लुप्त हो जाने (The expanding universe) और उनकी खाली की हुई जगहो पर नव-निर्मित नीहारिकाओं के आ बैठने ("stady state" universe) के इन वैज्ञानिक पहलुओं को कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति दी थी। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के कुछ लब्धप्रतिष्ठ ज्योतिर्वैज्ञानिक भी अब इस मतको अपना समर्थन देने लगे है। इनमें जेस्से एल्० ग्रीन्स्टीन (Jesse L.Greenstein) और विलियम ए. फौलर (William A. Fowler) प्रमुख हैं। इन विद्वानो का कहना है कि 'महान् विस्फोट' (Big Bang) के उक्त मत में (एब्वेलीमैत्र और गैमोव के मत में) कुछ मौलिक कमियां है। विश्व को बनानेवाले

सभी रासायनिक तत्व यदि 'महान विस्फोट' की प्रथम और एक मात्र प्रक्रिया में ही बन चुके होते तो विश्व के सभी तारे, अवश्य ही तत्वो के एक से मिश्रण के ही बने हुए पाये जाते; परन्तु वास्तव में वह ऐसे हैं नहीं। कुछ तारे तो केवल उद्‌जन (hydrogen) और हीलियम (helium) तत्वों के ही बने हुए हैं; जब कि दूसरे कुछ तारों के पिण्डों में मध्यम-भार के तत्वों और अधिक भारी तत्वों की काफी बड़ी मात्राएँ देखी जाती हैं। उक्त 'महान् विस्फोट' मत किसी तरह भी इन पिछले किस्म के तारों की बनावट का कोई एक सन्तोषजनक समाधान नहीं दे पाता।

उनका कहना है कि विशुद्ध उद्‌जन के बादलो में से ही (विश्व-बादलों The cosmic clouds में से ही; दशवाँ परिच्छेद), पिछले अरबों वर्षों से, यह विश्व लगातार बनता चला आया है। पुराने तारे, जो इन बादलों से पहिले पहल जन्मे, एक मात्र उद्‌जन तत्व के ही बने हुए थे; क्योंकि तब उद्‌जन के सिवाय कोई और तत्व था भी नहीं। इन तारों के पिण्डों के उद्‌जन-अणुओं में ज्यों-ज्यों नाभिक प्रतिक्रियाये (nuclear reactions) होती गई, उनमें के कुछ अणु हीलियम तत्व के अणु बनते चले गये और उन्होंने फिर, अपनी बारी में, मध्यम-भार के तत्वों—कार्बन और आक्सीजन—को बनाना शुरू किया।

कुछ तारों का यह स्वभाव होता है कि वह अपने चारों ओर

अपने पिण्डों से कुछ द्रव्य-भार फेंकते रहते हैं, मानो वह अपनी बढ़ी हुई चर्बी को झाड़ कर अपने आपको हलका कर रहे हों। पुराने तारो में बने हुए वह मिश्र-तत्व इस प्रकार बाहर फेंके जाकर उद्जन के उन विश्व-बादलों में ही पनाह लेते गये। धीरे-धीरे उन बादलों में उन मिश्र तत्वों का घुलन होता गया और उस घोल से जो नये तारे बाद में बने वह, स्पष्ट ही, एक भिन्न और मिश्रित द्रव्य के थे। उन नव-जात तारों के भीतर अणुओंमें जो नाभिक प्रतिक्रियायें होती थीं वह भी भिन्न किस्म की ही थीं। उन तारों ने भी अपने पिण्डों में और अधिक भारी तत्वो का निर्माण किया और अपने परम्परागत स्वभाव के वश होकर उन अधिक भारी तत्वों को अपने चारों ओर उक्त विश्व-बादलों में फेंका। डा० ग्रीन्स्टीन का कहना है कि "लाल दैत्य तारो" (red giant stars) के कुछ गिरोहोके पिण्डों में ऊँचे भार के तत्वों को देखा जाता है; और यह भी कि वह तारे आज भा उन भारी तत्वों को प्रचुरता से बना रहे है।

हमारी पृथ्वी अधिकतर मध्यम-भार के तत्वो की बनी हुई है, इस लिए, डा० ग्रीनस्टीन के अनुसार, पृथ्वी और सूर्य एवं उसके सब ग्रह इस विश्व के इतिहास में काफी समय बाद बने हुए है—उस समय जब कि विश्व-सृष्टि की निर्मात्री उस विश्व-गैस में उद्जन के साथ-साथ और भी अनेक तत्व घुल मिल गये थे।

लिक वेधशाला (अमेरिका) के ज्योतिर्विद् जार्ज एच० हर्बिग (George H. Herbig) भी इस मत का ही समर्थन करते हैं। सन् १९३७ ई० में हर्बिग ने ओरायन नीहारिका (orion nebula) के एक छोटे भाग के कुछ फोटो-चित्र लिये। यह नीहारिका हमारी पृथ्वी से १६०० प्रकाश-वर्ष दूर है। उस समय उन चित्रों में केवल तीन धुँधले तारे दिख रहे थे, जो धूल और गैसों के एक बादल में लिपटे हुए से थे। सन १९५६ ई० के आरम्भ में डा० हर्बिग ने उसी क्षेत्र का एक और फोटो-चित्र लिया। इस बार चित्र में ५ तारे दिख पड़े। इन तारों में दो तारे तो नये जन्मे हुए ही मालूम होते हैं।डा० हर्बिग कहते हैं— "Our understanding of what is taking place could hardly be more incomplete, but it may be that we have wit-nessed the opening phase of an episode in stellar evolution" ; अर्थात्, (विश्व में) जो कुछ हो रहा है उसका हमारा ज्ञान बहुत अपूर्ण है। हो सकता है कि तारों के जन्म और विकास के क्रम के एक स्तर का आरम्भ ही हमने देखा हो।

'निरन्तर-निर्माण' के इस मत के समर्थक ज्योतिर्विद् यह भी कहते हैं कि नीहारिकाओं के बीच खाली पड़े हुए देश space में नयी और ताज़ा उद्जन hydrogen का निर्माण अब भी होता रहता है। नीहारिकाएँ ज्यों-ज्यों एक दूसरी से दूर भागती चली जाती हैं, इस ताज़ा उद्जन से नये तारों की नीहारिकाएँ बनती भी चली जाती हैं।

इस मत के अनुसार सृष्टि-रचना के किसी प्रथम कारण (the first cause) का प्रश्न ही नहीं उठता। विश्व-सृष्टि की रचना अनवरत हो रही है। इसका न कहीं आदि है और न कहीं अन्त।

विश्व की द्रव्य-मात्रा

विश्व की उत्पत्ति और उसके रूप या आकार को जान लेने के बाद हमारी उत्सुकता का झुकाव सहज ही यह जानने की ओर हो उठता है कि इस भारी-भरकम डीलडौल को बनाने में प्रकृति को कितना मसाला लगाना पड़ा। विश्व की इस द्रव्य मात्रा को विशुद्ध रूप में आँक पाना तो हमारे लिए बिल्कुल असम्भव है, क्योंकि उसकी इस विशाल काया में हमारी अपनी स्थिति महज एक रूँ के समान है। हमारे अपने शरीर का एक रूँ यदि हमारे समूचे शरीर के बोझ भार को जानने की हिमाकत करे तो........

जो हो ; हमने अपने बुद्धिबल से विश्व-तथ्य के उद्घाटक कुछ विज्ञानो का साक्षात्कार तो कर ही लिया है, जिनमें एक है हमारा गणितशास्त्र। इसका सहारा लेकर हमारे कुछ विद्वानों ने विश्व की द्रव्य-मात्रा (the mass) को कूतने की चेष्टाएँ भी की है। जिन पर हम अब कुछ प्रकाश डाल रहे है।

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद ने हमें सुझाया है कि अनन्त देश space में पदार्थ matter के घनत्व और विश्व के आकार-

परिमाण के बीच एक प्राकृतिक सम्बन्ध है। समूचे 'देश' में पदार्थ मौजूद है। 'देश' के किसी एक क्षेत्र में मौजूद पदार्थ की मात्रा ही उस क्षेत्र की वक्रता को निश्चित कर देती है। पदार्थ की एक विशुद्ध रूप में उपयुक्त मात्रा को लेकर समूचे 'देश' की सम्पूर्ण वक्रता ठीक उतनी होगी कि वह उस 'देश' को एक पूर्ण और असीम विश्व के रूप में बन्द कर दे। वह विश्व, तब, विशुद्ध सन्तुलन में होगा। 'देश' में पदार्थ के एक निश्चित घनत्व को लेकर उस 'देश' का केवल एक ही आकार सम्भव होगा जो पूर्णरूप में सन्तुलित होगा।

आइन्स्टीन ने अनुमान लगाया था कि ज्योतिपिण्डों का समूचा 'देश' space बिल्कुल ऐसा ही होगा। क्योंकि वेधों के द्वारा नीहारिकाओं की औसत द्रव्य-मात्राएँ और उनके (नीहारिकाओं के) बिखराव जाने जा चुके थे, यह सोचा गया कि इस ज्ञान के बल पर सम्भवतः हम विश्व की कुल द्रव्य-मात्रा को भी आँक सकेंगे। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार विश्व में कुल एक खरब नीहारिकाएँ हैं जिनमें से केवल एक करोड़ नीहारिकाओं को हम अपनी दूरबीनों से देख सके हैं।

अपने भीतर उपस्थित पदार्थ के कारण इस प्रकार सन्तुलित और एक निर्दिष्ट स्थिति में ही बने रहने वाले 'देश' (space) की जो तस्वीर आइन्स्टीन ने खींची थी, उसको कुछ वर्षों बाद फ्रीडमैन और लीमैत्र (Friedmann and Lemaitre) ने फाड़ डाला जब उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि इस तस्वीर

में अङ्कित रूप-रेखाएँ स्थायी बनी हुई तो रह ही नहीं सकती। उन दोनों के अनुसार सम्पूर्ण 'देश' एक कसकर उमेठी हुई स्प्रिंग के समान है। उसके अन्दरूनी पदार्थ द्वारा ही उस पर उसकी वक्रता थोप दी जाती है। 'देश' के किसी एक खास भाग में यदि उसके अन्दरूनी पदार्थ का घनत्व कम हो जाय तो उस भाग का कसाव ढीला होने लगेगा। उसी प्रकार 'देश' के एक भाग का पदार्थ यदि उसके (देश के) किसी दूसरे भाग में चला जाय, तो दोनो ही भागो की वक्रताएँ भी बदल जावेंगी और विश्व तब अपने सन्तुलन को बनाये नहीं रख सकेगा। पदार्थ के इस प्रकार स्थान बदलने के कारण जो नयी शक्तियाँ विश्व के अखाड़े में उतर पड़ेंगी वह या तो उसके मौलिक सन्तुलन को पुनः स्थापित कर देंगी या उसके वर्तमान असन्तुलन को और अधिक बढ़ा देंगी।

फ्रीडमैन और लीमैत्र ने सिद्ध कर दिखाया कि वह नयी शक्तियाँ पिछला काम ही करेंगी—असन्तुलन को और अधिक बढ़ा देंगी। इस निष्कर्ष ने आइन्स्टान की मान्यता को एक घातक धक्का दिया। आइन्स्टीन द्वारा प्रतिपादित विश्व अपने आप में बन्द परन्तु सीमा-रहित था और उसका वह रूप स्थायी बना रहता था। फ्रीडमैन और लीमैत्र के उक्त निष्कर्ष ने विश्व के रूप को अस्थायी वना डाला। एक अस्थायी विश्व का 'देश', अपनी स्वतन्त्र हालत में, निश्चय ही या तो दूर दूर बढता होगा या अपने आप में सिकुड़ता जावेगा। इसके पहिले

कि गणित के पण्डित इन दोनों सम्भावनाओं में से किसी एक को अपना समर्थन देते, माउन्ट विलसन की दूरबीन ने अपना प्रत्यक्ष-दर्शी निर्णय दे दिया कि सब बातों को देखते हुए विश्व-तथ्य यही है कि 'देश' (space) वास्तव में दूर-दूर बाहर की ओर बढ़ ही रहा है और वह भी अधिकाधिक बढ़ते हुए वेग से (बारहवाँ परिच्छेद)।

अब, यदि हम दूर-दूर बढ़ते हुए विश्व के चित्र को ही तथ्योन्मुख मानें तो आइन्स्टीन के सुझाये हुए प्राकृतिक सम्बन्ध, जिसका जिक्र हम पहिले कर आये हैं, की जगह एक और ही सम्बन्ध को मान्यता देनी होगी। यह दूसरा सम्बन्ध होगा ; नीहारिकाओं के दूर भागने के वेग विश्व के 'वृत्त के अर्ध-व्यास (radius) के साथ सम्बन्धित हैं और इस प्रकार, परोक्ष रूप में, विश्व के अन्दरूनी पदार्थ के साथ बँधे हुए हैं। जब हम पदार्थ के और दूर भागने के उक्त वेगों के औसत घनत्व को आँक लेते है तो उन आँकड़ों के प्रकाश में विश्व की समूची द्रव्य-मात्रा की एक सम्भव संख्या को आँक सकते हैं जो केवल एक ही होगी। हमारी दूरबीनों की साक्षी के आधार पर हम कह सकते है कि विश्व की कुल द्रव्य-मात्रा (mass) $१०^{७९}$ (दश की संख्या के आगे ७९ शून्य बिन्दु और) हाइड्रोजन अणु है। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि विश्व को बनाने में $१०^{७९}$ प्राटन और उतने ही एलेक्ट्रन लगाये गये हैं। वेधों की भूल-चूक की गुञ्जाइश के लिए यह संख्या $१०^{७८}$ अथवा $१०^{८०}$ भी हो सकती है।

चाहे जो हो, यह संख्या बहुत बहुत बड़ी है। इतनी बड़ी संख्या को देखकर हमें अचरज तो ज़रूर होता है कि विश्व को बनाने के इस मसाले को प्रकृति ने इतने अलग अलग सूक्ष्म-कणों में क्यों तोड़ा। हमको यह जानने की उत्सुकता और भी होती है कि इस संख्या का अन्तिम स्पष्टीकरण क्या है—प्रकृतिने इसी एक खास संख्या को क्यों चुना ?

सर आर्थर एडिङ्गटन (Sir Arthur Eddinton) ने इस संख्या के स्पष्टी करण में कुछ रोचक सुझाव देने का प्रयास तो जरूर किया है। उनका विश्वास है कि प्रकृति के विधान में यह एक अनिवार्य संख्या है—एक आवश्यकता है जो टाली ही नहीं जा सकती। उनके अनुसार यह सख्या एक विशुद्ध गणितीय स्थिर (constant) है। यह एक ऐसी संख्या है जो स्वयं प्रकृति के स्वभाव में ही अन्तर्निहित है। उन्होंने गणित के अनेक श्रमसाध्य प्रयोगों के द्वारा इस संख्या का एक शुद्ध मान बतलाया है जो $\frac{३}{२}\times१३६\times२^{२५६}$ है जिसकाऔर अधिक स्पष्टमान $१\cdot१६\times१०^{७८}$ तो निश्चय ही उतना है जितना कि हमारी दूरवीनें ज्योतिपिण्डोंके बिश्व का वेध कर चुकने पर हमें बतलाती है।

यहाँ पर हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते है। अपने गणितीय प्रयोगो की शुरूआत में एडिङ्गटन यही मान कर चले थे कि विश्व केवल कणों का ही बना हुआ है। परन्तु जब प्लाङ्क और बोहर (Planck and Bohr) ने यह प्रमाणित किया कि

पदार्थ अपने मूलरूप में कण भी है और तरङ्ग (wave) भी, तब जाकर एडिङ्गटन को यह भान हुआ कि पदार्थके केवल कण-रूप को ही अपने प्रयोगों का आधार बना, वह विश्व-प्रकृति के अपने विश्लेषण में एक भारी गलती कर बैठेंगे। तब तो विश्व-प्रकृति का वह सनातन अटूट सूत्र (continuity) ही गायब हो जायगा ; सभी कण एक दूसरे से स्वतन्त्र और भिन्न जो होते हैं। एडिङ्गटन, तब यह मानने लगे कि कुछ अर्थों के लिए तो पदार्थ के तरङ्ग-रूप को मानना ही सुविधाजनक होगा जब कि कुछ अन्य अर्थों के लिए उसके कण-रूप को। जो कुछ हो ; विश्व को कणों का बना हुआ मानना भी अनेक सम्भव दृष्टि कोणों में से एक दृष्टिकोण है और एडिङ्गटन के मतानुसार इस दृष्टि-कोण को अपनाने का एक परिणाम तो यही होगा कि हमें बाध्य होकर यही मानना होगा कि विश्व के निर्माण में $१०^{७९}$ प्रोटनकण और उतने ही एलेक्ट्रनकण लगाये गये हैं। किसी अन्य संख्या को अपनाना महज एक तार्किक अन्तर्विरोध में फँसना ही होगा।

एडिङ्गटन की सुझाई हुई यह सॅख्या विश्वकी द्रव्यमात्रा का चाहे एक शुद्ध आँकड़ा न दे सकती हो, फिर भी विश्व-प्रकृति के अनेक क्रियाकलापों में इस सॅख्या को हम प्रमुख भाग लेते हुए देखते तो हैं। गणित-शास्त्र की विचार-धारा के लिए तो यह कोई अपरिचित सॅख्या नहीं है और खासकर इस सॅख्या का वर्गमूल जिसका मान है : $\sqrt{१०^{७९}} = ३\cdot४ \times १०^{३९}$

सर जेम्स जीन्स ने सन् १६४४ ई० में आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय में कुछ व्याख्यान दिए थे; उनमें एक जगह उन्होंने बड़े सुन्दर ढङ्ग पर अनेक उदाहरणों द्वारा बतलाया था कि उक्त सॅख्या की यह वर्गमूल संख्या विश्व-प्रकृति की कितनी प्रियपात्र है। हम यहाँ पर उनमें से कुछ रोचक उदाहरणों को उद्धृत करते है।

पृथ्वी पर अपने दैनिक व्यवहारो में हम शक्ति Force का मान बताने के लिये एक पाउण्ड अथवा एक ग्रैम (a gram) की इकाई का उपयोग करते है। परन्तु यह इकाइयाँ तो हम मनुष्यों की अपनी कल्पित चीजे हैं; अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि जिस ग्रह (पृथ्वी) पर हम रह रहे हैं, उसके कुछ आकस्मिक गुणो के आधार पर ही हमने इन इकाइयों की कल्पना कर ली है। भौतिक विज्ञान हमें शक्ति के मान की एक ऐसी इकाई दे देता है जो मानवी रिवाजों से स्वतन्त्र है और, इस कारण, पृथ्वी के बाहर मङ्गल ग्रह पर अथवा लुब्धकतारे (sirius) पर भी वह उतनी ही कारगर और सत्य होगी, जितनी हमारी पृथ्वी पर। यह इकाई है: एक हाइड्रोजन-अणु के एलेक्ट्रन और प्रोटन के बीच वैद्युतिक आकर्षण। नक्षण-विज्ञान भी शक्ति के मान की एक ऐसी ही विश्व-इकाई देता है जो है—उक्त दोनों कणों का पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण। प्रायः ही यह देखा गया है कि शक्ति के माप की यह दोनो ही विश्व-इकाइयाँ कितनी असमान है;—उनका आपसी अनुपात करीब $२·३ \times १०^{३९}$ है। यह

अनुपात एक ऐसी विशुद्ध संख्या है जो स्वयं विश्व-प्रकृति में अन्तर्निहित एक "स्थिर" (constant) है और इसका स्पष्ट मान बहुत कुछ एडिङ्गटन के उक्त वर्गमूल $\sqrt{१०^{७६}}=३\cdot४\times१०^{३८}$ के आसपास है।

लम्बाई के मापों की भी यही स्थिति है। हम मनुष्य तो लम्बाई का फीटों और सेन्टीमीटरों की इकाइयों में नापते है। भौतिक-विज्ञान की लम्बाई नापने की प्राकृतिक इकाई है: एक एलेक्ट्रन कण का तथा-कथित अर्ध-व्यास (radius) जो लगभग २×१०^{-१३} सेन्टीमीटर है। यहाँ पर $१०^{-१३}$ का मतलब होगा संख्या १० का वह भाग जो उसको १० के आगे १३ शून्य-बिन्दु लगाने पर बनी संख्या से भाग देने पर निकले। नक्षत्र-विज्ञान की लम्बाई नापने की इकाई होगी—एक ऐसे विश्व का अर्धव्यास जो वर्त्तमान विश्व के समूचे पदार्थ को एक सन्तुलन में रख सके। यहाँ भी हम वही बात देखते हैं; भौतिक-विज्ञान और नक्षत्र-विज्ञान की यह दोनों ही इकाइयाँ मोटे तौर पर असमान हैं और उनका आपसी अनुपात है लगभग $५\cdot०\times१०^{३८}$।

काल के मापों की भी यही हालत है। हम मनुष्य तो 'एक दिन' और 'एक वर्ष' की इकाइयों में काल का मान बतलाते हैं, परन्तु प्रकृति ने इस काम के लिये विश्व-महत्व की एक और ही इकाई अपना रक्खी है। वह इकाई है: विश्व की उत्पत्ति के बाद आज सबसे अधिक दूर भागी हुई नीहारिकाओं की स्थितियाँ। यह एक विश्व-महत्वकी इकाई है; विश्व में हम

चाहे जहाँ रहें, इस इकाईका केवल एक ही अर्थ होगा। भौतिक-विज्ञान भी अपनी एक ऐसी ही प्राकृतिक इकाई देता है—प्रकाश को एक एलेक्ट्रन कण के आरपार सफर करने में लगा हुआ समय जो लगभग $१·३×१०^{-२३}$ सेकण्ड है। नक्षत्र-विज्ञान और भौतिक विज्ञान की इन दोनो प्राकृतिक इकाइयों का आपसी अनुपात $४·२×१०^{३८}$ है जो लम्बाई नापने की उक्त दोनों प्राकृतिक इकाइयों के आपसी अनुपात $५·०×१०^{३९}$ (इसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं) के बहुत नजदीक है।

इन दोनों अनुपातों की नजदीकी समानता आकस्मिक नहीं है; दूर-दूर बढ़ते हुए विश्व का सिद्धान्त ही यह बतलाता है कि इन दोनों अनुपातों में पहिला अनुपात उस दूसरे अनुपात का $१/\sqrt{३}$ गुना होगा। यह बात कितनी अनोखी सी लगती है कि विश्व-प्रकृति लम्बाई नापने की दो ऐसी असमान इकाइयो और काल को नापने की दो ऐसी असमान इकाइयों को काम में लेती है। हमारा अचरज तब और भी बढ़ जाता है जब हम यह देखते है कि उन दोनो असमान इकाइयोंके आपसी अनुपात आखिर एक दूसरे से मिलते जुलते से हैं। यदि हम सात फीट लम्बे दो मनुष्यो को एक ही घर से निकल कर बाहर आते हुए देखें तो सम्भवतः हम यही धारणा बनावेगे कि वह दोनो एक दूसरे के भाई है। इस दृष्टान्त के आधार पर हम यह तो सोच ही सकते है कि उन दोनों बड़े अनुपातो की विशालता और

प्रायिक समता का कोई एक ही मूल कारण है, एक ऐसा कारण जो प्रकृति की योजना में ही अन्तर्निहित है।

सर जेम्स जीन्स के मत में यह मूल कारण दूर बढ़ते हुए विश्व की कल्पना में निहित है।

सोलहवाँ परिच्छेद

स्थूल विश्व का सिंहावलोकन

हमारे सामने से अनेक गवाह गुजर चुके हैं। उनकी दी हुई शहादतो को हमने दर्ज भी कर लिया है। सवाल जो हमारे सामने उठाये गये थे, वह यह थे कि; विश्व का विस्तार कितना है? इसका आकार और रूप कैसा है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? इसके समूचे विस्तार में कौन-कौन अवयव है? उन शहादतों के आधार पर, और उनकी काफी छानबीन और जाँच-पड़ताल करने के बाद, हम यथास्थान, उन प्रश्नों के हाथों हाथ उत्तर भी देते आये हैं। परन्तु, उन सब गवाहों के बाद, एक गवाह और आ खड़ा है जिसने अपनी शहादत में ऐसी कुछ नयी और अप्रत्याशित बातें बताई हैं कि उनको सुनकर हमें अपने पुराने फैसलों या उत्तरों पर कुछ सन्देह-सा होने लगा है। यह गवाह है; सापेक्षवाद। अच्छा होगा कि हम, एक बार फिर से, हमारे उन पहिले के उत्तरों को जाँच ले।

आरम्भ के कुछ परिच्छेदों में हम यह मान कर ही चले थे कि प्रकाश की किरणें भी, हमारी भूमिति (Geometry) के माप-दण्डों (फीटों और गजों की तख्तियों) के द्वारा खींची गई सीधी रेखाओं की तरह, सीधी रेखाएँ ही हैं। बाद में, आगे चलकर, आइन्स्टीन के इस सापेक्षवाद ने हमें बताया कि यूक्लिद की रेखा-गणित के तथाकथित स्वयंसिद्ध हमारे पार्थिव व्यवहार में भले ही खरे उतरते हों, परन्तु अनन्त "देश" में तो वह कतई काम नहीं देते। यदि आइन्स्टीन और उसके अनुगामियों के विचार ही ठीक हों, तो उन सिद्धान्तो का क्या हाल होगा जिनको वैध मानकर हमने अपना अध्ययन शुरू किया था। क्या वह, अब भी अपने उन्हीं रूपों में मान्य बने हुए हैं, या उनमें कुछ सुधार करने की नौबत आ चुकी है? और अगर उनमें सुधार करना आवश्यक ही हो पड़ा है तो क्या उनमें आमूल परिवर्तन करना होगा?

इन प्रश्नों का सिर्फ एक ही उत्तर है। यह सिद्धान्त जैसे यूक्लिड और न्यूटन के सम्प्रदाय में वैध थे, वैसे ही आइन्स्टीन के सम्प्रदाय में भी हैं। "देश" के परिभाषित स्वरूप में जो सुधार किए गये हैं जिससे कि वह "गुरुत्वाकर्षण"का स्थान ले सके, वह परिवर्तित स्वरूप उन तर्कों को स्पर्श भी नहीं करता जिन पर सौर-मण्डल (solar system) के भीतर की दूरियाँ जानने की प्रक्रियाएँ आधारित की गई थीं। जिन प्रकाश-किरणों को हमने सीधी माना था, आइन्स्टीन के अनुसार, वह वक्र या मुड़ी हुई

निकलीं ; परन्तु इस बात से कोई ख़ास फर्क न पड़ा। सूय और उसके ग्रहों में "देश" को मोड़ देने की जो अपनी शक्तियाँ हैं, उनकी अपेक्षा प्रकाश का वेग इतना ज्यादा है कि उसको यह मुड़ाव या वक्रता सौर-मण्डल में बिल्कुल नगण्य है—उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दिखने में नहीं आता।

सौर-मण्डल के आगे निकलने पर ही प्रकाश की इस वक्रता का कुछ स्पष्ट आभास मिलता है। यह तो हम जान ही चुके हैं कि किसी एक तारे का आता हुआ प्रकाश, सूर्य के नजदीक से गुजरते समय, काफी मुड़ जाता है; इस मुड़ाव को हम देख भी चुके हैं। धारणा की जाती है कि प्रकाश जब किसी भी तारे के निकट से गुजरता है तो, वहाँ भी, ऐसा ही मुड़ाव ले लेता है। सहज ही प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऐसे किसी प्रभाव ने, तारों के पास प्रकाश के मुड़ाव ने,—उनके लम्बनों की हमारी मापों को दूषित तो नहीं कर दिया हैं ? लम्बनों के मापों पर ही हमने तारोंकी दूरियाँ निकाली थीं। यहाँ भी हमें आश्वासन मिल जाता है; ऐसा कोई प्रभाव इन मापों को दूषित नहीं कर सका है। एक तारे के आते हुए प्रकाश पर लादी गई ऐसी कोई वक्रता, पृथ्वी की अपनी कक्षापर सभी स्थितियों में, एक-सी ही होती है ; और सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के भ्रमण के कारण होने वाले लम्बनों के मुड़ाव भी ठीक उतनी ही मात्रा में होते हैं; भले ही प्रकाश का मार्ग वक्र हो या सीधा।

यह ठीक ; परन्तु स्वयं अपने आप में ही बन्द "देश"

(closed space) की सामान्य-वक्रता का भी, उन लम्बनों पर, क्या कोई प्रभाव न होगा ? वह सामान्य-वक्रता, यदि उसका अस्तित्व हो तो, समूचे विश्व का ही अपना निजी गुण होगी। आइन्स्टीन के मतानुसार प्रत्येक नीहारिका की अपनी सीमाओं के भीतर, वह सामान्य-वक्रता, उस नीहारिका को बनाने वाले द्रव्य द्वारा बहुत ही कम कर दी जायगी। वह नीहारिका भी स्वयं अपनी एक निजी (local) वक्रता बनाती है और उसकी वह निजी वक्रता, "देश" की उस सामान्य-वक्रता की अपेक्षा, हमारा ध्यान अपनी ओर ज्यादा खींचेगी। एक बड़े गुब्बारे की सतह पर पड़ी हुई छोटी और ढालू झुर्रियों से हम उनकी समता कर सकते हैं। आकाश-गंगा के भीतर के लिए हुए हमारे नापों पर उन निजी वक्रताओं का ही जब कोई असर नहीं दिख पड़ता तो बहुत ही हलकी सामान्य-वक्रता का असर तो होगा ही क्या ?

जो कुछ हो ; बहुत दूर की नीहारिकाओं के वेधों की हमने ऊपर जो व्याख्या की है, उस पर तो "अपने आप में बन्द देश की वह सामान्य-वक्रता" पूरा प्रभाव डालेगी ही। परन्तु आज तक हम अनन्त के जितने भाग को देख सके हैं, वह तो इतना छोटा है कि हमें ऐसी वक्रता के कोई चिह्न, अब तक तो नहीं दिख पड़े हैं।

एक प्रश्न और भी किया जा सकता है। आकाश-गंगा के तारों के वर्णपटों में देखे गये रेखाओं के मुड़ावों को हमने,

विश्वासपूर्ण मुद्रा में, डोपलर के सिद्धान्त के अनुसार होने वाले प्रभाव कहे हैं। इन मुड़ावों के द्वारा जानी गई दृष्टि-रेखा-गति (जो पिण्ड हमारी दृष्टि की ही सीधी रेखा में आगे की ओर भाग रहा हो उसकी गति) का हमने, बहुत बार तो, पिण्डों की दूरियाँ जानने में उपयोग भी किया है। प्रश्न होगा कि यदि हमारी आकाश-गंगा या "स्थानीय गुच्छक" से भी बहुत दूर की नीहारिकाओं की प्रकाश-किरणों के मुड़ाव दृष्टि-रेखा-गति के कारण हुए सिद्ध न हों, तो आकाश-गंगा के भीतर पाए जाने वाले मुड़ावों की हमारी की हुई व्याख्या क्या सन्देहास्पद न हो उठेगी?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उन नीहारिकाओं की रेखाओं के 'लाल-मुड़ाव' उनकी दूर भागने की गति के कारण हैं—इस बात पर सिर्फ एक ही कारण को लेकर सन्देह किया जा सकता है। वह कारण यह है कि वह 'मुड़ाव' आकाश-गंगा में पाए गये मुड़ावों की तरह नहीं हैं; अपनी मात्राओं में भी वह मुड़ाव आकाश-गंगा के मुड़ावों से बड़े हैं; सब के सब एक ही तरफ (लाल छोर की तरफ) हैं और उन पिण्डों की दूरियों के साथ उनका एक तरतीबवार सम्बन्ध भी है। यह सब ऐसे पहलू हैं जो शायद अन्त में आगे जाकर अपने स्पष्टीकरण के लिए, गति के सिवाय, कोई और ही कैफियत माँगने लगेंगे।

आकाश-गंगा के अपेक्षाकृत छोटे आकार में तो यह पहलू

अनुपस्थित पाए गये हैं और इसलिए कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई देता जिससे हम यह सन्देह करें कि आकाश-गंगा के तारों के वर्णपटो में पाए जाने वाले मुड़ाव, डोपलर के सिद्धान्त के प्रभाव नहीं हैं। दूसरे कुछ अन्य वेध भी इस व्याख्या को पुष्टि देते हैं इसलिए हमें विश्वास है कि डोपलर के "मुड़ावों के सिद्धान्त" पर आधारित यह दूरियाँ एक स्वयं सुव्यवस्थित योजना में अपना उचित स्थान ही ग्रहण करती हैं।

स्थूल भौतिक विश्व के इस प्रसङ्ग को समाप्त करने के पहिले हम एक बात और कह देना चाहते है। सच ही, देश वक्र है और इस कारण अपने आप में ही बन्द (closed) भी है—वह पूर्ण और असीम भी है—तो, एक सिद्धान्त के रूप में तो, यह सम्भव है कि उसका कोई एक पिण्ड दो बार देखा जा सके। पृथ्वी की सतह पर—क्योंकि पृथ्वी ठीक ऐसी ही है (अपने आप में ही बन्द और वक्र)—खड़े किए गये एक बेतार-ध्वनि क्षेपक (a wireless transmitter), जो सभी दिशाओं में ध्वनि को प्रक्षेप कर रहा हो, की प्रसारित ध्वनि को दो बार पकड़ा जा सकता है। पृथ्वी के वायु-मण्डल में ऊपर आयोन-क्षेत्र ionosphere (वायु-मण्डल का वह क्षेत्र जहाँ ऐसे विद्यु-न्मय कण रहते है जो एक 'न्यूट्रन'-अणु अथवा अणुओं में होने वाली एक या दो एलेक्ट्रन-कण या कणों की हानि या वृद्धि के कारण उत्पन्न होते हैं) हैं और उस क्षेत्र से परावर्तित होकर यह ध्वनि-प्रसरण (sound radiation) पृथ्वीकी वक्रताके पीछे चल-

कर उसकी (पृथ्वी की) सतह पर ही दूर-स्थित एक ध्वनि-ग्राहक (a wireless receiver) यन्त्र पर, परस्पर-विरुद्ध दो दिशाओं से आकर पहुँचेगा। यदि इस ध्वनि-ग्राहक में कोई ऐसा एक यन्त्र और लगा दिया जाय जो ध्वनि-तरङ्गों के आने की दिशाओंको पकड़ सके, तो उस ध्वनि-ग्राहक यन्त्रका चालक तुरन्त जान जायगा कि वह ध्वनि-प्रक्षेपक यन्त्र (the wirless transmittr) उसके दक्षिण-पश्चिम की ओर है और साथ ही उत्तर- पूर्व की ओर भी है। ठीक यही बात एक वक्र और बन्द 'देश' में, किसी एक दीप्त पिण्ड के प्रकाश के साथ भी होगी। दूर खड़े एक दर्शक के पास यह प्रकाश भी परस्पर-विमुख दो मार्गों पर चलकर पहुँचेगा और एक ही समय दो विरुद्ध दिशाओं से आता दिखाई देगा। हमारी अपनी नीहारिका—यह आकाश-गंगा-इस सिद्धान्त के अनुसार, एक ओर ऐसी दिख पड़ेगी मानो वह हमसे अत्यन्त दूर का एक प्रकाश-पिण्ड है; दूसरी ओर, अपने स्वाभाविक मार्ग से आते हुए प्रकाश के कारण यह हमें, हमेशा जैसी दिखती है वैसी ही नजदीक दिख पड़ेगी; बहुत नजदीक भी और साथ ही बहुत दूर भी।

भारतीय ऋषियों ने इस ज्वलन्त सत्यका साक्षात् दर्शन, आज के यान्त्रिक-युग के बहुत पहिले-हजारों ही वर्ष पहिले, कर लिया था; तभी तो वह कह सके थे, "तद्दूरे तद्वदन्तिके"—वह ब्रह्म (विश्व) दूर भी है और उसी तरह, निकट भी है।

एक बात जरूर है ; एक ही पिण्ड का, एक ही साथ, नजदीक और दूर भी दिख पड़ना तभी हो सकेगा जब दो शर्तें पूरी हों। प्रथम तो, हमारे पास इतनी शक्ति-शाली एक दूरबीन हो जो बहुत दूर के पिण्डों के प्रकाश को पकड़कर हमें दिखा सके अथवा उनके फोटो-चित्र हमें लेने दे ; दूसरे, जिस मात्रा में 'देश' (विश्व) आगे और आगे फैल रहा है (अगर यह फैल रहा हो) तो उसके फैलाव की यह मात्रा भी बहुत बड़ी न हो ; नहीं तो प्रकाश को इतना समय ही नहीं मिलेगा कि वह इन दोनों मार्गों में से अधिक लम्बे मार्ग को पार कर हम तक पहुँच भी सके—उस हालत में 'देश' अथवा विश्व के फैलाव की यह मात्रा, दौड़ में, प्रकाश से बहुत आगे निकल जावेगी।

एक काम तो माउन्ट पैलोमर की २०० इञ्च व्यास की दूरबीन के मत्थे आही पड़ा है, यदि वह कर सके। यदि वह दो ऐसी नीहारिकाओं के प्रतिबिम्ब हमें दे सके जो हर सूरत में एक-दूसरी से बिल्कुल मिलती-जुलती हों और जो दोनों ही अनन्त के, एक-दूसरे के आमने-सामने के भागों में ही स्थित-सी दिख पड़ें, तो सचमुच, हमें यह प्रमाण तो मिल ही जायगा कि 'देश' (विश्व) वास्तव में वक्र है और अपने-आपमें ही बन्द (पूर्ण) भी है ; क्योंकि उस अवस्था में अवश्य ही यह दोनों नीहारिकाएँ अलग-अलग दो नीहारिकाएँ न होकर बिल्कुल एक—वही—नीहारिका होगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ऐसी एक नीहारिका की यह पहिचान कुछ सन्दिग्ध ही होगी ;

क्योंकि इन दोनों ही प्रतिबिम्बों में से एक प्रतिबिम्ब तो उस नीहारिका के सामने की सतह का होगा और दूसरा होगा उसके पीछे की सतह का, उसकी पीठ का। जो हो, प्रयोग तो अनेक बार दुहराये जायँगे ही और इस प्रकार इन प्रतिबिम्बों के अनेक जोड़े भी हमें प्राप्त होंगे ही ; तब जाकर एक काफी पुष्ट सबूत मिल भी सकेगा जिसके बल पर हम इस विषय में कोई निर्णय भी दे सकेंगे। भय तो यह है कि इस प्रकार के प्रतिबिम्ब शायद हमें मिल ही न सकें ; 'देश' की वक्रता का अर्ध-व्यास सम्भवतः इतना बड़ा हो कि दूसरी ओर से आनेवाला एक प्रतिबिम्ब हम तक कभी पहुँच ही न पावे।

हमारी दूरबीनें जिस विश्व की झलक हमें देती हैं, वह एक अनोखा विश्व है। इसके माप-दण्ड (scale) को कल्पनाका विषय बनाने में हम मनुष्यों के शब्द बिल्कुल असमर्थ हैं। यह कहना कि यह (विश्व) विशाल और वृहदाकार है, विषय के महत्व को बिल्कुल ही कम कर देना है। हमारे सभी शब्द, पृथ्वी पर ही व्यवहार में लाने के लिए गढ़े गये हैं और यह दोनों शब्द, 'विशाल' और 'वृहदाकार' भी ऐसे ही हैं। पर्वतों और महासागरों को लेकर इनका प्रयोग सार्थक और संगत है, परन्तु नीहारिकाओं की जमातों के वर्णन में तो यह पंगु और अर्थहीन से हैं। सच तो यह है कि इस वर्णन को एक शुद्ध रूप देने के लिए हमारे शब्द-कोशों में कोई शब्द ही नहीं हैं। हमने विश्व का एक शब्दमय चित्र तो जरूर खींचा है, परन्तु हमारे अपने

शब्दों की निर्बलता के कारण उसका शुद्ध चित्रण नहीं कर सके हैं—और यह है भी असम्भव ही।

पृथ्वी को उसके स्थान पर रखकर देखने से हम विश्व के माप-दण्ड का कुछ आभास पा सकेंगे। यदि हम अपनी कल्पना के सहारे अनन्त में सफर करें और अपने साथ, आज की बड़ी-से-बड़ी एक दूरबीन ले लें और उससे देखते चलें तो, हमारे सबसे निकट के तारे तक पहुँचने के बहुत पहिले ही, पृथ्वी तो हमें दिखने से रह जायगी। जब तक हम आकाश गङ्गा के व्यास (diameter) के दशवें भाग तक पहुंचेंगे, इस दूरबीन के जरिये, सूर्य को देख तो पावेंगे, परन्तु यदि हम दमभर के लिए भी गफलत कर देंगे और सूर्य पर जमी हुई हमारी दृष्टि को महज एक ही बार झपकने देंगे तो फिर से उसे कभी पहिचान ही नहीं पावेंगे। इसको (सूर्य) फिर से पहिचानने की हमारी चेष्टाएँ वैसी ही होंगी जैसी कि घास के एक बड़े खेत में एक तिनके को खोज पाने की।

जब हम बड़ी नीहारिकाओं में, हमारे सबसे अधिक निकट की एक नीहारिका तक जा पहुंचेंगे तो हमारी दूरबीन सूर्य को दिखाना भी बन्द कर देगी। सूर्य के चारों ओर के अनन्त के क्षेत्र को तो हम तब भी देखेंगे जो मन्द प्रकाश के एक कुहरे की तरह दिख पड़ेगा और हम यह भी जानते रहेंगे कि इस मन्द प्रकाश में हमारे सूर्य की भी अपनी मामूली सी कुछ देन है, परन्तु हमारी पृथ्वी के विषय में तो कुछ सोच पाना भी मुश्किल

हो पड़ेगा—कितना नगण्य छोटा-सा धब्बा है हमारी यह पृथ्वी अनन्त के इस चित्र में !

आशा है, अनन्त की इस यात्रा ने हमारे 'अहम्' को काट-छांट कर, अब उचित कदमें कर दिया होगा। हमसब का 'अहम्' तो भले ही ऐसा न हुआ हो, परन्तु सृष्टि-वैज्ञानिकों का मिथ्याभिमान तो काफूर हो चुका है और उसकी जगह ले ली है कुछ दुविधाओं ने। अपनी ज्ञान-यात्रा में उन्होंने जो कुछ भी देखा था और उनके जो कुछ भी मतलब निकाले थे, स्वयं उनकी सचाई पर ही आज उनको सन्देह होने लगा है। बाहर की ओर दूर दूर भागनेवाली आकाश-गंगाओं और इस कारण फैलते हुए 'देश' के धुँधले परन्तु सन्देह-भरे दृश्यों ने उनकी कल्पनाओं पर इतना जोरदार हमला किया है कि वह अपने ही लिए हुए आकाशीय वेधों के पेचीदा रूपों और उनके आधारभूत तर्कों को भी सन्देह की नजर से देखने लगे हैं। परन्तु इतना होने पर भी, उनकी बड़ी-बड़ी दूरबीनों ने प्रकाश की जिन धुँधली चमकों को पकड़ कर उन्हें दिखलाया है और वर्णपट-दर्शकों ने जिन 'लाल-मुड़ावों' को उनके सामने ला रक्खा है, उन सबके सन्तोषजनक स्पष्टीकरण का कोई दूसरा रास्ता भी तो उन्हें नहीं सूझता।

कुछ कम सौ वर्षों पहिले तक वैज्ञानिकों को पूरा-पूरा यकीन हो चुका था कि उनको अब और कुछ भी करने को बाकी नहीं रह गया है, सिवाय इसके कि वह नाप-जोख की प्रक्रिया को

जरा और सही रूप दे दें। उनको यह दृढ़ विश्वास हो चुका था कि विश्व-प्रकृति का कोई भी क्रिया-कलाप और व्यवहार ऐसा नहीं है जिसे वह गति-विज्ञान के नियमो (the mechanical laws) में व्यक्त न कर सकें और न्यूटन के सुन्दर समीकरणों में जिसकी सही व्याख्या न कर सकें। जिन दो घटनाओं ने उनके इस सुन्दर स्वप्न को भङ्ग कर डाला, वह थी सापेक्षवाद का विकास और आणविक विज्ञान की प्रगति।

आज तो स्थिति यह है कि आधुनिक भौतिक-विज्ञान ने, अपने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, मनुष्य को जितनी महान ज्ञान-राशियाँ दी हैं, उतना ही उसने उसको (मनुष्य) अपने अस्तित्व की उलझनों में भी डाल दिया है। जिस संसार में वह रहता चला आया है उसके प्रति मनुष्य के दृष्टि-विन्दु में नये और परस्पर विरोधी पहलुओं, अनिश्चयों और दुविधाओं को भर दिया है। 'लन्दन एसोसिएशन आफ इञ्जीनियर्स' के एक भोजके अवसर पर, मार्च सन् १९५५ ई० को भाषण देते हुए ब्रिटिश वैज्ञानिक प्रोफेसर ए० एम्० लो Prof. A. M. Low ने कहा था; "I am, often, asked what I think is the greatest discovery of the age. I, always, say that the greatest discovery is that we know practically nothing about anything. Never forget, how little we know." अर्थात् मुझसे प्रायः पूछा जाता है कि मेरी राय में आज के जमाने की सबसे बड़ी

खोज क्या है ? मैं हमेशा यही कहता रहता हूँ कि मेरी राय में इस जमाने की सबसे बड़ी खोज है यह बात कि किसी भी वस्तु के विषय में हम, करीब-करीब कुछ भी नहीं जानते। यह न भूलो कि हम कितना कम जानते हैं। एक शायर ने क्या खूब कहा है :—

जाना था कि इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यही जाना कि कुछ भी न जाना॥

आज के नये विज्ञान में यह बात साफ हो गई है कि मात्रा (mass) और शक्ति (energy) दोनों एक ही चीज हैं और मात्रा को शक्ति में परिणत किया जा सकता है। इसी तरह, यह भी स्पष्ट हो गया है कि दूर बाहर के विश्व-ब्रह्माण्ड की विशाल और रहस्यमयी गहराइयों में देश (space) और काल (time) को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अपनी अपूर्ण और अध-कच्ची धारणाओं के बोझ भार से लदे हुए, और अपनी इन्द्रियों के बने कठघरे में बन्द रह कर हम मनुष्य, उस सान्ध्य प्रकाश में जो हमारे दोनों ही अन्तिम क्षितिजों को धुँधला किए हुए है, इधर-उधर हाथ-पाँव मार कर सिर्फ टटोल भर सकते हैं—एक ओर तो आदिम-कणों (elementary particles) का अलक्ष्य विश्व और दूसरी ओर 'देश' और 'काल' का असीम विश्व। क्या कभी हम दोनों ही ओर के इन क्षितिजों के पार, आगे, जा सकेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर, सिर्फ, आशा में तो दिया जा सकता है, परन्तु

विश्वास में तो हर्गिज नहीं। पाल Paul के शब्दों में, "We know in part and we prophesy in part. Now we see through a glass, darkly." कुछ अंशों में ही हम जान सकते हैं और कुछ अंशों में ही प्राक्कथन भी कर सकते हैं। आज तो, हम एक कांच में से देखते है, महज अन्धकार।

एक प्रश्न हमारे सामने और भी है; यदि इस विश्व की रचना में, उस सिरजनहार का कोई उद्देश्य रहा भी हो तो, वह उद्देश्य कहाँ तक हमें—मनुष्यों को-छूता है? प्रश्न अत्यन्त रोचक और उपादेय है और उतनी ही रोचक और उपादेय होगी इसकी मीमांसा। परन्तु यह प्रश्न एक तिराहे पर खड़ा है जहाँ विज्ञान, दर्शन और धर्म के, अलग-अलग बँटे हुए, क्षेत्रों की सीमाएँ एक दूसरी में आ मिली हैं। स्वयं इस प्रश्न का झुकाव भी दर्शन और धर्म के क्षेत्रों में है, इस लिए बेहतर होगा कि इसको अपने प्रश्न-चिह्न के परिधान में ही रहने दिया जाय।

सत्रहवाँ परिच्छेद

अणुओं का सूक्ष्म-विश्व

हमारी आँखों के आगे हमेशा, रात दिन, विश्व का जो स्थूल, भौतिक और महान् स्वरूप बिखरा पड़ा रहता है उसकी, अपने आप में सम्पूर्ण, रूप-रेखाएँ तो हम खींच चुके। उसके विषय में हमारा-हमारे वैज्ञानिकों का-ज्ञान आज जिस स्तर पर आ पहुँचा है, उस स्तर को अपना आधार बना कर ही यह प्रयास किया गया है। परन्तु यह तो तस्वीर का एक ही रुख है; और इसको ही देख कर हम यदि यह मान कर सन्तोष कर लें कि इस विश्व के स्वरूप की हम एक पूरी झलक ले चुके, तो यह एक मौलिक गलती ही होगी जो हमारे ज्ञान को अधूरा और एकाङ्गी बना कर रख देगी।

विश्व की इस तस्वीर का एक रुख और भी है; या यों कह सकते हैं कि, इस तस्वीर की सभी छोटी बड़ी रेखाओं के सूक्ष्म बिन्दु-'अणु'-के भीतर इस विश्व का एक दूसरा स्वरूप, अपनी निराली शान में, थिरक रहा है। स्थूल और सूक्ष्म, महान् और अणु-यह दोनों रुख मिल कर ही विश्व का एक सम्पूर्ण रूप बनाते हैं। यह दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं—महान् के विघटन से सूक्ष्म बनता है और सूक्ष्म के विकास का चरम

परिणाम ही महान् है। यह दोनों ही परस्पर-साक्षेप हैं; एक के बिना दूसरे की कल्पना भी करना असम्भव है। निरन्तर बहने वाला यह एक ही चक्र है जिसमें इन दोनों की अलग-अलग कोई सीमा-रेखाएँ देख पाना नितान्त असम्भव है।

स्थूल विश्व की सबसे निचली, और सूक्ष्म विश्वके सिरे की, कड़ी को एक 'अणु' (an atom) कहते हैं। आज हम अच्छी तरह जान गये है कि स्थूल विश्व का समूचा द्रव्य या पदार्थ अणुओ का ही बना हुआ है। रासायनिक तत्त्वों (elements) की छोटी से छोटी अन्तिम इकाई एक "अणु" ही है। होने को तो 'अणु' से हमारा-मनुष्य का—बहुत पुराना परिचय है; क्योंकि भारत के एक ऋषि, वैशेषिक–दर्शन के प्रवर्तक, कणाद ने सृष्टि के मूल में 'अणुओ' को ही माना था। यूरोप में भी, ग्रीक सँस्कृति के स्वर्ण युग में, डिमोक्रिटस नामक एक दार्शनिक का भी यही मत था। परन्तु यान्त्रिक साधनों के अभाव में न तो कणाद और न डिमोक्रिटस ही यह जान पाये कि अणु को भी तोड़ा जा सकता है और इस कारण विश्व-सृष्टि की यह मौलिक इकाई नहीं है। कणाद और डिमोक्रिटस के बाद हजारों वर्षों का एक लम्बा असा गुजर गया जिसमें किसी भी दार्शनिक या वैज्ञानिक ने 'अणु' की कोई खोज खबर ही न ली। वह लार्ड रदरफोर्ड ही थे जिन्होंने सन् १६०५ ई० में 'अणु' को मानों सोतेसे जगाया। पूरे दो युगों तक वह अणुओंका अध्ययन और उन पर वैज्ञानिक प्रयोग करते रहे। सन् १६३० ई० में

उन्होंने, एक सिद्धान्त के रूप में, यह घोषणा की कि एक 'अणु' के भी विभाग किए जा सकते हैं। 'रेडियम' की खोज होने के पहिले तक एक अणु को, व्यावहारिक रूप में, अविभाज्य और अपरिवर्तनशील ही माना जाता था। रेडियम ने ही अणुके रहस्य भरे उदर में प्रवेश करने के पहिले सूराग़ दिए। इन सूरागों को लेकर, इस दिशा में, वड़ी सरगर्मी के साथ, वैज्ञानिक खोजें चल पड़ीं। तब जाकर वह व्यावहारिक क्रिया, जिसे हम आज 'अणु-विघटन' (atom splitting) कहते हैं, सम्भव हो सकी। इस क्रिया के सामने मजबूर होकर अणु अपने शरीर की चीर-फाड़ या तोड़-फोड़ के लिए चुपचाप लेट गया; भले ही उसके कुछ अङ्गों को काट कर अलग कर दिया जाय या उसमें कुछ और अङ्ग जोड़ दिए जायँ और इस प्रकार उसका पुराना रूप बदल कर उसे बिल्कुल एक नया, कृत्रिम रूप, दे दिया जाय।

'अणु विघटन' की क्रियाको, आजकल, 'फिस्सन' (fission) कहा जाता है और जो अणु, बिना ज्यादा चूँचपड़ किए, इस क्रिया को मन्जूर कर लेते हैं, उन्हें 'फिस्सनेबुल' या 'फिस्साइल (Fissionable or fissiles) कहते हैं।

जिस पेचीदा यन्त्र में अणुओं के विघटन की क्रिया की जाती है उसे पहिले तो 'पाइल' (pile) नाम दिया गया था, क्योंकि, वास्तव में, यह यन्त्र यूरेनियम के डण्डों और ग्रेफाइट (Graphite) के ढेलों का एक ढेर ही था। आज कल इसे 'रीएक्टर' (Reactor) कहते हैं। साधारण वोल-चाल के शब्दों

में कहें तो यह 'रीएक्टर' एक आणविक भट्टी है जिसके अणु ही ईंधन हैं और जहां शक्ति उत्पन्न की जाती है; यद्यपि इस भट्टी में न तो अग्नि ही जलती है और न जलने की कोई क्रिया ही होती है।

अणुओ से सम्बन्धित विज्ञान को अणु-विज्ञान (the atomic science) कहते हैं और इस विज्ञान का विषय है, अणुओं के भीतर घटने वाली घटनाएँ, और खास कर अणु के नाभिक (nucleus) के भीतर की घटनाएँ। अणु का यह 'नाभिक', अथवा नाभि-केन्द्र ही प्रचुर 'शक्ति' (energy) और चालक बल (power) का एक बड़ा भण्डार है। मनुष्य अपनी बोलचाल में और लिखा-पढ़ी में, प्रायः अनेक ऐसे शब्दों का व्यवहार करता रहता है जो अभिधेय अथवा इच्छित अर्थ को शुद्ध व्यक्त नहीं कर सकते। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है 'आणविक शक्ति' (atomic energy) और 'आणविक-बल' (atomic power) शब्दों के प्रयोग। साधारण पढ़े लिखे व्यक्तियों की बात तो जाने दीजिए; अणु-अनुसन्धान में व्यस्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की प्रमुख संस्थाएँ भी आये दिन इन गलत, भ्रामक और तथ्यसे दूर शब्दों का प्रयोग करती देखी जाती हैं। पुरानी धारणाओं और शब्द व्यवहारों से चिपके रहना, मानो, मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है; चाहे वह धारणाएँ और शब्द-व्यवहार, बाद में देखे गये सत्य से कितने ही पिछड़े हुए हों। शुद्ध और तथ्यपूर्ण शब्द तो 'नाभिक-शक्ति' (nuclear energy) और 'नाभिक-बल' (nuclear power) ही हैं।

अणु के इस 'नाभिक' का परिचय लेना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह नाभिक ही उस अणु का एक मात्र मुख्य अङ्ग है। अणु के भीतर की दुनियाँ, जैसी कि रेडियम की स्वाभाविक किरणों ने और विश्व-किरणों ने खोल कर हमें दिखाई है, एक साधारण व्यक्ति के दृष्टि-कोण से देखने पर अविश्वसनीय ही लगती है। इसका कारण न केवल यही है कि यह दुनियाँ, अपने आप में, अत्यन्त जटिल और दुरूह है; परन्तु यह भी कि 'नाभिक' के भीतर के आधार-भूत कण (particles), द्रव्य और शक्ति के साथ एक ऐसा सम्बन्ध रखते हैं जो उस व्यक्ति के लिए बिल्कुल नया, अपरिचित और अनोखा है और उसकी परम्परागत मान्यताओं के साथ कोई मेल भी नहीं खाता।

एक अणु के अत्यन्त सूक्ष्म और गोल आकार के ठीक बीच में, शक्ति और बल का यह भाण्डार, 'नाभिक' होता है। यह धन-विद्युत् शक्ति का होता है और इसके चारों ओर ऋण-विद्युत् शक्ति का एक कण एलेक्ट्रन (electron) प्रचण्ड वेग से चक्कर मारता रहता है। यह इलेक्ट्रन एक ऐसा सजग और कार्य दक्ष प्रहरी है जो अणु के इस शिबिर के चारों ओर घूमता हुआ, किसी भी विजातीय या अजनबी कण को उसमें सहज ही घुसने नहीं देता। जब कभी कोई अजनबी इस शिबिर में घुसने का दुःसाहस करता हैं, प्रहरी तुरन्त उसे धक्का मार कर बाहर फेंक देता है।

अणु के शरीर का समूचा द्रव्य नाभिक में ही बन्द रहता है और यह नाभिक स्वयं इतना छोटा होता है कि वह अणु के भीतर के समूचे 'देश' (space) के सिर्फ १,०००,०००,०००,-०००,००० वें भाग में ही किकुड़ कर बैठा रहता है। इस बात को समझाने के लिए हम यह कह सकते हैं कि सौर-मण्डल (सूर्य और उसका परिवार) के समूचे 'देश' में, सूर्य स्वयं जितनी जगह रोके हुए है, यह नाभिक अपने अणु के 'देश' में उससे कम जगह ही रोके हुए है। बात जब ऐसी है तो निश्चय ही नाभिक का अपना वजन (प्रतिक्यूबिक इञ्च में उसका बोझ-भार) बहुत अधिक होगा; और है भी ऐसा ही। हमारी दुनियाँ की किसी एक साधारण वस्तु के प्रतिक्यूबिक-इञ्च भार का १,०००,०००,०००,-०००,००० गुना भार। इसका घनत्व (density) भी इतना अधिक है कि पानी की एक बूँद के बराबर के नाभिक का वजन २० लाख टन होगा।

नाभिक के इस आश्चर्य-जनक रूप की यह तो सिर्फ आधी बात ही हुई; बिल्कुल ऐसे ही शक्ति भी इसमें पुञ्जीभूत बनाकर रख दी गई है। अणु के इस नाभिक के अत्यन्त सूक्ष्म शरीर में हमारी अपरिचित और इस कारण हमारे लिए बिल्कुल नयी एक ताकत होती है जो उसकी समूची द्रव्य-मात्रा को एक ही जगह जकड़ कर रक्खे रहती है। हम जानते हैं कि पृथ्वी और उसपर की सभी वस्तुओं को गुरुत्वाकर्षण ही एक जगह जकड़ कर रक्खे रहता है। परन्तु इस नाभिक के भीतर जो ताकत यह काम बजाती रहती है, वह अवश्य ही गुरुत्वाकर्षण की

अपेक्षा इतनी अधिक होगी कि उसको व्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई शब्द ही नहीं होगा। यदि हम इस ताकत के मान को जानने का आग्रह ही करें तो हमें गुरुत्वाकर्षण की शक्ति को उस संख्या से गुणा देना होगा जो संख्या, अङ्क १ के बाद ३७ शून्य रख देने पर, बनेगी। है क्या आप में इतनी हिम्मत कि इस गुणनफल की एक संख्या को निकाल लें।

स्थूल विश्व के महान् से भी महान् सभी पिण्डों (ग्रहों, तारों और नीहारिकाओं) को गुरुत्वाकर्षण ही उनकी अपनी-अपनी सापेक्ष स्थितियों में जकड़ कर रक्खे हुए है; परन्तु 'नाभिक' में उसका आधिपत्य नहीं है। नाभिक के भीतर उसके कणों को बाँधकर एकत्र रखने वाली ताकत तो एक नये और अज्ञात रूप की है। यह अत्यन्त जटिल है, और नाभिक के कणों के वेग और उनके अपने ही चारों ओर चक्कर मारने की गति पर आधारित है। दूसरी ओर यह ताकत, चाहे जो वह हो, वैद्युतिक युतियों (electrical charges) पर तो बिल्कुल निर्भर नहीं है; क्योंकि यहाँ एक अनहोनी बात देखी जाती है जो वैद्युतिक युतियों में स्वभावतः नहीं दिख पड़ती। वह बात यह है कि यहाँ शक्ति-शून्य 'न्यूट्रन कण' (neutrons) और धन-विद्युत् के 'प्रोटन कण' एक दूसरे को अपनी ओर ठीक उसी तरह खींचते हुए देखे जाते हैं जिस तरह वह अपने-अपने जाति-भाइयों को अपनी ओर खींचते हैं।

'नाभिक' (nucleus) के सब कणों को एक ही जगह

जकड़ कर बांध रखने वाली इस शक्ति को खोज पाने के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्नशील थे। वैज्ञानिकों के सामने यह एक बड़े-से-बड़ा रहस्य था; परन्तु डा० फ्रेडरिक राइन्स (Dr. Fredrick Reines) और डा० क्लाइड कोवन (Dr. Clyde Cowan) अब 'नाभिक' के इस तिलिस्म को तोड़ कर उसमें प्रवेश पा चुकने का दावा करते हैं। न्यूमेक्सिको (अमेरिका) की लास आल्मोस प्रयोगशाला में अपने विशेष प्रयोगों द्वारा उन दोनों वैज्ञानिकों ने जून सन् १९५६ ई० में एक ऐसे आणविक कण को पहिचान लिया है जो, उनके अनुसार, उस रहस्यमयी शक्ति को खोज पाने के कुछ सूराग़ दे सकेगा। उन्होंने उस कण को 'न्यूट्रिनो' (neutrino) नाम दिया है। यह कण एक सैद्धान्तिक रूप में तो, पिछले २० वर्षों से वैज्ञानिको का परिचित रहा है (देखिए, आगे दी हुई कान्त-क्षेत्रों की तालिका में क्रम संख्या ३); परन्तु व्यावहारिक रूप में इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता था। 'न्यूट्रिनो' के इस अन्वेषण से वैज्ञानिकों को उक्त शक्ति को समझ पाने में मदद मिलेगी—उस शक्ति को जो द्रव्य (matter) के मौलिक गुणों में ही एक है।

अणु के इस नाभिक के भीतर, उसकी तह तक पैठने के पहिले, अच्छा होगा कि हम इसके अपने गुण-गान में दो शब्द लिख दें। नाभिक के इस रहस्यमय उदर में द्रव्य और शक्ति की सच्ची प्रकृति और सत्य-स्वभाव के भेद छिपे पड़े हैं; यह भेद भी, कि द्रव्य और शक्ति का आपस में क्या नाता है, यहीं

छिपा बैठा है। जिसे हम अणु-विघटन की क्रिया (fission) कहते हैं उसमें इस नाभिक का ही विस्फोट होता है और यह ढह पड़ता है। अपनी किरणों को बिखेरने वाले (radio-active) फिजूल-खर्च पदार्थों में भी उनका अपना नाभिक ही उन किरणों को बिखेरता है। विश्व-सृष्टि की मूर्त ईंटों—१०१ मूल तत्वों में के किसी भी एक या अधिक मूल तत्वों के अणु के नाभिक, एक साथ मिलकर, सूर्य के प्रचण्ड ताप को उत्पन्न करते हैं। इस नाभिक पर ही आज मनुष्य अपने आणविक-युग (atomic age) में होने वाली सस्ती और सर्व-सुलभ भौतिक सुख-सुविधाओं की आस लगाए बैठा है। मध्य युग के रासायनिक अपने जिस सपने को मूर्तरूप न दे सके, उस सपने को आज यह नाभिक ही सच्चा कर दिखा रहा है—एक रासायनिक तत्व को दूसरे तत्व में बदल देता है, सोने को बदल कर पारा बना देता है और पारे को बदल कर सोना। यही नहीं; जो यूरेनियम धातु अपने प्राकृतिक रूप में मनुष्य को कोई नुक्सान नहीं पहुँचाता, उसे ही बदल कर निष्ठुर, बेरहम और भयानक नर-संहार करने वाला विस्फोटक प्लूटोनियम (plutonium) बना देता है – बेचारा जापान ! भिन्न-भिन्न रासायनिक तत्वों के अणु, एक दूसरे में मिलकर, जैसे रासायनिक समासों (chemical compounds) के द्व्यणुक (molecules अणुओं का एक जोड़ा) बनाते हैं; वैसे ही 'नाभिक' के भीतर के और भी छोटे 'कण', एक दूसरे के साथ मिलकर, भिन्न-भिन्न अणुओं के नाभिकों का सिरजन करते हैं।

अब हम नाभिक के 'कणों' तक आ पहुँचे हैं; दूसरे शब्दों में, अब हम नाभिक के रहस्यपूर्ण पेट में अपने पैर रख चुके हैं। यह हमारा आखिरी पड़ाव है और इसके ठीक आगे ही हमारी मञ्जिल है। आगे का मार्ग बहुत दुर्गम है और हमारा अपरिचित भी। परन्तु घबड़ाने और हिम्मत हारने की कोई बात नहीं; कान्त-क्षेत्रों का सिद्धान्त (The Quantum Field Theory) अब हमें मार्ग दिखाता हुआ, निरापद, आगे ले चलेगा।

कान्त-क्षेत्र-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रारम्भ इस बात से होता है कि आदिम-कणों (the elementary particles) की एक खास तालिका का अस्तित्व, अब, जाना जा चुका है जिसमें के सभी कणों की अपनी-अपनी खास मात्राएँ (masses), फिरकनें (spins), शक्ति युतियाँ (charges) और पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ (inter-actions with one another) हैं।

वैज्ञानिक, आज, दृढ़ निश्चयके साथ यह कहने लगे हैं कि विश्व-प्रकृति के सारे क्षेत्र सिर्फ कान्त-क्षेत्र ही हैं। कहने को तो वह दो तरह के क्षेत्रों की चर्चा करते हैं—श्रेणीय-क्षेत्र (classical fields) और कान्त-क्षेत्र (Quantum fields) ; परन्तु आगे जाकर वह यह भी कहते है कि 'श्रेणीय-क्षेत्र' कोई अलग चीज नहीं ; वह तो कान्त-क्षेत्रों के ही बड़े रूपों के महज

दर्शाव (a large-scale manifestations) हैं और, इस कारण, अपने मूलरूपों में 'कान्त-क्षेत्र' ही हैं।

पहिले हम इन श्रेणीय-क्षेत्रों का विवेचन कर देते हैं। यह क्षेत्र एक तरह के अलक्ष्य (जो दिखाई न पड़े) तनाव (tension or stress) ही हैं, जो रिक्त 'देश' में, किसी पदार्थ (matter) के वहाँ न रहने पर ही, मौजूद रह सकते हैं। जब कोई 'क्षेत्र' अनन्त 'देश' में कहीं आसन मारकर बैठा हो और कोई पदार्थ आकर उस आसन पर बैठने की हिमाकत करे, तो वह 'क्षेत्र' चंचल हो उठेगा और उस पदार्थ पर कुछ शक्ति-प्रदर्शन कर यह जता देगा कि वह उस आसन पर पहिले से ही बैठा है; अपने अलक्ष्य अस्तित्व का भान कराने को सिर्फ यही एक उपाय उसके पास है। इन श्रेणीय-क्षेत्रों के नमूनों के रूप में हम वैद्युतिक (the electric) और चुम्बकीय (the magnetic) क्षेत्रों के नाम पेश कर सकते हैं; इनमें से पहिला तो किसी विद्युत्-शक्तियुत (the electrically charged) पदार्थ पर धक्का मार कर उसे धकेलता है, और दूसरा ठीक यही क्रिया करता है चुम्बक - शक्ति - युत (magnetically charged) एक पदार्थ पर।

जेम्स क्लर्क मैक्स्वेल ने ही, अपने गणितीय समीकरणों के आधार पर, यह बताया था कि 'देश' में जहाँ कहीं भी एक परिवर्तनशील चुम्बकीय-क्षेत्र होगा, निश्चय ही वहाँ, उसकी ठीक बगल में ही, एक वैद्युतिक-क्षेत्र भी पाया जायगा। मानो यह

एक अटूट जोड़ा है, जो वियोग का नाम ही नहीं जानता। काश; स्त्री-पुरुषों के हमारे गृहस्थ भी ऐसे ही होते? उसने, मैक्स्वेल ने, ही पहिले-पहल, यह भी पता लगाया कि यह वैद्युतिक और चुम्बकीय-क्षेत्र, न केवल वैद्युतिक और चुम्बकीय (क्रमशः) शक्ति-युतियो के पास रह सकते हैं, अपितु किसी पदार्थ से शून्य, रिक्त अनन्त 'देश' में, कहीं भी रह सकते है। अपने गणितीय समीकरणों (mathematical equations) के बल पर उसने यह परिणाम निकाला कि ऐसे क्षेत्र प्रकाश की गति से ही, रिक्त 'देश' में, दौड़ेगे—यह एक सेकण्ड में १८६,३०० मील के वेग से दौड़ेंगे। इस बात को लेकर उसने, और आगे बढ़कर, यह युगान्तरकारी निकर्ष निकाला कि प्रकाश, अपने आपमें, और कुछ नहीं; इन भागते हुए विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्रों का सिर्फ एक मूर्त रूप ही है।

यह श्रेणीय-क्षेत्र सिद्धान्त, अपने विद्युत्-चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षण क्षेत्रो के बल पर विश्व के सभी दृश्य रूपों की एक सन्तोषजनक व्याख्या देता तो जरूर है—गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र का एक खास गुण यह है कि 'देश' के किसी भी एक भाग में जो भौतिक वस्तुएँ होती है, उन सब पर यह अपना असर डालते हैं—परन्तु इसमें एक कमी, और भारी कमी, है। किसी एक अणु अथवा किसी एक कण के व्यक्तिगत वर्ताव का हाल बताने में यह सिद्धान्त सर्वथा असमर्थ है।

श्रेणीय-क्षेश्र सिद्धान्त की इस कमजोरी को देखकर ही

भौतिक वैज्ञानिकों ने कान्त-क्षेत्र सिद्धान्त का आविष्कार किया।

इस सिद्धान्त की आधार-शिला है, 'अनिश्चितताका नियम (the uncertainty principle) और इसका प्रथम प्रतिपादक था हीजेनबर्ग (Heisenberg)। यह नियम बतलाता है कि किसी एक अणु-आकार की वस्तु को जितने ज्यादा गौर से हम देखेंगे, उतनी ही अधिक विचलित वह वस्तु हो उठेगी और तुरन्त आगे की उसकी स्थिति और उसके रूप की हमारी जानकारी भी उतनी ही कम हो पड़ेगी। अणु-आकार की सभी वस्तुएँ लगातार स्पन्दन करती रहती हैं ; क्षेत्र जितना ही अधिक छोटा होगा, स्पन्दन भी उतना ही अधिक तेज होगा।

कान्त-क्षेत्र के सिद्धान्त अथवा, अनिश्चितता के नियम' के आविर्भाव के पहिले वैज्ञानिक, दृढ़ विश्वास के साथ, कहा करते थे कि विश्व के प्रत्येक कण की तात्कालिक स्थिति और उसकी गति के वेग को जान लेने पर उस कण की पिछली और अगली स्थितियों को, वखूबी सही-सही बताया जा सकेगा। परन्तु इस सिद्धान्त ने उनके विश्वास की जड़ें ही हिला दीं। एक कण की स्थिति का हम जितना अधिक शुद्ध निरूपण करेंगे, उसके वेग का हमारा ज्ञान भी उतना ही कम शुद्ध हो जायगा। ठीक ऐसे ही ; जितने अधिक शुद्ध रूप में इसके वेग को हम जान पावेंगे, उसकी स्थिति का ज्ञान भी उतना ही कम शुद्ध होता जायगा।

इस सिद्धान्त ने 'कण' को अनिर्वचनीय और अरूपणीय

बना डाला है—आचार्य शंकर के 'विवर्तवाद' की माया। आज वह बिलियर्ड के खेल की एक सुन्दर छोटी गेंद नहीं रह गया है, जैसे कि कुछ वर्षों पहिले तक वैज्ञानिक अपनी सुखद कल्पना में उसे सोचा करते थे। जब कभी भी, चाहे जिस क्षण, हम यह सोचें कि अब तो हम उसके (कण के) स्वरूप को पकड़ चुके और जान चुके, ठीक उसी क्षण वह कण हमें पूरा विश्वास दिलाते हुए कहेगा कि हमारा ऐसा सोचना बिल्कुल गलत था, क्योंकि उस क्षण वह वहाँ एक 'लहर' (a wave) ही था, न कि एक कण। हमको बेवकूफ बनाकर वह कण, एक शान के साथ कहेगा कि आप लोग तो सिर्फ कुछ समीकरणों (equations) को ही जानते हो जिनके अपने अर्थ ही अस्पष्ट और अटपटे हैं। हमें चकमा देने में ही मानो उसे मजा आता है—निर्गुण-पन्थी सन्तों के काव्य की 'माया ठगिनी।'

इस नियम के प्रकाश में देखने से तो ऐसा दिखता है मानों अणुओं की दुनियाँ में घटने वाली घटनाएँ, कड़े नियम-कानूनों की पाबन्द ही न हों; और यह भी कि हमारे स्थूल जगत् में दिख पड़ने वाली नियम-बद्धता सिर्फ अङ्कों और संख्याओं में ही है। पदार्थ के वर्ताव की बाबत जो कुछ भी हम जानते है वह ठीक वैसा ही है, जैसा कि मृत्यु-संख्या की बावत बीमा कम्पनियों का ज्ञान। बीमा कम्पनियाँ न तो यह जानती ही हैं और न यह जानने की पर्वाह ही करती हैं कि जिन व्यक्तियों ने अपने जीवन की बीमा करवाई है, उनमें से कौन-कौन व्यक्ति

कौन-सी एक खास साल मरा। किसी भी एक साल में बीमा शुदा व्यक्तियों की मृत्यु की औसत संख्या जानने से ही उनको मतलब है। क्वान्त-क्षेत्रों का सिद्धान्त कहता है कि हमारे जगत् में जो कुछ भी नियम-बद्धता देखने के हम आदी हो चुके हैं, वह भी ठीक ऐसी ही है—सिर्फ संख्याओं के आँकड़ों की।

यह क्वान्त-सिद्धान्त हमें, अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में, इस नतीजे पर ला पहुँचाता है कि यह समूचा स्थूल भौतिक विश्व (पशु, पक्षी, मनुष्य, पेड़, पर्वत, सागर, तारे और नीहारिकाएँ) इन आदिम-कणों the elementary particles का ही बना हुआ है। आज तक हम निम्नलिखित कणों को ही जान पाये हैं :—

१—फोटन Photon

२—ग्रेव्हिटन Graviton

३—न्यूट्रिनो Neutrino

४—एलेक्ट्रन Electron

५—पोजीट्रन Positron

६—पाजिटिव एम्० यू० मेसन Positive MU Meson

७—नेगेटिव एम्० यू० मेसन Negative M U Meson

८—न्यूट्रल पी० आई० मेसन Neutral PIMeson

९—पोजिटिव पी० आई० मेसन Positive P I Meson

१०—नेगेटिव पी० आई० मेसन Negative P I Meson

११—झीटा मेसन Zeta Meson

१२—न्यट्रल व्ही पार्टिकल Neutral V particle (v₂)
१३—टाउ मेसन Tau Meson
१४—काप्पा मेसन Kappa Meson
१५—पोजीटिव सी० एच्० आई० मेसन Positive CHI Meson
१६—नेगेटिव सी० एच्० आई० मेसन Negative C H I Meson
१७—प्रोटन Proton
१८—न्यट्रन Neutron
१९—न्यट्रल व्ही पार्टिकल Neutral V Particle
२०—पोजिटिव व्ही पार्टिकल Positive V particle

इन कणो में से तीन कणों—प्रोटन (१७), न्यट्रन (१८), और एलेक्ट्रन (४)—पर हम, थोड़े विस्तार में, लिखेंगे। इन तीनों कणों में पिछला कण 'एलेक्ट्रन' हमारी सुपरिचित बिजली का कण है, उस बिजली का जो हमारे घरों को रौशन करती है; पंखे हिलाकर हमारी गर्मी दूर करती है; बड़े-बड़े कल-कारखाने चलाती है और छोटे-बड़े, न मालूम, कितने काम करती है! अरबों और खरबों की असंख्य संख्याओं मे इकट्ठे होकर, 'एलेक्ट्रन' के यह अत्यन्त सूक्ष्म 'कण' (लहरें भी) ताम्बे के गूँथे हुए तारों में, बिजली की तरंगे बनकर, वहते रहते हैं। एक एलेक्ट्रन कण में ऋण-विद्युत् की शक्ति-युति (a charge of negative electricity) रहती है—शायद यह कहना

अधिक संगत होगा कि वह कण, एक ऋण-शक्ति-युत है ; इसका मतलब हुआ कि सभी विद्युत् या बिजली ऋणात्मक ही है ; (कितना गलत नाम ?)।

'प्रोटन' कण हमारा उतना परिचित नहीं है। एक 'एलेक्ट्रन' कण से यह कण (प्रोटन) २००० गुना भारी होता है। निश्चय ही यह कण, विद्युत् के बजाय, द्रव्य (matter) है। सच ही कुछ कारणों को लेकर, यह कण धन-शक्ति-युत (positively charged) हैं ; लगता है, जैसे कि, इसने स्वयं एक ऋण-शक्ति के एलेक्ट्रन को खो दिया हो। सभी अणुओं के नाभिकों का यह एक आवश्यक और मुख्य अंग है जिसे एक अकथनीय ताकत ने कठोरता से भींचकर अणु के केन्द्र में सङ्कुचित कर दिया है। अणुओं में सबसे अधिक सरल और सबसे अधिक हलके 'उद्‌जन-अणु' (hydrogen) के समूचे नाभिक में यह, बिलकुल अकेला और अपने आप में ही मस्त, बैठा हैं—बात को सरल शब्दों में कहें तो, एक उद्‌जन-अणु के नाभिक में सिर्फ एक ही 'प्रोटन' कण होता है और उसके चारों ओर सिर्फ एक ही एलेक्ट्रन कण सपाटे मारता रहता है। इस कारण ही, मूल-तत्वों की सूची म इसका (उद्‌जन का) प्रथम स्थान है। उद्‌जन-अणु के नाभिक का यह एलेक्ट्रन ही उस अणु के रासायनिक गुणों का एकमात्र निर्माता है और उस अणु को इस योग्य बनाता है कि वह दूसरे अणुओं के साथ संयुक्त होकर द्व्यणुक (molecules) बना सके और सृष्टि-रचना का काम आगे बढ़ा

सके। उदाहरण के लिए; हमारे पीने के पानी को लीजिए जो और कुछ भी नहीं, सिवाय उद्जन के दो अणुओं और ओषजन (oxygen) के एक अणु के संयोग के ही मूर्तरूप के।

एक उद्जन-अणु के नाभिक के केन्द्र में ही उसका समूचा 'द्रव्य' (या 'शक्ति', क्योंकि द्रव्य और शक्ति, अपने मूल में एक ही हैं) पुञ्जीभूत होकर एक अकेले 'प्रोटन' के रूप में रहता है। इस प्रोटन की धन शक्ति-युति, अपेक्षाकृत दूर के उस एलेक्ट्रन को सन्तुलित किए रहती है और इस प्रकार समूचा अणु विद्युत्-शक्ति से शून्य निर्विकार-सा दिख पड़ता है।

उद्जन को छोड़कर, बाकी सभी मूलतत्त्वों के अणुओं के नाभिक अपनी बनावट में अधिक जटिल और वजन में अधिक भारी होते हैं—मूलतत्त्वों की सूची में अङ्क १ के आगे के अङ्कों पर हम ज्यो-ज्यों आगे बढ़ते चलेंगे, उनके (तत्वोंके) नाभिकों को अधिक जटिल और अधिक भारी होते पावेगे। उन सभी नाभिकों में एक बात और भी हम देखेंगे; उनमें का प्रत्येक नाभिक, अपने भीतर, प्रोटनों के साथ-साथ, न्यूट्रनों को भी लिए हुए होगा। न्यूट्रन भी प्रोटनों से करीब-करीब मिलते-जुलते से हैं; उन दोनों के वजन ठीक एक बराबर ही होते हैं। परन्तु न्यूट्रनों में अपनी एक विशेषता भी होती है; इनमें धन शक्ति-युति (positive charge) नहीं होती और इस कारण, वैद्युतिक दृष्टिकोण से यह निर्विकार होते है। एक आणविक नाभिक के अङ्ग बनकर जब न्यूट्रन वहाँ रहते हैं तो वह उस

नाभिक की द्रव्य-मात्रा (mass) और बोझ-भार को तो बढ़ा देते हैं परन्तु उसकी धन शक्ति-युति पर कोई असर नहीं डालते। इसी कारण अणुओं के रासायनिक गुणों के जिम्मेवार उन बाह्य एलेक्ट्रनों की संख्या को भी अपनी उपस्थिति के कारण वह न तो कम ही करते हैं और न बढ़ाते ही हैं।

यह एक तथ्य है कि एक कान्त क्षेत्र में, शक्ति (energy) सिर्फ नपी-तुली, अलग-अलग, इकाइयों में ही रह सकती है। शक्ति की इन इकाइयों को 'कान्ता' (quanta) कहते हैं। जब हम इन कान्ताओं का पूरा हाल जान लेते हैं, तो हमें पता लगता है कि यह कान्ताएँ भी ठीक वही गुण या धर्म (properties) रखती हैं जो इन आदिम कणों में देखे जाते हैं—वह गुण जिन्हें हम रात-दिन, अपने चारों ओर, विश्व में देखते हैं। गणित की क्रियाओं द्वारा हम यह भी जान चुके हैं कि किसी एक क्षेत्र के स्पन्दन में ही इन आदिम-कणों का जन्म होता है। इस तथ्य को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कान्त-क्षेत्रों में होनेवाला स्पन्दन ही विश्व-सृष्टि का मूल बीज है। इस अलख और अगोचर बीज से कणों के रूप में फूटकर ही यह विश्व, अणुओं और मूलतत्वों के रूप में बाहर अंकुरित हो पड़ा है और बढ़ते-बढ़ते अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में फैल गया है।

विश्व की एक तस्वीर जिसे हम अब अन्तिम रूप में बना पाये हैं यह है : एक-दूसरेसे भिन्न गुण रखनेवाले कुछ २० कान्त-

क्षेत्र हैं ; प्रत्येक क्षेत्र अनन्त 'देश' को भरे हुए है। देश में, वहाँ इन क्षेत्रों के सिवाय और कुछ नहीं है। अपनी स्थूल चक्षुओं से देखने पर 'देश' जहाँ भी हमें रीता-सा दिखता है, वहाँ भी यह क्षेत्र तो भरे ही पड़े है। यह समूचा भौतिक-विश्व इन क्षेत्रों का विकास-मात्र ही है मूलरूप में यह इनका ही बना हुआ है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के किन्हीं भी दो जोड़ों में परस्पर अनेक भाँति की अन्तः प्रतिक्रियाएँ (interactions) होती रहती हैं।

प्रत्येक क्षेत्र, अपने-आपको एक खास किस्म के आदिम-कण में ही, सर्वप्रथम व्यक्त करता है। अलक्ष्य से लक्ष्य वनने की, अरूप से सरूप बनने की, क्रियामें यह उसका पहिला कदम है। किसी एक खास वर्ग के सभी कण बिल्कुल एक ही रूप के होते हैं। इन कणों की कोई एक निश्चित संख्या नहीं होती ; क्योंकि यह कण हमेशा ही बनते, टूटते, बिखरते और एक-दूसरे में बद-लते रहते हैं। इन कणों में परस्पर जो अन्तःप्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं, उनके गुण ही इन कणों के जन्म और परिवर्तन के नियमों को निर्धारित कर देते हैं।

विश्व के इस चित्र में विद्युत्—चुम्बकीय क्षेत्र electro-Magnetic field भी, दूसरे अन्य क्षेत्रों के साथ, एक समान तल पर, खडा है। यह क्षेत्र अपने आपको, एक मूर्त और दृश्य रूप में, पहिले पहल जिस कण में व्यक्त करता है उसे 'प्रकाश-कान्त' या 'फोटन' (photon) कहते है।

गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र (gravitational field) की प्रथम

अभिव्यक्ति जिस कण में होती है, उसे 'ग्रैव्हिटन' (graviton) नाम दिया गया है। गणित के समीकरणों में तो इस कण का अस्तित्व निश्चित हो चुका है, फिर भी एक 'ग्रैव्हिटन' को, उसके व्यष्टि या व्यक्तिगत रूप में, आज तक कोई भी नहीं देख सका है। परन्तु है वह जरूर; उसके असर प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और फिर सत्य-वक्ता गणित की गवाही भी यही कहती है।

विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र और गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र—दोनों ही 'लम्बी वितान' (long range) के क्षेत्र हैं; यह क्षेत्र लम्बी दूरियों तक अपने प्रभाव को महसूस कराते हैं। इस बात का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि इन दोनों ही क्षेत्रों के सम्बन्धित कण, फोटन और ग्रैव्हिटन अपनी कोई 'विश्रान्ति-मात्रा' (rest-mass) नहीं रखते और एक निश्चित गति से— प्रकाश के वेग से—निरन्तर दौड़ते ही रहते हैं। जब वह कण विश्राम लेने को, तनिक सुस्ताने को, कहीं रुकते ही नहीं तो उनकी कोई 'विश्रान्ति-मात्रा' होगी भी कैसे ? इन दोनों क्षेत्रों को छोड़कर बाकी सभी दूसरे क्षेत्र 'छोटे-वितानों' (short-range) के हैं—उनके असर थोड़ी दूर तक ही जा पाते हैं।

कान्त-सिद्धान्त के अनुसार कोई भी एक क्षेत्र 'विद्युत् शक्ति-युति' (electric charge) को लिए हुए भी हो सकता है और न लिए हुए भी। उदाहरण के लिए; एक वैद्युतिक-क्षेत्र तो ऐसी शक्ति-युति को ढोये फिरता है; परन्तु एक विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र नहीं।

यह सिद्धान्त एक बात और भी कहता है; यदि कोई एक क्षेत्र विद्युत्-शक्ति-युत (electrically charged) हो तो, निश्चय ही, वह दो किस्मों के कणों में अपनी झलक देगा। और सब बातों में बिल्कुल एक सरीखे होते हुए भी इन दोनों कणो में सिर्फ एक ही फर्क होगा—उनमें का एक कण धन-विद्युत् शक्ति का होगा और दूसरा होगा ऋण-विद्युत् शक्ति का।

एक पूरे पके, सिद्धान्त-वादी भौतिक वैज्ञानिक के लिए भी यह बात हरदम परेशान करने वाली और आश्चर्य में डालने वाली बनी रहेगी कि वृक्षों और पर्वतों का हमारा यह ठोस भौतिक जगत् सिर्फ अलक्ष्य (दिख न पड़ने वाले) कान्त-क्षेत्रों का ही बना हुआ है—ऐसे क्षेत्रों का जिनमें स्पन्दन के सिवाय और कुछ है ही नहीं। विश्व तो इतना ठोस और विशाल, और उसके सिरजन में लगा हुआ एक मात्र मसाला—अमूर्त कान्त-क्षेत्र—इतना चञ्चल, इतना अस्थिर!

जो कुछ हो; तथ्य तो तथ्य ही रहेगा और उसे स्वीकार भी करना होगा। धीरे-धीरे हम यह स्वीकार करना सीख भी रहे हैं कि कान्त-कारीगरी के अपने कुछ ऐसे नियम कानून हैं जो उसके अधिकृत क्षेत्रों पर एक आवश्यक कड़ापन लाद ही देते हैं—एक ऐसा कड़ापन जो, यद्यपि हमारी बौद्धिक सूझबूझ से तो सर्वथा परे की चीज है, फिर भी विश्व को उसके समूचे सँस्थान में, बखूबी, रक्खे हुए है।

विश्व के सम्बन्ध की हमारी परम्परागत विचारधारा को

बिल्कूल एक नयी दिशा में, परन्तु सत्य की ओर, मोड़ देने में 'सापेक्ष-वाद' और 'क्वान्त-सिद्धान्त' के ही संयुक्त-मिले-जुले-हाथ रहे हैं; परन्तु सापेक्ष-वाद की अपेक्षा क्वान्त-सिद्धान्त ने ही मार्ग को अधिक प्रशस्त किया है। उसकी शक्ति अभी क्षीण नहीं हुई है और उसका काम अब भी चालू है। हमारी कल्पनाओ पर पड़े हुए उसके प्रभाव भी अनोखे है। इस सिद्धान्त ने हमें नयी शक्ति और नया ज्ञान दिया है जिससे हम पदार्थ या द्रव्य (matter) को, अपनी मर्जी के मुताबिक, रूप बदलने को बाध्य कर सकते हैं, और हमने ऐसा कुछ किया भी है; परन्तु, अफसोस ! अणु-बम और उद्जन-बम बनाने के आत्मघाती रूपों में ही।

नाभिक-विस्फोट की क्रिया

क्वान्त-सिद्धान्त ने मनुष्य को एक वर दिया था; अक्षुण्ण शक्ति, और विद्युत् बल के एक अटूट भण्डार की चाभी ही उसे सौंप दी थी। इस भण्डार से वह, जी भर कर, शक्ति और विद्युत्-बल ले सकता था। यदि मनुष्य इस अक्षयदेन को अपनी जाति के सामूहिक सुख-साधन में लगाता, तो.......? परन्तु अपने मन के भीतर बैठे हुए पशु की प्रेरणा पर उसने, अपने क्षुद्र और जघन्य स्वार्थों की पूर्ति में ही, इस अभूतपूर्व देन को खर्च करने की ठानी। आज की दुनियां में चन्द समर्थ और ताकतवर राष्ट्र, अणु के नाभिक से शक्ति ले लेकर, अपने

ही जाति भाइयों को डराने, धमकाने और जरूरत पड़े तो नेस्त-नाबूद तक कर देने के लिए भीषण अस्त्रों के निर्माण में ही व्यस्त हैं। पृथ्वी पर, अपने ही घर में बैठा हुआ कोई भी मनुष्य—बच्चा, बूढ़ा और स्त्री भी-आज निरापद नहीं है। भ्रम, संशय और दहशत के प्रलयकारी बादलों ने, आज, उसके भविष्य के आकाश को घोर अन्धकार में लपेट लिया है।

मनुष्य की मृत्यु, उसकी सभ्यता और संस्कृति की मृत्यु की दिल दहला देनेवाली सम्भावनाओं के वाहक यह काले बादल आये कहाँ से?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें, एक बार सिर घुमाकर, आदिम-कणो (elementary particles) की ओर देख लेना होगा। हमारी सारी विपत्तियों का स्रोत यहीं पर है।

बात का सिलसिला ठीक बैठाने के लिए, हम आदिम-कणो की उस सूची, जिसे हम अभी पीछे दे आये हैं, के ठीक आगे से ही अपनी बात शुरू करते हैं।

यह तो हम जान गये हैं कि उस तालिका में गिनाए हुए २० कण ही सभी मूल तत्वों के नाभिकों के मुख्य अङ्ग हैं। इनमें के प्रोटन कणो और न्यूट्रन कणों के कुछ ऐसे संयोग, ऐसे मिश्रण या ऐसे मिलाव भी होते है जो हमारे सुपरिचित कुछ नाभिक-कणों का निर्माण करते है। उदाहरण के रूप में हम 'आल्फा-कण' (alpha particle) को पेश करते हैं। इस कण के साथ हमारी पुरानी जानपहिचान है। वर्षों से हम यह जानते आये हैं कि

रेडियम धातु ऐसे कणों को अपने शरीर से निकाल-निकाल कर बाहर बिखेरता रहता है। दो प्रोटन कणों और दो न्यूट्रन कणोंके परस्पर मिलाव से ही एक 'आल्फा-कण' बनता है और, इस कारण, इस कण में धन-विद्युत् की दो शक्ति-युतियाँ रहती हैं (एक प्रोटन कण में धन-विद्युत की एक शक्ति-युति होती है)। रेडियम के शरीर से निकाल कर जब एक 'आल्फा-कण' बाहर फेंक दिया जाता है तो वह, अपने अकेलेपन को दूर करने के लिये, शीघ्र ही दो ऐसे एलेक्ट्रन कणों को पकड़ कर अपने आप में मिला लेता है जो स्वयं भी निर्वासित होते हैं—अपने सनातन घरों में से किसी कारण निकाल बाहर कर दिए गये होते हैं—और एक नये आश्रय की खोज में इधर-उधर भटकते फिरते हैं। दो एलेक्ट्रनों को अपने पेट में रख कर यह 'आल्फा-कण,' अब, 'हीलियम' helium मूलतत्व के एक अणुका स्वाँग भर लेता है ; हीलियम का एक अणु बन जाता है। अपने पुराने रूप को इस प्रकार बदल लेने में उसे कोई दिक़्क़त भी नहीं होती ; क्योंकि 'आल्फा-कण' का रूप, वैसे भी, हीलियम के एक अणु से बहुत मिलता-जुलता होता है, और थोड़ी बहुत जो कमी होती है, उसे यह दोनों एलेक्ट्रन-कण पूरी कर देते हैं।

संयुक्त-कणों के वर्ग का दूसरा एक कण है 'ड्यूटैरन' (deuteron particle) जिसमें एक प्रोटन-कण और एक न्यूट्रन-कण होता है ; और, इस कारण, धन-विद्युत् की, इसमें, एक ही शक्ति-युति होती है। इस हालत में वह अरक्षित और

अस्थिर होता है। अपने बाहर, एक परिधि पर, चारों ओर घूम-घूमकर पहरा देने के लिये जब यह किसी एक भगोड़े एलेक्ट्रन को पकड़ लेता है, तो वह एक ऐसा अणु बन जाता है जो, अपने रासायनिक गुणों में, उद्जन के एक अणु से करीब-करीब हम-रूप होता है ; यद्यपि वजन में वह उद्जन-अणु से दुगुना भारी होता है। उसके इस दुगुने भार का कारण भी स्पष्ट है : इस नवनिर्मित अणु (ड्यूटैरन अणु) के नाभिक में न केवल एक प्रोटन ही होता है, बल्कि एक न्यूट्रन भी, वहाँ, जुड़ा बैठा होता है ; जब कि एक उद्जन-अणु के नाभिक में अकेला एक प्रोटन ही रहता है। इस नये अणु का नाम भी, अब, ड्यूटेरियम पड़ जाता है। यह अणु, वास्तव में, उद्जन का ही एक 'आइसोटोप' (isotope) है। उसका दूसरा एक नाम और भी है ; 'भारी उद्जन' heavy hydrogen। दो ड्यूटेरियम अणु, रासायनिक प्रक्रिया में, ओषजन oxygen के एक अणु के साथ मिलकर 'भारी पानी' (heavy water) बन जाते हैं।

अब हम यह बात तो जान ही चुके हैं कि अन्य सभी अणुओं की अपेक्षा, उद्जन-अणु ही सर्वाधिक सरल और हल्का है। परन्तु उद्जन के अलावा, और भी ९१ मूल तत्व हैं (फिलहाल हम उन नव-निर्मित ६ मूल तत्वों को बाद दिए देते हैं, क्योंकि विश्व-प्रकृति में वह अपने मूल-रूपों में अब तक नहीं मिल पाए हैं)। इन सभी बाकी मूल तत्वों के आणविक नाभिकों में अधिकाधिक प्रोटन और न्यूट्रन होते हैं। वैज्ञानिकों

ने इन मूल तत्वों की एक तालिका बनाई है, जिसमें सर्वप्रथम, उद्जन का नाम है जिसके नाभिक में सिर्फ एक ही प्रोटन होता है। उसके बाद जिस क्रम में नाभिकों के प्रोटन अधिक होते जाते हैं, उस क्रम में ही उन मूल तत्वों को इस तालिका में स्थान दिया गया है। सबसे अधिक भारी, जटिल और सर्वाधिक प्रोटन रखने वाला यूरेनियम धातु है। इसके आणविक नाभिक में ९२ प्रोटन और १४६ न्यट्रन होते हैं, जिनका योगफल होता है २३८। क्योंकि इस मूलतत्व के नाभिक में ९२ प्रोटन होते हैं, इसलिये मूल-तत्वों की तालिका में इसको सबके ऊपर, ९२वां स्थान मिला है। इसका वजन या भार बताने के लिये इसके नाम के आगे २३८ के अङ्क लगा दिये जाते हैं; और इस प्रकार इसका पूरा नाम 'यूरेनियम २३८' है।

परन्तु, यूरेनियम की सिर्फ यह एक ही किस्म नहीं है; और भी दूसरी कुछ किस्में हैं, जिनमें १४१, १४३ और १४७ न्यूट्रन होते हैं। उन सबमें, प्रोटन तो वही ९२ ही होते हैं और, इस कारण, उन सबके रासायनिक गुण भी एक समान ही होते हैं। क्योंकि एक अणु का समूचा बोझ-भार उसके नाभिक के प्रोटनों और न्यूट्रनों की संयुक्त संख्या में ही होता है, इसलिये यूरेनियम की इन तीनों किस्मों के आणविक भार क्रमसे २३३, २३५, और २३९ होते हैं और उनको, एक दूसरे से अलग व्यक्त करने के लिये, क्रमसे यूरेनियम २३३, यूरेनियम २३५ और यूरेनियम २३९ कहते हैं।

एक ही मूल-तत्व की इन भिन्न-भिन्न किस्मों को, जिन सबके एक ही रासायनिक गुण होते हैं परन्तु भार अलग-अलग और न्यूट्रनों की संख्याएँ भी अलग-अलग होती हैं, उस मूल तत्व के 'आइसोटोप' (isotopes) कहते हैं। अधिकांश आइसोटोप तो ऐसे दिखते हैं मानों उन पर कोई एक तनाव पड़ रहा हो। इस तनाव के कारण उनमें लगातार एक विकरण या बिखराव होता रहता है, और इस बिखराव की क्रिया में वह आइसोटोप भाँति-भाँति के कणों और किरणों को उगलते रहते हैं। इस प्रकार, वह रेडियो-धर्मी या विकरणशील (radio active) है और उनको 'रेडियो-आइसोटोप' कहते है।

जो मूल-तत्व; स्वभाव से ही, विकरण-शील होते है, उनके 'आइसोटोपो' को तो हम, बहुत पहिले से ही, जानते आ रहे हैं; क्योंकि वह कुछ विशिष्ट किरणों को उद्गीर्ण करते रहते हैं। परन्तु, आणविक विज्ञान तो, और भी आगे बढ़कर, अनेक भाँति के नये आइसोटोपों का सिरजन कर चुका है। इन ९२ मूल-तत्वो में, करीब-करीब, सब तत्वों पर ही, इस विज्ञान ने, ऊँचे-वेगों के प्रोटनो को गोले बनाकर बमबारी की है। मूल तत्वों पर ऐसी बमबारी करने के लिये बड़े-बड़े 'साइक्लोट्रन' (cyclotron) यन्त्र बनाए गए है। साइक्लोट्रनों में तो जहा प्रोटनों के गोले बरसाये जाते है, वहीं, उतने ही बड़े 'आणविक रीएक्टरो (atomic reactors) में न्यूट्रनों के गोले दागे जाते हैं; परन्तु शिकार तो दोनो में एक ही है—मूल तत्व। इन तत्वों

के आणविक नाभिकों पर भीषण गोलाबारी कर, या तो उनमे कुछ और न्यूट्रन बढ़ा दिए जाते हैं या कुछ न्यूट्रनों को उनमें से निकाल लिया जाता है ; परिणाम होते हैं भिन्न-भिन्न किस्मों के 'आइसोटोप' जो, कुछ तो स्थिर होते हैं परन्तु अधिकांश होते हैं विकरण-शील।

इस प्रकार सभी रासायनिक तत्वों के कुल मिलाकर १००० से भी अधिक आइसोटोप आज जाने जा चुके हैं। न केवल यही ; वैज्ञानिकों ने तो अपनी प्रयोगशालाओं में यूरेनियम तत्व में, भिन्न-भिन्न सतहों पर, प्रोटनों और न्यूट्रनों को जोड़-जोड़ कर बिलकुल नये और भी ६ मूल-तत्व बना डाले हैं।

विश्व-प्रकृति ने तो यूरेनियम तक आकर अपने हाथ खींच लिये, परन्तु और अधिक पाने की मनुष्य की प्यास न बुझी। प्रकृति से और अधिक कुछ मिलता न देखकर वह अपनी प्रयोगशालाओं की ओर मुड़ा और उनके बल पर उसने यूरेनियम से भी आगे के ६ तत्व और भी बना डाले। संख्या ६३ और ६४ के तत्वों को उसने क्रमशः नेप्चूनियम और प्लूटोनियम नाम दिये। प्लूटो ग्रह के बाद सौर परिवार के किसी अन्य ज्ञात ग्रह के न होने के कारण आगे के मूल तत्वों के नाम राष्ट्र, नगर और व्यक्ति विशेष पर रक्खे गए। तत्व-संख्या ६५ को 'अमेरिकम', ६६ को 'क्यूरियम' (रेडियम के आविष्कर्त्ता के सम्मान में) ६७ को 'बर्केलियम' (उस शहर के

सम्मान में जहाँ यह बनाया गया) और ६८ को 'कैलीफोर्नियम' (अमेरिका के एक राज्य के नाम पर) कहा गया।

नवम्बर सन् १६५२ ई० में प्रशान्त महासागर पर एक 'ताप-नाभिक' (thermonuclear) अस्त्र 'टेस्ट माइक' (test mike) के विस्फोट में कुछ रेडियम-धर्मी मलबा इकट्ठा हो गया था। उस प्रयोग में शरीक कुछ वैज्ञानिकों ने उस मलबे से दो और भी नये मूल-तत्वों को अलग कर निकाला। इनमें से एक तो है तत्व संख्या ६६ और दूसरा है संख्या १००।

अमेरिका के एक मासिक पत्र 'दी फीजिकल रीव्यू' The Physical Review. में प्रकाशित एक खुले पत्र में इन वैज्ञानिकों ने उन मूल तत्वों के निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। उक्त विस्फोट से मुक्त हुए 'न्यूट्रन' कणों ने जब यूरेनियम २३८ के अणुओं पर आघात किया तो वह (न्यूट्रन) इन अणुओं के नाभिकों द्वारा पकड़ लिये गये।

तत्व संख्या ६६ के निर्माण में यूरेनियम २३८ के अणु-नाभिक ने १५ न्यूट्रनों को पकड़ा और उनके लिये जगह खाली करने के हेतु अपने ७ 'बीटा' कणो (एलेक्ट्रनो) को बाहर निकाल दिया। इस प्रकार निकाले गये प्रत्येक 'बीटाकण' का यह अर्थ हुआ कि उन कैद किये गये न्यूट्रनों मे से ७ न्यूट्रन तो 'प्रोटन' कण बन गये। यूरेनियम २३८ के एक सामान्य अणु के नाभिक में ६२ प्रोटन और १४६ न्यूट्रन होते है। अब उस नाभिक में ७ और 'प्रोट्रन' जुड़कर वहाँ ६६ प्रोटन हो गए। बाकी बचे कैदी

न्यूट्रन; जो अपने मूल रूप में ही रहकर उस नाभिक के १४६ न्यूट्रनों में मिल गये और तब उसमें कुल १५४ न्यूट्रन हो गये। इस प्रकार यह एक नया तत्व ६६ बन गया जिसका कुल भार २५३ हुआ।

सौवें तत्व को बनाने के लिए यूरेनियम २३८ के अणु-नाभिक ने उक्त विस्फोट से मुक्त हुए १७ न्यूट्रनों को पकड़ा और उनके लिए अपने आठ 'बीटा' कणों को निकाल बाहर फेंका। आगे की प्रक्रिया ठीक वही थी जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है। क्रम-संख्या १०० के इस नव-निर्मित मूल तत्व में १०० प्रोटन कण और १५५ न्यूट्रन कण हो गये और इसका कुल भार २५५ हुआ। इन वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया है कि तत्व ६६ को 'आइन्स्टीनियम' (Einstenium; अल्बर्ट आइन्स्टीन की स्मृति में) और तत्व १०० को फर्मियम (Fermium; एन्रीको फर्मी के नाम पर) नाम दिए जांय। विस्फोट की प्रक्रिया में स्वतः निर्मित इन दोनों मूल तत्वों को उक्त घटना के बाद आर्कों के इडाहो मैटीरियल्स टेस्टिंग रीएक्टर में वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा भी बनाया। उन प्रयोगों में उन्होंने कृत्रिम मूल-तत्व प्लूटोनियम (क्रम-संख्या ६४) को न्यूट्रन कणों की उचित खुराक देकर ही ऐसा किया था।

तत्वोंकी १००वीं संख्या पर आकर भी वैज्ञानिक चुप न बैठे। प्रयोगों का क्रम जारी रहा और ता० ३० अप्रेल सन् १६५५ ई० के दिन डा० ग्लेन सीबोर्ग (Dr. Glenn Seaborg) ने

वाशिङ्गटन नगर में अमेरिकन फीजिकल सोसाइटी की एक बैठक में अबतक के सबसे भारी मूलतत्व १०१ को बना चुकने की घोषणा की। इस तत्व को तो तुरन्त 'मेन्डेलेवियम' नाम भी दे दिया गया।

इस प्रकार मूलतत्वों के निर्माण में मनुष्य ने प्रकृति से होड़ लगाई और देखने में तो वह कुछ आगे बढ़ा भी। परन्तु वास्तव में उसका यह एक दम्भ मात्र है। मनुष्य की यह सब आणविक दुश्चेष्टाएँ कुछ क्षणो तक ही जीवित रहती हैं। मनुष्य के बनाए हुए यह सब कृत्रिम तत्व अपने स्वरूपों को ज्यादा देर तक बनाए नहीं रख सकते। ऐसा मालूम होता है कि नाभिकों को दृढ़ता से जकड़ रखने वाली शक्तियाँ यूरेनियम (तत्व-संख्या ९२) के और आगे ठीक काम नहीं करतीं। यूरेनियम से बड़े अणु या तो स्वयमेव बिखर पड़ते है अथवा वह 'रेडियो-सक्रिय (radio-active) विकरण की क्रिया द्वारा निचले मूलतत्वों मे परिणत हो जाते है। यही कारण है कि विश्व-प्रकृति में यूरेनियम से भारी और कोई मूलतत्व क्यों नहीं पाये जाते।

कृत्रिम मूलतत्वों का परिचय देकर अब हम फिर अपने प्रस्तुत विषय (अणु-विघटन) की ओर लौट पड़ते हैं।

वाह्य 'देश' से आती हुई किसी एक विश्व-किरण का ही एक भगोड़ा न्यूट्रन जब यूरेनियम के उस वर्ग पर, जिसे यूरेनियम २३५ कहते है, आघात करता है तो वह एक ही साथ बिखर पड़ता है और अपने कुछ न्यूट्रनो को बाहर फेंक देता है। ऐसा

एक न्यूट्रन जब यूरेनियम २३८ के एक अणु पर हमला करता है तो वह वहीं गिरफ्तार कर लिया जाता है। इस गिरफ्तार-शुदा न्यूट्रन के और मिल जाने पर वह यूरेनियम २३८ भी २३९ बन जाता है। अपनी बारी में यूरेनियम २३९ भी एक अधिक जटिल नाभिक प्रतिक्रिया में होकर गुजरता हुआ 'प्लूटोनियम (plutonium) बन बैठता है जिसका भार २४० होता है।

यूरेनियम २३५ के ही एक अणु का कोई एक न्यूट्रन जब प्लूटोनियम के एक अणु पर आघात करता है तो उस अणु के दो टुकड़े हो जाते हैं। इस विखण्डन के परिणाम होते हैं हलके मूलतत्वों के छोटे-छोटे अणु। परन्तु एक महत्वपूर्ण बात यह होती है कि जब विखण्डन होता है तो प्लूटोनियम के नाभिक को भीतर से बाँधकर रखने वाली शक्ति का कुछ भाग भी बाहर निकल पड़ता है और प्लूटोनियम का अणु न केवल टूटता ही है, अपितु उसके टूटे हुए टुकड़े प्रचण्ड शक्ति के साथ दूर-दूर उड़ पड़ते है। बस, यही प्रतिक्रिया उस भयावह अणु-बम की मूल आधार है।

एक बम में; जब एक अणु का विस्फोट होता है तो उस अणु की कसी हुई मुट्ठी में से छूटकर कुछ न्यूट्रन अत्यन्त तेज वेग से निकल भागते हैं और पास-पड़ौस के दूसरे अणुओं पर प्रचण्ड आक्रमण करके उनका भी विस्फोट कर देते हैं। अब इन टूटे हुए अणुओं में से निकल-निकल कर अधिकाधिक न्यूट्रन अपने पड़ौसियों की तोड़-फोड़ करते हुए उनकी मुट्ठी में कैद

अपने जाति-भाइयों को मुक्त करते जाते हैं और इस प्रकार, यह शृङ्खला चारों ओर विस्तार खाती हुई बढ़ती जाती है। यह सारी बातें, हमारी कल्पना से भी परे, इतनी शीघ्रता से होती हैं कि एक सेकन्ड के दस लाखवें भाग में ($\frac{१}{१,००० ०००}$ सेकण्ड में) अणु-बम का समूचा द्रव्य उस वर्णनातीत विस्फोट में टूट पड़ता है जिसने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नामक शहरों को बर्बाद कर दुनियाँ को दहला कर ही रख दिया।

रेखा-चित्र ३७ में हम ऐसी एक नाभिक प्रतिक्रिया का भद्दा सा (क्योंकि इसके सिवाय और कोई चारा ही नहीं) रूपण करते हैं। इसमें एक अकेले अणु की प्रतिक्रिया-शृङ्खला दिखलाई गई है।
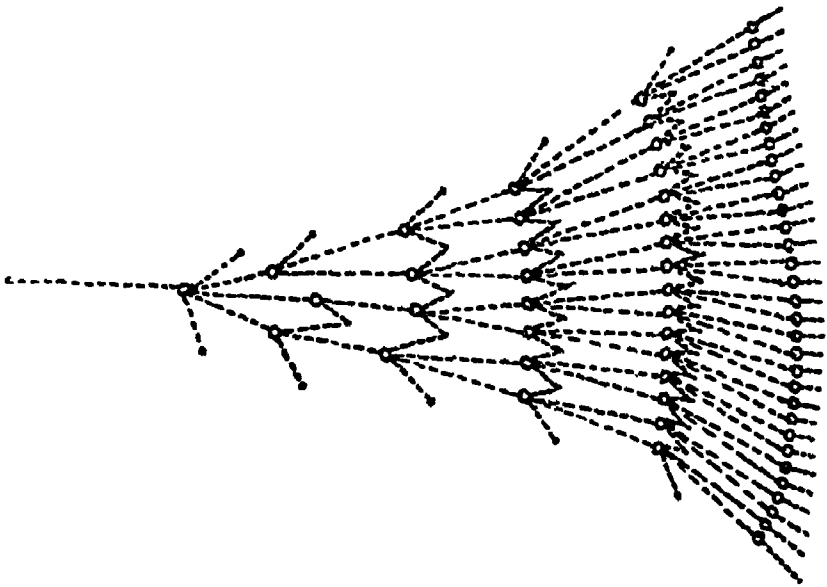
रेखा-चित्र ३७

विनाश और विध्वंस के इस भयजनक प्रसङ्ग को यहीं

समाप्त कर, अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि विज्ञान ने अटूट शक्ति और वल के रूप में, हमें जो वरदान दिया है उसका उपयोग मनुष्य के भौतिक सुख-साधनों को बढ़ाने में किस प्रकार किया जा सकता है।

यह सम्भव हो गया है कि अणु-नाभिक के विस्फोट से जो प्रचण्ड शक्ति पैदा होती है उसपर नियन्त्रण और रोक लगाकर हम, अपनी मर्जी के मुताबिक, उसका धीरे-धीरे उपयोग कर सकें। इस प्रचण्ड शक्ति-प्रवाह को इस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है कि यह हमारे काबू में आ सकने वाली मात्रा में वह सके और घण्टों, महीनों और वर्षों के दौर में, हमारी आवश्यकतानुसार, मुक्त किया जाता रहे। नाभिक-शक्ति को नियन्त्रित रखकर पैदा करने का सारा श्रेय बड़े-बड़े 'नाभिक रीएक्टरों' (nuclear reactors) को है।

यह 'नाभिक रीएक्टर' नियन्त्रित नाभिक-विस्फोटों के घर हैं। विस्फोट होने पर प्रचण्ड वेग से भाग छूटने वाले न्यूट्रनों और नाभिक के टुकड़ों के वेग को, इस रीएक्टर में, धीमा कर दिया जाता है और उनकी प्रचण्ड-शक्ति को चारों ओर रक्खे हुए पदार्थोंमें सोख भी लिया जाता है। जरूरत होने पर इस सोखी हुई शक्ति को, फिर, ताप के रूप में प्राप्त कर लिया जाता है। हो सकता है कि भावी शोधों के परिणामस्वरूप प्रचण्ड वेगों के उन नाभिक-अस्त्रों (न्यूट्रनों और दूसरे टुकड़ों) को जोत कर स्वयं उनसे ही विद्युत्-वल प्राप्त कर लिया जावे; परन्तु आज

की हालत तो यह है कि सभी 'आणविक रीएक्टर' सिर्फ ताप ही पैदा करते हैं और नाभिक-शक्ति को सिर्फ ताप के रूप में ही, उपयोग में लाया जा सकता है।

हम आज मशीनों के युग में रह रहे हैं—बड़ी-बड़ी मशीनों के, जो हमारे दैनिक जीवन की प्रत्येक छोटी बड़ी आवश्यक वस्तुओं को विशाल परिमाण में पैदा करती है। वास्तव में, हमारी आज की सभ्यता की नींव मशीनों पर ही रक्खी हुई है। इसलिए स्वभावतः हमारे सामने यही प्रश्न आता है कि नाभिक-रीएक्टरो' में उत्पन्न तापको (क्योंकि नाभिक के विस्फोट से मुक्त 'शक्ति', वहाँ, ताप में परिणत होकर हो रह सकती है) किस प्रकार पकड़ कर उसके द्वारा मशीनों को चलाया जाय। इन 'रीएक्टरों' का निर्माण करते समय यही प्रश्न प्रमुख रहता है कि किस प्रकार अधिक से अधिक ताप को पकड़ कर उससे 'चालक-बल' या 'विद्युत्-बल' का काम लिया जाय, ताकि विस्फोट करने वाले अणुओं की मुक्त की हुई प्रचण्ड शक्ति व्यर्थ तोड़-फोड़ में न छीज जाय।

एक 'रीएक्टर' को खड़ा करने और उससे काम लेने में प्रचुर धन-राशि खर्च होती है, और उतना ही खर्चीला है उसका ईंधन-यूरेनियम। यह बात देखते हुए यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या हम इतनी काफी मात्रा में 'ताप' को पकड़ तो सकेंगे ताकि वह अपने ऊपर खर्च की गई इस विशाल रकम को, कई गुना अधिक, वापिस लौटा सके? हमें यह भी देखना होगा

कि इस प्रकार प्राप्त किए गये ताप से जो 'चालक-बल' (विद्युत्-बल) उत्पन्न होगा उसका उत्पादन-व्यय, कोयलों और दूसरे चालू ईंधनों से उत्पन्न 'बल' के उत्पादन-व्यय की तुलना में कैसा है ?

इस काम में खतरे भी बहुत हैं ; विस्फोट के कारण अणु के नाभिक से मुक्त होने वाले न्यूट्रन-कण अत्यन्त ऊँचे वेग के होते हैं और इस कारण, यदि वह उचित नियन्त्रण में न रक्खे जांय तो न केवल कार्य-कर्ताओं के प्राणों को संकट में डाल देते हैं, अपितु स्वयं 'रीक्टर' को भी चूर-चूर कर देते हैं। जिन अणुओं पर वह आघात करते हैं उनको भी विकरण-शील आइसोटोपों के रूप में बदल देते हैं जो स्वयं खतरनाक होते हैं। इस कारण, किसी भी सीधे उपाय से 'शक्ति-ताप' को रीएक्टर के बाहर नहीं निकाला जा सकता। रीएक्टर के भीतर जो ठण्डा करने वाला 'द्रव' बहता रहता है वह भी विकरण-शील हो जाता है और इस कारण, किसी कारखाने के इञ्जिन को चलाने के काम में नहीं लिया जा सकता।

अधिक प्रचलित एक रीएक्टर में, ठण्डा करने वाला यह 'द्रव' सोडियम-धातु होता है। रीएक्टर से, नलों के भीतर बहता हुआ, यह द्रव 'ताप-परिवर्तक' heat exchanger में चला जाता है जहाँ पानी के द्वारा यह स्वयं ठण्डा किया जाता है, और इस प्रकार स्वयं ठण्डा होकर यह द्रव फिर उस रीएक्टर को एक बार और ठण्डा करने के लिए, उसमें ही लौट जाता है।

'ताप परिवर्तक' का पानी, उस 'द्रव' को तो ठण्डा कर देता है, परन्तु उसका ताप अपने में सोख कर स्वयं भाप बन जाता है। यह भाप खतरनाक नहीं होती क्योंकि विकरण-शील 'सोडियम द्रव', जिसका उल्लेख हम पिछले अवच्छेद में कर आये हैं और जिसको ठण्डा करने की क्रिया में ही पानी भाप बन जाता है, न्यूट्रन-कणों को उद्गीर्ण नहीं करता है और इस कारण उस पानी अथवा उसकी भाप को प्रभावित नहीं करता। इस भाप को एक टर्बाइन steam turbine के भीतर जाने दिया जाता है जहाँ जाकर इस भापकी ऊँचे दबावकी शक्ति उस टर्बाइनको नचा कर उसमें से विद्युत-बल उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार, एक दूसरे के बाद होने वाले कुछ दर्जों में जाकर, विस्फोट करने वाले प्लूटोनियम अथवा यूरेनियम अणुओंकी मूल शक्ति, विद्युत्-घर power house से विद्युत् की तरङ्गों के रूप में प्रगट होती है।

इससे यह तो स्पष्ट है कि 'नाभिक-रीएक्टर' शक्ति के महज स्रोत ही हैं। किसी एक बड़े विद्युत्-घर में यदि एक रीएक्टर बैठाया जाय तो वह केवल कोयले की भट्टी की जगह ही लेगा, बाकी सब यन्त्र उसमें ज्यों के त्यों ही रहेंगे।

नाभिक-रीएक्टर भी अनेक भाँति के होते हैं। उनके सभी अङ्ग प्रायः एक ही समान होते हैं; फर्क सिर्फ ऊँचे नीचे दर्जों का ही होता है। उनका ईंधन भी हमेशा वही होता है—यूरेनियम २३३; २३५ अथवा प्लूटोनियम। इनमें के किसी एक का अणु जब विस्फोट करता है तो वह, अपने बराबर वजन के कोयले के

जलने से उत्पन्न होने वाले ताप का ३० लाख गुना ताप मुक्त करता है।

विस्फोट करने वाले पदार्थों का, शुद्ध रूप में, मिलना अत्यन्त दुर्लभ है और उनको बनाना बड़ा खर्चीला है। प्रकृति में मिलने वाले यूरेनियम के सभी खनिज टुकड़ों में यूरेनियम २३५ उनका सिर्फ ०.७% भाग ही होता है। क्योंकि यूरेनियम २३८ के ९९.३% भाग के साथ यूरेनियम २३५ का ०.७% भाग काफी घुला मिला होता है, इसलिए अत्यन्त जटिल और खर्चीली प्रक्रियाओं द्वारा ही यह उससे अलग किया जा सकता है। प्लूटोनियम भी, यूरेनियम २३८ से, सिर्फ एक रीएक्टर में ही बनाया जा सकता है; और इसी प्रकार, थोरियम धातु से यूरेनियम २३३ बनाया जा सकता है। इस कारण ही, इन सब शुद्ध विस्फोटक पदार्थों को बनाने का खर्च, प्रति पाउण्ड हजारों डालर पर जाता है। औद्योगिक कामों के लिए 'नाभिक-बल' बनाने में, ज्यादातर, कम शुद्ध रूपों के विस्फोटक ही बरते जाते हैं—ऐसे रूप जिनमें साधारण यूरेनियम को ही कुछ विस्फोटक चीजें और मिलाकर सिर्फ 'अधिक शक्ति-पूर्ण' enriched कर दिया जाता है।

एक रीएक्टर में प्लूटोनियम बनाने के लिए ऊँचे दर्जे के यूरेनियम-२३५ को ही ईंधन किया जाता है। यह रीएक्टर, तब, साधारण यूरेनियम-२३८ को प्लूटोनियम में बदल देता है। उसको फिर, रासायनिक क्रियाओं से, शुद्ध रूप में अलग कर

लिया जाता है और बम बनाने अथवा दूसरे रीएक्टर में ईंधन बनाने के लिए उसको बरतते हैं। यदि रीएक्टर में सिर्फ 'विद्युत्-बल' ही उत्पन्न करना हो तो 'अधिक-शक्ति पूर्ण' enriched यूरेनियम को ईंधन बनाया जायगा। प्रत्येक रीएक्टर में एक 'मोडरेटर' moderator आवश्यक रहता है, चाहे वह ग्रैफाइट हो, भारी पानी हो अथवा बेरीलियम हो। इस 'माडरेटर' या उन पदार्थों का, जिन्हें हम गिना चुके हैं, यह काम होता है कि हजारों मील प्रति सेकण्ड के वेग से दौड़ने वाले न्यूट्रनों के वेग को इतना मन्द कर दे कि यूरेनियम के अणु उनको (न्यूट्रनों को) आसानी से पकड़ सकें और विस्फोट करा सकें।

प्रत्येक रीएक्टर में कुछ ऐसे द्रव्य और भी होने जरूरी हैं जो उन न्यूट्रनों को पकड़ तो लें, परन्तु उनके द्वारा स्वयं विस्फोटित न हो सकें। इस मतलब केलिए ज्यादातर कैडमियम cadmium धातु का ही उपयोग किया जाता है। यह धातु, भागने वाले न्यूट्रनों की सॅख्या को कम कर देता है और विस्फोट की प्रति-क्रिया की मात्रा पर काबू भी रखता है। कैडमियम को मोटे मोटे डण्डों के रूप में ही काम में लेते है। जब ऐसा मालूम हो कि विस्फोट की प्रति-क्रिया, आवश्यक से अधिक तेजी से हो रही है तो उन डण्डों को रीएक्टर में घुसा दिया जाता है जिससे विस्फोट की प्रति-क्रिया मन्द पड़ जाय। यदि प्रति-क्रिया को एकदम रोक देना हो और रीएक्टर के काम को एक वार बन्द कर देना हो, तो इन डण्डों को ठेठ तक पूरा घुसेड़ दिया जाता

है। इस प्रकार कैडमियम के इन डण्डों की बदौलत विस्फोट की प्रति-क्रियाओं के वेग और विद्युत्-बल की उत्पत्ति का वेग, दोनों काबू में रक्खे जाते हैं; और किसी एक भगोड़ी प्रति-क्रिया और एक अवाञ्छित विस्फोट के खतरे भी टाले जाते हैं।

प्रत्येक रीएक्टर में ऐसे भी साधन होने जरूरी हैं जो 'ताप' को दूर अलग ले जा सकें। यह, इसलिए जरूरी है ताकि अत्य-धिक ताप के कारण रीएक्टर ही स्वयं पिघल न जांय। सभी भाँति के रीएक्टरों पर यह बात समान रूप में लागू है। जो रीएक्टर विद्युत्-बल का उत्पादन करते हैं, उनमें ठण्डा करने वाला द्रव, जिसका वर्णन हम पीछे कर आये हैं, एक महत्वपूर्ण भाग लेता है।

अन्त में, प्रत्येक रीएक्टर में एक ऐसी समर्थ ढाल भी होनी जरूरी है जो विस्फोट की प्रतिक्रियाओं में से भाग निकलने वाले न्यूट्रनों को सोख सके जिससे वह उस कमरे में न आ घुसें जहाँ वैज्ञानिक और उनके सहकारी बैठे काम करते हों। शीशे की धातु या सीमेन्ट-कॅकरीट अथवा दोनों की ही बनी हुई मोटी-मोटी दीवारें ही इस ढाल का काम देती हैं। बिना एक ऐसी ढाल हुए, किसी भी रीएक्टर पर, सुरक्षा के साथ, काम नही किया जा सकता और इस कारण यह सम्भव नहीं मालूम होता कि मोटर-गाड़ियों को चलाने और मकानों को गरम रखने में इन रीएक्टरों का उपयोग हो भी सकेगा क्योंकि अकेली यह ढाल ही सैकड़ों मन वजन की हो जायगी। विद्युत्-तरङ्गों के

उत्पादक एक बड़े 'विद्युत्-घर' (power house) में अथवा एक बड़े जल-पोत में तो यह भारी ढाल बैठाई भी जा सकेगी परन्तु वायु-यानों में आणविक इञ्जिन लगाने की राह में तो यह ढाल बड़ी कठिन रुकावट डाले रहेगी।

मई सन् १९५३ ई० तक तो यही लगता था, जैसे कि इस नव-प्राप्त नाभिक-शक्ति को मनुष्य की सेवा में लगा पाने का स्वप्न महज एक सुखद् कल्पना ही बना रहेगा। इस शक्ति के सर्व-सुलभ उपयोग में दो बड़ी बाधाएँ थीं; प्रथम तो शुद्ध विस्फोटक इँधन का बहुत मँहगा पड़ जाना और दूसरे यह अनिश्चितता कि पृथ्वी पर 'आणविक उद्योग-धन्धों के युग' को लाने के लिए काफी तादाद में यूरेनियम धातु मिल भी सकेगा या नहीं। परन्तु, धन्य है उन अमेरिकन वैज्ञानिकों को, जिन्होंने अपने अथक परिश्रम और असाधारण लगन के साथ शोध करते हुए, आखिर एक 'ब्रीडर रीएक्टर' (a 'breeder' reactor) को बना ही डाला। इसरीएक्टर को बनाकर उन्होने, एक ही बार में, उक्त दोनों बाधाओं को दूर कर डाला— यूरेनियम की सुलभ होने वाली राशि को १४० गुना अधिक कर दिया और इँधन के व्यय को, करीब-करीब. शून्य जैसा ही कर दिया। मनुष्य-जाति की सेवा में किए गये उनके इस अनुदान का महत्व अभी पूरा तो नहीं आँका जा सका है, परन्तु 'ब्रीडर रीएक्टर' ने, आज, नाभिक-शक्ति-उत्पादन के भविष्य को काफी उज्ज्वल बना दिया है ।

यह रीएक्टर 'विद्युत्-बल' तो उत्पन्न करता ही है परन्तु. साथ ही साथ, वह इतना नया विस्फोटक पदार्थ भी और बनाता रहता है, जितना वह स्वयं अपने आप खर्च करता है; शायद कुछ अधिक ही बनाता है। एक उड़ती नजर से देखने पर तो यह बात असम्भव-सी ही लगती है—इतनी असम्भव जितनी कि कोयले की एक भट्टी की कल्पना जो ताप उत्पन्न करने में टनों कोयलों को जला भी डाले और अन्त में, जलाये गये कोयलों की अपेक्षा अधिक ताजे कोयले रक्खे भी रहे। यदि ऐसा हो सके; यदि कोयले की ऐसी एक भट्टी तथ्य बन जाय तो?—ऐसी भट्टी न केवल बिना किसी ईंधन-खर्च के हमारा काम भी चला दे, अपितु दूसरे उपभोक्ताओं को नये ताजे कोयले बेचने का भी हमें मौका दे दे। कोयले की ऐसी एक भट्टी का हमारा स्वप्न तो शायद पूरा न हो और एक असम्भव कल्पना ही बना रहे, परन्तु एक 'ब्रीडर रीएक्टर' में आणविक ईंधन का यह चमत्कार तो, आज, एक वास्तविक सत्य है।

यह चमत्कार, आखिर, सम्भव कैसे होता है? यह तो हम पीछे लिख ही आये हैं कि जब यूरेनियम-२३५ का एक अणु विस्फोट करता है, तो उसमेंसे अत्यन्त ऊँचे वेगों के अनेक न्यूट्रन निकल पड़ते हैं। यदि विस्फोट की प्रतिक्रिया चालू ही रहे, तो उनमें का कोई एक न्यूट्रन, यूरेनियम—२३५ के किसी दूसरे एक अणु पर, अवश्य, आघात करेगा; जिससे वह पिछला अणु भी, अपनी बारी में, विस्फोट करेगा। उस विस्फोट की क्रिया

में, यदि दो न्यट्रन निकल पड़े हों, तो उनमें का एक न्यूट्रन तो उस क्रिया को और आगे बढ़ाता जायगा ; जब कि दूसरा न्यूट्रन, अपने मार्ग में रक्खे हुए साधारण यूरेनियम (जो विस्फोट न करता है) पर आघात कर उसे 'प्लूटोनियम' में परिवर्तित कर देगा। यह नव-निर्मित प्लूटोनियम, यूरेनियम—२३५ की तरह ही विस्फोटक होगा, और इस प्रकार, उस ईंधन की वही पुरानी विस्फोट-शक्ति, फिर लौटकर, उसमें आ जायगी। यदि यूरेनियम—२३५ का विस्फोट, हमेशा, दो न्यूट्रनों को उगलता रहे और, यदि उक्त दोनों ही क्रियाएँ, शत प्रतिशत, कारगर होती रहें, तो वह भट्टी (ब्रीडिङ्ग रीएक्टर) सस्ते प्राकृतिक यूरेनियम—२३८ में से अपना ईंधन, स्वयं ही लगातार बनाती रहेगी। अब, सिर्फ दो ही प्रश्न रह जाते हैं ; प्रथम तो यूरेनियम—२३५, अपने विस्फोट में, कितने न्यट्रन-कणों को उगलेगा ; और दूसरे, यह समूची प्रक्रिया कितनी दक्ष और कारगर होगी ?

विस्फोट की क्रिया में कितने न्यूट्रन निकलते हैं, इसकी कोई शुद्ध संख्या, अभी तक, उन वैज्ञानिकों ने प्रकट नहीं की है। परन्तु, उन्होंने यह तो बतला ही दिया है कि ऐसे न्यूट्रन 'दो से अधिक' तो होते ही हैं। इन शब्दों से यह ध्वनि तो अवश्य निकलती है कि रीएक्टर में लगे हुए कैडमियम के डण्डों और दूसरे अक्रिय द्रव्यों पर आघात करते हुए कुछ न्यट्रन भले ही खो जाँय ; फिर भी, हर हालत में दो ऐसे न्यूट्रन होंगे ही जिनमें

से एक तो उस विस्फोट की प्रतिक्रिया को आगे बढ़ा देगा और दूसरा न्यूट्रन ताजा इंधन निर्माण कर देगा। यदि उन दोनों न्यूट्रनों के साथ तीसरा एक न्यूट्रन और भी हो, तो अधिक सम्भावना इसी बात की है कि वह रीएक्टर अपनी खपत से अधिक इंधन तैयार भी कर देगा।

थोरियम खनिज धातु के विषय में तो हमें पूरा विश्वास है, और हम अच्छी तरह जान भी गये हैं, कि इसके व्यवहार में खपत से अधिक इंधन तैयार होता ही है। मूल इंधन तो यहाँ भी, यूरेनियम-२३५ ही है। अगर यूरेनियम-२३५ का एक न्यूट्रन, थोरियम-२३२ के एक अणु पर आघात करेगा (और थोरियम-२३२ स्वयं विस्फोटक नहीं है) तो वह अणु बदल कर यूरेनियम-२३३ का एक अणु बन जायगा, जो विस्फोटक होगा। यह प्रतिक्रिया इतनी कारगर होगी कि इसमें यूरेनियम-२३५ की अपेक्षा यूरेनियम-२३३ ही अधिक बनेगा। इस प्रकार, खपत से अधिक इंधन तैयार होने का मतलब ही होगा कि उस अधिक इंधन को दूसरे उपभोक्ताओं के हाथ बेचा जाय। इस बिक्री से जो आय होगी, वह 'नाभिक रीएक्टर' में उत्पन्न 'विद्युत-बल' के कुल व्यय को काफी कम कर देगी।

इन दोनों ही अवस्थाओं में—यूरेनियम और थोरियम के व्यवहारों में—अधिक सुलभ और अधिक सस्ते द्रव्य, यूरेनियम और थोरियम ही आणविक इंधनों के रूपों में परिवर्तित कर दिए जायँगे। इस नये रीएक्टर का मुख्य काम ही यह होगा कि

पृथ्वी की खानों में पाए जाने वाले सभी यूरेनियम और थोरियम खनिज बदले जाकर नाभिक-शक्ति और 'बल' पैदा करने के अत्यन्त सस्ते ईंधन बना दिए जायँगे; और हमें यूरेनियम-२३५ के रूप में प्राप्त ०.७% यूरेनियम ईंधन की दुर्लभ मात्रा पर ही निर्भर रहना न होगा।

जिस 'ब्रीडर रीएक्टर' ने आज हमें यह सब जानकारी देकर हमारे सुन्दर भविष्य को मूर्त रूप दिया है, वह स्वयं एक छोटा संस्थान है, जिसमें २५० किलोवाट बिजली पैदा होती है। एक छोटे शहर की सभी आवश्यकताओं के लिये तो यह काफी है। इस रीएक्टर के मध्यभाग में विस्फोटक यूरेनियम-२३५ का एक गोल टुकड़ा रहता है जो हमारे खेलने के एक फुटबाल गेंद के बराबर है। इस टुकड़े के चारों ओर साधारण यूरेनियम-२३८ का एक मोटा और गोल 'सीलिन्डर' होता है जो न्यूट्रनों को पकड़-पकड़ कर, स्वयं प्लूटोनियम बनता रहता है। इस क्रिया में, उस सक्रिय गोल टुकड़े (यूरेनियम-२३५) के प्रत्येक क्यूबिक इञ्च से ४००० वाट के बराबर ताप उत्पन्न होता रहता है।

तुलना के लिये, हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'तैल-चालित' एक बायलर, प्रतिक्यूबिक इंच तैल ईंधन से सिर्फ ६०० वाट ताप ही उत्पन्न करता है। इस ब्रीडर रीएक्टर में लगे हुए नलों में बहने वाले द्रव-सोडियम—के द्वारा उसमें उत्पन्न ताप को बहाकर अलग ले जाया जाता है। रीएक्टर से बाहर निकलते समय इस सोडिअम-द्रव का तापमान करीब '६०

एफ्' (६० अंश फाह्रेनहाइट) होता है। अपने लाए हुए उस ताप को वह 'द्रव', हीट-एक्स्चेन्जर में रहने वाले पानी को सौंप देता है जो भाप वनकर, एक टरबाइन को चला कर, बिजली पैदा करता है।

रीएक्टर अभी अपनी शैशवावस्था में है ; यह उषःकाल के आकाश का वह तारा है जो अपनी सफेद किरणों को पृथ्वी पर भेजकर यह आशा भरा सन्देश देता है कि नये कल का प्रभात होने ही वाला है। सब कुछ होगा ; इस बीच, सर एन्थोनी ईडन के आशा और विश्वास से लबालब भरे शब्दों में, हम सिर्फ यही कहते हैं,"........the pace of atomic development, will bring nearer the day when the full benefits of atomic power for peaceful purposes will be at the services of mankind." अर्थात् आणविक विकास का कदम उस दिन को अधिक निकट ले आवेगा जिस दिन, शान्तिपूर्ण व्यवहारों में प्रयुक्त आणविक बल, मनुष्य की सेवा करता होगा। (२० जून सन् १६५५ ई० को लन्दन के 'हाउस आफ कामन्स' में दिए गए भाषण का एक अंश)।

———

अठारहवाँ परिच्छेद

उलटे गठन के अणुओं का एक अन्य विश्व

हमारी पृथ्वी का एक सैलानी युवक अनन्त 'देश' (space) की सैर को निकला। घूमते-घूमते, वर्षों बाद वह एक ऐसे ग्रह पर जा उतरा जहाँ, पृथ्वी की तरह ही, जीवन के सभी खेल हो रहे थे। युवक ठहरा मन चला ; उस ग्रह की एक सुन्दर युवती को अपना दिल दे बैठा। युवती भी उसकी ओर खिच आई। प्रणय-लीला चल पड़ी। पृथ्वी के पुत्र ने उस ग्रह की बेटी के होठो पर अपने होठ रक्खे ही थे कि........एक दिल दहला देने वाला धमाका, विद्युत-चिनगारी की एक कौंध....और पृथ्वी और वह ग्रह, दोनो, अपने दो लाडलों को रोकर रह गये।

अमेरिका और यूरोप में आज कल ऐसे कथानकों के वैज्ञानिक उपन्यास जन-प्रिय हो रहे हैं। कुछ उपन्यास-लेखक आज उलटे गठन और उलटे गुणो के पदार्थ (anti-matter) की एक कल्पित दुनियांकी पृष्ठभूमि पर ही अपने उपन्यासोकी अवतारणा करना अधिक पसन्द करने लगे है। इन लेखको की कल्पनाएँ इस मूल आधार पर चलती है कि अनन्त के किसी एक अज्ञात और एकान्त भाग मे ऐसी नीहारिकाओं और उनके

ग्रहों का एक विश्व और भी है जो सब, विपरीत-धर्मी पदार्थ (anti-matter) की बनी हुई हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव और उस पर आधारित युक्तियों की राह चलने वाला विज्ञान इस विषय में अधिक तो कुछ नहीं कहता ; हाँ,हमारे परिचित विश्व का निर्माण करने वाले द्रव्य या पदार्थ के अणुओं के नाभिकों में रहने वाले प्रोटन और न्यूट्रन कणों से बिल्कुल उलटे गठन और गुणों के 'एन्टी-प्रोटन' और 'एन्टी-न्यूट्रन' (anti-protons and anti-neutrons) का साक्षात्कार तो वह (विज्ञान) कर ही चुका है।

पिछले परिच्छेद में हम यह बता आये हैं कि एक प्रोटन में धन-विद्युत् की शक्ति होती है। अब यदि इस प्रोटन में धन-विद्युत् की बजाय ॠण-विद्युत् की शक्ति हो तो वही प्रोटन उलटे गठन और गुण का एक 'एन्टी-प्रोटन' बन जावेगा। एक प्रोटन के चारों ओर जहाँ ॠण-विद्युत् का एक कण एलेक्ट्रन घूमता रहता है वहीं इस 'एन्टी-प्रोटन' के चारों ओर घूमता हुआ होगा धन-विद्युत् का एक एलेक्ट्रन कण।उद्‌जन-अणुओं (hydrogen-atoms) को छोड़कर बाकी सब अणुओं के नाभिकों में न्यूट्रन कण भी होते है जो और सब बातों में प्रोटन की तरह होते हुए भी विद्युत् की किसी भी शक्ति से शून्य होते हैं। उलटे गठन के उस अणु के नाभिक में, जो हमारा प्रस्तुत विषय है,एन्टी-प्रोटनों के साथ एन्टी-न्यूट्रन भी होंगे।

सन् १९३३ ई० में ही वैज्ञानिकों को एक चौथे कण 'पोजीट्रन'

(positron) के अस्तित्व का पता लग चुका था। इस कण का दूसरा नाम है 'पोजीटिव एलेक्ट्रन' (positive elctron)। इस कण में एक सामान्य एलेक्ट्रन के और सब गुण या धर्म तो होते ही हैं परन्तु इसकी एक विशेषता भी है। यह कण ऋण-विद्युत् की शक्ति की जगह धन-विद्युत् की शक्ति को ओढे रहता है। किसी भी ज्ञात अणु के भीतर इस कण की उपस्थिति अब-तक नहीं देखी गई है। अनन्त के 'देश' से आकर पृथ्वी पर पहुँचने वाली विश्व-किरणो (cosmic rays) में यह कण देखा गया है। एक पोजीट्रन कण और एक एलेक्ट्रन कण जब आपस में टकराते हैं तो न केवल वह एक दूसरे की विरुद्ध शक्ति-युतियों (electrical charges) को ही नष्ट करते हैं; अपितु स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। उनकी इस मुठभेड़ का परिणाम होता है ऊँची वेध शक्ति की गामा किरणें (gamma rays) जो कम्पनों के रूप में चारों ओर फैल जाती हैं। किसी भी ठोस पदार्थ को भेदकर यह किरणें उसके अन्तर में प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार वह दोनों प्रतिद्वन्द्वी कण एक दूसरे का संहार कर अमूर्त 'किरण-प्रसरण' (radiation) में परिणत हो जाते हैं।

धन-शक्तियुत एलेक्ट्रन कण को जान लेने के बाद वैज्ञानिक क्षेत्रों में यह अटकलें लगाई जाने लगीं कि ऋण-शक्तियुत प्रोटन कण का अस्तित्व भी अवश्य होना चाहिए।

गणित के विशुद्ध सिद्धान्त में तो ऐसे एक कण का अस्तित्व

निश्चित था। सोचा जाता था कि ऐसा कोई कण यदि हो भी तो व्यावहारिक रूप में वह दुष्प्राप्य ही होगा।

सन् १६५१ ई० में अमेरिका में इण्डियाना विश्वविद्यालय के डाक्टर जे० जी० रिटैलक (Dr. J. G. Retallack) ने विश्व किरणों की एक बौछार की राह में फोटो लेने का एक प्लेट रक्खा। उन किरणों ने उस प्लेट पर कुछ ऐसे चिह्न अङ्कित किये जो, डा० रिटैलक के मत में, ऋण-विद्युत्के एक प्रोटन द्वारा किये गये ही हो सकते थे। अमेरिका में ही मैसाचुसेट्स इन्स्टीट्यूट आफ टेकनोलोजी के डा० रोस्सी (Dr. Rossi) ने भी सन १६५४ ई० में विश्व-किरणों का एक अनोखा फोटो प्राप्त किया जो एक ऋण-विद्युतीय प्रोटन के पद-चिह्नों का संकेत दे रहा था।

'एन्टी-प्रोटन' कण के जीवन-वृत्त में २१ सितम्बर सन १६५५ ई० का दिन चिर-स्मरणीय रहेगा ; क्योंकि उस दिन कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के चार वैज्ञानिकों ने ताँबे के एक लम्बे परन्तु बारीक टुकड़े पर ऊँचे वेग से दौड़ने वाले प्रोटन कणों की बौछार कराने के लिये अपने बड़े 'बीवैट्रन' (Bevatron) यन्त्र का उपयोग किया। 'बीवैट्रन' एक यन्त्र का नाम है जो किसी भी विद्युत्-शक्तियुत एक कण को ६ अरब एलेक्ट्रन-वॉल्ट (electron vaults) की शक्ति प्रदान कर उसे एक अत्यधिक ऊँचा गति-वेग दे देता है। अमेरिका के 'एटोमिक एनर्जी कमीशन' ने ऐसे ही कुछ कामों को करने के लिए इस यन्त्र का

निर्माण किया था। इस प्रचण्ड शक्ति को "६' २ बीव शक्ति" (6.2. Bevs.) कहते हैं।

इस प्रयोग में भाग लेने वाले वैज्ञानिक थे ; ओवेन चेम्बर-लेन (Owen chamberlain), एमीलियोसीगर (Emilio-Segre) क्लाइड वीगैण्ड (Clyde Wiegand) और टामस सिलान्टीस (Thomas YPsilantis)।

इस महान् प्रयोग में तांबे के अणु के एक न्यूट्रन पर उस कृत्रिम बौछार के एक प्रोटन ने जब आघात किया तो उस गति-शील प्रोटन की वह प्रचण्ड शक्ति कण रूप में बदल गयी—अमूर्त शक्ति ही स्वयं एक मूर्त कण बन गयी। इस मुठभेड़ से दो कण निकल पड़े ; एक था हमारा परिचित सामान्य धन शक्तियुत प्रोटन कण और दूसरा था ऋण-शक्तियुत एक प्रोटन कण। इस नव-जात कण का नाम 'एन्टी-प्रोटन (anti-proton) रक्खा गया। उसी साल, ओक्टोबर महीने में, इस नव-ज्ञात कण का द्रव्य-भार (mass) और शक्ति-युति (charge) भी बिल्कुल शुद्ध जान लिये गये।

कणों के इस एक जोड़े के निर्माण के इस प्रयोग में करीब दो बीव शक्ति (2 Bevs.) ही अपना रूप बदल कर एक कण, एन्टी-प्रोटन, बन गयी थी। अणु-बमों के निर्माण की प्रक्रिया से, जहां पदार्थ (matter) ही अपना रूप बदल कर शक्ति बन जाता है, यह ठीक उलटी प्रक्रिया है; क्योंकि यहां शक्ति फिर पदार्थ बन जाती है।

अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये इस कण को एक कठिन परीक्षा भी देनी पड़ी। कैलीफोर्निया के उन चार वैज्ञानिकों ने इस नव-ज्ञात कण से युक्त एक किरण को 'मेभ़' (Maze) नामक एक भुलभुलैया यन्त्र पर फेंका। इस यन्त्र में अनेक ऐसे यन्त्र और भी लगे हुए थे जो चुम्बकीय क्षेत्रों और द्रव्य-मात्रा एवं गतियों को नापने के काम में लिये जाते हैं। इस भुलभुलैया की एक विशेषता यह थी कि उल्टे गठन और गुणों का एक 'एन्टी-प्रोटन' कण ही उस के घुमावदार मार्गों से होकर बाहर निकल सकता था। प्रत्येक बाधा और रुकावट को लाँघकर कुछ थोड़े से कण ही उस पार बाहर आ सके। एक बात तो अवश्य हुई ; यह विजयी कण ज्यादा देर टिक नहीं पाये। एक सेकण्ड के कुछ भाग के बीतते-बीतते ही ऐसे प्रत्येक कण की मुठभेड़ हमारे विश्व के एक सामान्य प्रोटन अथवा एक न्यूट्रन कण से हुई और इस द्वन्द्व-युद्ध में दोनों ही लड़ाके कण आपस में कट करे।

इस प्रकार, 'एन्टी-प्रोटन' कणों को कृत्रिम रूप से बनाने में हमारे वैज्ञानिक सफल तो जरूर हो गए हैं ; परन्तु फिलहाल वह अपनी इस सफलता से कोई व्यावहारिक लाभ भी नहीं उठा सके हैं। कारण यह है कि इन नव-ज्ञात कणों के साथ प्रोटनों और न्यूट्रनों की मानो जन्मजात शत्रुता है। जहाँ कहीं भी ऐसे विरोधी कण एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, वहीं वह एक दूसरे से भिड़ पड़ते हैं और इस मुठभेड़ में दोनों ही अपनी

जानें गवाँ बैठते हैं। मरते समय उन दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियों की जीवात्माएँ शक्तिकी एक संयुक्त कोंध के रूपमें चमक कर निकल जाती हैं। इस बात को देखते हुए धन-शक्ति-युत प्रोटनों से ओतप्रोत विश्व-प्रकृति में एन्टी-प्रोटनों को खोज पाने के प्रयास उतने ही निरर्थक होंगे जितने कि डी०डी०टी० चूर्ण से भरी हुई एक बोतल में जीवित कृमियों को देख पाने के हमारे प्रयास।

जो कुछ हो ; सिद्धान्तवादी वैज्ञानिक तो आज यह सोच कर फूले नहीं समाते हैं कि आखिर उन्होंने विश्व-प्रकृति के सन्तुलन-नियम (the balance of nature) को जान लिया है। जिस प्रकार ऋण-विद्युत् के एक एलेक्ट्रन कण का प्रतिद्वन्द्वी एक 'पोजीट्रन' कण होता है, ठीक उसी प्रकार धन-विद्युत् के एक प्रोटन का प्रतिद्वन्द्वी होता है ऋण-विद्युत् का एक प्रोटन कण; एक 'एन्टी-प्रोटन'कण। एलेक्ट्रनों की दो विरुद्ध-धर्मी किस्में (एलेक्ट्रन और पोजीट्रन) जैसे एक दूसरे का नाश करने को तत्पर रहती हैं, वैसे ही प्रोटनों की यह दोनों किस्में (प्रोटन और एन्टी-प्रोटन) भी वही काम करती हैं।

कैलीफोर्निया के उक्त प्रयोग का एक महत्व और भी है। शक्ति को पदार्थ में परिणत करने की क्रिया को इस प्रयोग ने प्रत्यक्ष कर दिखाया है। एक 'एन्टी-प्रोटन' को बनाने में करीब एक अरब एलेक्ट्रन वाल्ट (electron vaults) की शक्ति की आवश्यकता होती है। एक अणु-बम में पदार्थ को शक्ति में परिणत करने पर अणु के विस्फोट से ठीक इतनी ही (एक अरब

एलेक्ट्रन वाल्ट) शक्ति का विकाश होता है। युग-द्रष्टा अल्बर्ट आइन्स्टीन ने अपने प्रसिद्ध समीकरणों equations के रूप में जो बात बहुत पहले ही कह दी थी, आज हम उसे एक व्यावहारिक रूप दे पाये हैं। आइन्स्टीन के यह समीकरण थे :—

(१) शक्ति=पदार्थ × प्रकाश-वेग का वर्ग। $E=Mc^2$

(२) पदार्थ=शक्ति × प्रकाश-वेग का वर्ग। $M=Ec^2$

इतना सब होने पर भी हमारे लिये इस प्रयोग का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। विश्व में पदार्थ प्रचुर मात्रा में है और इतनी मूल्यवान् शक्ति को व्यय कर उससे इतना सस्ता और सुलभ पदार्थ बनाने में बुद्धिमत्ता नहीं है।

एक सिद्धान्त के रूप में उलटे गठन और गुणों के एक उद्-जन-अणु (an anti-hydrogen atom) को बनाने की क्रिया के मार्ग को तो इस प्रयोग ने प्रशस्त कर दिया है। हम यह तो जानते ही हैं कि प्रकृति में पाई जानेवाली सामान्य उद्जन के एक अणु के केन्द्र में धन-विद्युत् का एक प्रोटन कण होता है और उसके चारों ओर ऋण-विद्युत् का एक एलेक्ट्रन फेरी देता रहता है। यदि हमें 'एन्टी-हाइड्रोजन' या विपरीत-धर्मी उद्जन बनानी हो तो इस क्रम को महज उलट देना होगा—इसके अणु के केन्द्र में ऋण-विद्युत् के एक 'एन्टी-प्रोटन' कण को रख देना होगा जिसके चारों ओर चक्कर मारता हुआ होगा एक पोजी-ट्रन कण (धन-विद्युत् का एक एलेक्ट्रन कण)। यह दोनों ही विपरीत-धर्मी कण अब सुलभ हो चुके हैं। परन्तु ऐसा करने में

एक दिक्कत, और बहुत-बड़ी दिक्कत, यह होगी कि एक विपरीत गठन के उद्‌जन अणु को बनाकर भी उसे स्थायित्व देना असम्भव सा ही होगा; क्योंकि यह विपरीत पदार्थ (anti-matter) हमारे विश्व के अपने सामान्य पदार्थ के साथ सह-अस्तित्व (Co-existance) कर ही नहीं पावेगा—बान्डुङ्ग कान्फरेन्स के पञ्चशील सिद्धान्तों से बँधे हुए जो यह दोनों कण न होंगे ! एक सेकन्ड के कुछ दस लाखवें भाग में ही यह विपरीत-पदार्थ, यदि कभी बनाया भी गया, अपने-आपको जीवित नहीं रख पावेगा ।

'विपरीत पदार्थ' (anti-matter) के और भी बड़े (उद्‌जन अणु से बड़े) अणुओं को बनाने के लिए 'विपरीत-धर्मी न्यूट्रनों' (anti-neutrons) की अपेक्षा होगी । न्यूट्रनों में 'विद्युत्-शक्ति युतियाँ (electrical charges) नहीं होती है । उनमें केवल चुम्बकीय गुण (magnetic properties) ही होते हैं जिनको उलट कर विपरीत-श्रेणी में करना होगा । कैलीफोर्निया के उक्त वैज्ञानिकों को धुन थी कि एन्टी-प्रोटनों द्वारा किन्हीं दूसरे कणों पर बमबारी कर वह शीघ्र ही कृत्रिम 'विपरीत-धर्मी न्यूट्रन' (anti-neutrons) भी बना डालेंगे ।

उनकी इस धुन को पूरा कर दिखाने के लिए उसी कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के और ही चार भौतिक-वैज्ञानिक आगे आये । १६ सितम्बर सन् १९५६ ई० को इन वैज्ञानिको ने न्यूयार्क शहर में अपनी सफलता की घोषणा की । पिछले ६

महीनों से वह लोग एक बीवैट्रन मशीन पर अपने प्रयोग कर रहे थे। आखिर उनका परिश्रम सफल हुआ और उन्होंने एक 'विपरीत-धर्मी न्यूट्रन' कण (an anti-neutron particle) को खोज निकाला। इन वैज्ञानिकों के नाम हैं ; डा० ब्रूस कार्क (Dr. Bruce Cork), डा० ओरेस्टी पिस्सन (Dr. Oreste Piccione), डा० विलियम वेञ्झेल (Dr. William Wenzel) और डा० ग्लेन आर० लैम्बर्टसन (Dr. Glen R. Lambertson)।

इन वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों में प्रोटनों और न्यूट्रनों की एक बौछार को अकल्पनीय गति-वेग प्रदान किया। फिर जीज़र कौन्टरों (Geiger Counters) की तरह के कुछ यन्त्रों और चुम्बकों की एक जञ्जीर की मदद से इन वैज्ञानिकों ने उक्त अकथनीय वेग से गति करते हुए कणों को अलग-अलग पहिचान कर यह मालूम किया कि गति करते हुए इन प्रत्येक ५०,००० प्रोटनों में से एक प्रोटन कण तो निश्चय एक 'एन्टी प्रोटन' कण बन जाता है।

'एन्टी-प्रोटन' कणों को पहिचानना और गिनना तो आसान था; क्योंकि उनमें विद्यत् की एक शक्ति-युति होती थी और इस कारण वह उस 'गणक-यन्त्र' (the counting machine) पर अपनी प्रतिक्रियायें दर्ज कर देते थे। 'एन्टी-न्यूट्रन' कणों में किसी भी विद्युत्-शक्ति-युति के न होने के कारण उस यन्त्र पर उनकी कोई प्रतिक्रियायें लक्षित ही न होती थीं। उक्त वैज्ञानिकों

ने इस मुश्किल को यों सुलझाया; अपने प्रयोगों में उन्होंने 'शक्ति' (energy) के कुछ ऐसे प्रवाह देखे जो उन गिने हुए 'एन्टी-प्रोटन' कणों के किए हुए तो हर्गिज नहीं हो सकते थे। सब बातों को तौल कर वह अन्त में यह सिद्ध कर सके कि 'एन्टी-न्यूट्रन' कणों के साथ न्यूट्रन-कणों के सङ्घर्ष में ही शक्ति के उन प्रवाहों का जन्म हुआ था। इस प्रकार 'एन्टी-न्यूट्रन' के कणों ने अपने अस्तित्व को मनवा लिया।

'एन्टी-न्यट्रन' कणों की भी अपनी एक प्रमुख विशेषता यह है कि एक अणु के हृदय में निवास करने वाले न्यूट्रन कणों के साथ सम्पर्क होते ही वह उनके (न्यूट्रन कणों के) साथ जूझ पड़ते हैं और उस द्वन्द्व-युद्ध में दोनों योद्धा अपनी हस्ती खो बैठते हैं। मरते समय दोनों ही लड़ाके कणों के प्राण एक अकल्पनीय शक्ति मात्रा के रूप में उड़ पड़ते हैं—शक्ति की ऐसी एक मात्रा में जो एक उद्‌जन-बम (a hyrogen bomb) के फटने पर होनेवाली शक्ति-मात्रा से सैकड़ों गुणा अधिक होती है।

एक 'विपरीत-अणु' (anti-atom) को बनाने में आवश्यक तीनों ही विपरीत-कणों का साक्षात्कार जब हमारे वैज्ञानिकों को हो चुका तो उनके सामने सिर्फ एक ही प्रश्न और रह गया। वह था; ऐसे विपरीत-अणुओ के बने हुए पिण्डों (तारों और ग्रहो) का विश्व में क्या कहीं अस्तित्व है भी या नहीं ?

कुछ वैज्ञानिक तो यह कहते हैं कि विश्व की उत्पत्तिके विषय मे जो वैज्ञानिक मत प्रस्तुत किये गये हैं उनको देखते हुए ऐसे

किन्हीं पिण्डों का विश्व में होना सम्भव नहीं है। वैज्ञानिकों का दूसरा एक दल यह कहता है कि विश्व के दूरस्थ और अज्ञात पिण्डों से आती हुई विश्व-किरणों में पोजीट्रन कण (धन-विद्युत् के एलेक्ट्रन) तो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; कहीं न कहीं से तो वह आते ही होंगे। उन कणों को देख कर यह कल्पना करना युक्ति-संगत तो होगा ही कि जिस विश्व को हम जान चुके हैं, उससे बिल्कुल अलग-थलग ऐसा एक विश्व और भी है जिसको वनाने वाले अणुओं के नाभिक एक मात्र विपरीत-प्रोटनों और विपरीत-न्यूट्रनों के ही बने हुए हैं और उनके चारों ओर धन-विद्युत् के एलेक्ट्रन सपाटे भर रहे हैं।

बीसवीं सदी के हमारे वैज्ञानिक भले ही आपस में यों विवाद करें परन्तु महाभारत ग्रन्थ के रचयिता महर्षि व्यास आजसे हजारों वर्ष पहिले विपरीत-धर्मी नक्षत्रों (anti-constellations) के अस्तित्व का उल्लेख दृढ़ मुद्रा में कर गये थे। उन महर्षि ने अपने इस महाकाव्य के आदि पर्व में शकुन्तला का उपाख्यान दिया है। ऋषि विश्वामित्र के उग्र तपसे भयभीत होकर देवराज इन्द्र ने मेनका नामक एक अप्सरा को आदेश दिया था कि वह विश्वामित्र के तपमें विघ्न डाले। विश्वामित्र के विश्व-विश्रुत प्रभाव और पराक्रम से भयभीत मेनका ने इन्द्र को कहा था :—

....।

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्र सम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ॥
(महा० भा० आ० प० ७२।३४)

अर्थात्; इन महर्षि ने कुपित होकर दूसरे लोक की सृष्टि की और नक्षत्र-सम्पत्ति (Constellations of stars) से रूठकर प्रतिश्रवण (anti-Altair) आदि नूतन नक्षत्रों का निर्माण किया था ।

ऐसा मालूम होता है कि ऋषि विश्वामित्र अपने समय के एक प्रख्यात और प्रकाण्ड ज्योतिर्वैज्ञानिक (an astronomer) थे और उन्होने उन दिनों ऐसे विपरीत-धर्मी तारों और तारा-पुञ्जों को पहिले पहल देखा और लिपिबद्ध किया था ।

कैलीफोर्निया विश्व-विद्यालय के डा० सीगर (Dr. Segre) का कहना है कि उस प्रश्न का एक वैज्ञानिक हल तभी सम्भव हो सकता है जब कि ज्योतिर्विदों के साधन-यन्त्र इतने प्रबल सूक्ष्म-ग्राही (sensitive) हों कि वह दूरस्थ नीहारिकाओं के तारो के चुम्बकीय गुणों को पकड़ सके । डा० सीगर का विश्वास है कि विपरीत-धर्मी पदार्थ (anti-matter) अपने सजातीयो में तो बखूबी स्थायी बना रह सकता है । यहाँ हम उनके शब्दों को ही उद्धृत किए देते है :—"Of course, no-body has seen any anti-matter. As far as Physics is concerned, the anti-world would be identical with our world. An anti-egg would taste like

an ordinary egg, if you, too, were an anti-man." ("Time". Oct. 31, 1955) अर्थात्; यह सच है कि किसी भी व्यक्ति ने कोई विपरीत-धर्मी पदार्थ देखा तो नहीं है। जहाँ तक भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध है, विपरीत-धर्मी पदार्थ की दुनियाँ हर सूरत में हमारी अपनी दुनियाँ की तरह ही होगी। ऐसे पदार्थ के बने एक अण्डे का स्वाद हमारी दुनियाँ के एक अण्डे के समान ही होगा, बशर्ते कि आप भी (स्वाद लेने वाले भी) विपरीत-धर्मी मानव ही हों।

यदि बात कुछ ऐसी ही हो तो जिस प्रणय-घटना के दुःखद अन्त का उल्लेख हम इस परिच्छेद के आरम्भ में ही कर आये हैं उसके कभी न कभी, भविष्य में, घटित होने की सम्भावना बनी तो रहेगी।

उन्नीसवाँ परिच्छेद
ईश्वर

* Children we are all
Of one great father, in whatever clime
Nature or chance hath cast the seeds of life.
All tongues, all colours; neither after death
Shall we be sorted into languages
And tints white, black, and tawny,
Greek and Goth,
Northmen, and offspring of hot Africa;
The all-father, He in whom we live and
move
He, the indifferent judge of all regards
Nations and hues, and dialects alike.

—Southey

मनुष्य के स्थिति-बिन्दु से देखने पर उसके एक ओर तो महान, और उनसे भी महान, पिण्डों की एक अटूट शृङ्खला सुदूर अनन्त के धुँधलके में चली गई है; और दूसरी ओर छोटे सूक्ष्म और अति-सूक्ष्म अणुओं और कणों की वैसी ही एक शृङ्खला

अदृश्य कान्त-क्षेत्रोंमें बढी चली गई है। दोनों ही ओर उन शृङ्ख-लाओं के आखिरी छोर, यदि वह हैं तो, हमारी पार्थिव चक्षुओं की पहुँच के बाहर हैं। लगता है; जैसे कि विश्व एक माला है जिसमें मनुष्य स्वयं एक मनका है; उसके ऊपर और नीचे, यदि हम ऐसा कह सकें, अनेक छोटे बड़े असँख्य मनके उस माला में और भी गुँथे हुए हैं। जिस अलक्ष्य सूत्र में यह सब मनके पिरोये हुए हैं, वह सूत्र है अगोचर कान्त-क्षेत्र;—महज़ स्पन्दन करने वाले। सूत्र के दोनों ओर-छोर कहां जाकर एक साथ, एक गांठ में बँधे हुए हैं यह देख पाना सर्वथा असम्भव है। यह तो स्पष्ट है कि एक सशक्त हाथ अपनी उतनी ही सशक्त अंगु-लियों को इन मनकों पर फिरा रहा है।

---

* हम सब एक ही महान् पिता के पुत्र हैं; भले ही प्रकृति ने या नियति ने जीवन के बीजों को भिन्न-भिन्न देशों में बिखेरा हो और भले ही हम अलग-अलग भाषाएँ बोलते हों अथवा हमारे शरीरों के रङ्ग भिन्न-भिन्न हों। यही नहीं; मरने के बाद भी हम सबका भाषाओं, रङ्गों (सफेद, काले और भूरे) और जातीयता (ग्रीक, गोथ, उत्तर के और गरम बालू के देश अफ्रीका के निवासी) होनेके आधार पर विभाजन भी नहीं होगा। सबके पिता, ईश्वर, जिनमें हम रहते और चलते-फिरते हैं और जो निष्पक्ष न्याय-वितरक हैं, राष्ट्रों, रङ्गों और बोलियों को एक समान देखते हैं....................।

विश्व के स्रष्टा और नियन्ता एक सशक्त हाथ की सशक्त अंगुलियों की शक्ति को मनुष्य, हमेशा, चिरकाल से महसूस करता चला आया है। बीते हुए पुराने दिनों का कोई एक ऐसा लिपि-बद्ध चिह्न तो नहीं मिलता कि कब, और किन कारणों को लेकर मनुष्यने, पहिल पहल, ऐसी एक अदृश्य शक्तिके अस्तित्वकी भावना कायम की; परन्तु यह तो निश्चित है कि आगे जाकर जितने भी धर्म और विश्वास पनपे उन सब के मूल में एक सृष्टि-कर्ता और नियन्ता की एक मात्र भावना ही थी।

विश्व के इस वैज्ञानिक अध्ययन को समाप्त करते समय, स्वभावतः, एक प्रश्न हमारे सामने उठ खड़ा होगा : इस अध्ययन के प्रकाश में क्या हम यह बता सकेंगे कि अपने शैशव-काल से मनुष्य एक ईश्वर के अस्तित्व में अटूट श्रद्धा और भक्ति के साथ जो विश्वास करता चला आया है, उस विश्वास का कोई एक विशुद्ध तर्क-सम्मत और वैज्ञानिक आधार भी हो सकता है या नहीं? यही प्रश्न, दूसरे शब्दों में यों भी पूछा जा सकता है : इस विश्व-गङ्गा की, आखिर, कोई 'गंगोत्री' भी होगी, जहां से निकल कर यह धारा निरन्तर बहती चली आ रही है? क्योंकि उत्पत्ति के साथ लय या समाप्ति भी एक नित्य सम्बन्ध में जुड़ी रहती है, तो निश्चय ही, कहीं न कहीं इसका लय भी होता होगा। अनन्त की इस राह में चलते चलते हम जिन ज्ञान-कणों को बटोरते चले है उनके तात्विक विवेचन के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का हम यथा-सम्भव, प्रयास करते है।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि इस भौतिक विश्व के निर्माण में लगा हुआ एक मात्र मसाला है सिर्फ थोड़े से अमूर्त कान्त-क्षेत्र। विश्व के निर्माण की दिशा में यह अमूर्त क्षेत्र, सर्व-प्रथम जो मूर्त रूप ग्रहण करते हैं, वह हैं कण (particles) और यह कण फिर, आगे बढकर, बन जाते हैं अणु। अणुओं के संयुक्त रूप हैं मूल तत्व जो विश्व की प्रत्यक्ष ईंटे हैं।

यदि हम मूल-तत्वों की इस अन्तः वासिनी दुनियाँ को देखे तो वहाँ, सर्वत्र, एक सुव्यवस्था, रूपों में एक सुघड़पन और कुछ बँधे हुए नियम-कानून दिखाई देंगे। हमको दिख पड़ेगा, मानो सभी वस्तुएँ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ही बनती और काम करती चली जा रही हैं; और यह भी कि, यह सब-क्षेत्र, कण और अणु--कुछ ऐसे नियमों का एक कठोर सतर्कता के साथ पालन करते रहते हैं; उन नियमों का जिन्हें हम धीरे-धीरे अब, समझना शुरु कर रहे हैं।

यह तो हुई 'अणोः-अणीयान्' (सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म) विश्व की बात। 'महतो महीयान्' (महान् से भी अधिक महान्) विश्व में भी ठीक वैसी ही सुव्यवस्था, वैसा ही एक निश्चित योजनानुसार उन्मेष और कार्य होता दिख पड़ता है, जैसा कि सूक्ष्म विश्व में। इस बात को, जरा विस्तार में जाकर और देखलें।

हमारे इस अध्ययन में, जिस एक बात ने बारबार हमारी नजरों को उलझा कर अपने ऊपर गौर करने के लिए विवश

किया है वह है : अनन्त में सर्वत्र दिख पड़ने वाली नीहारि-
काओं में पायी जाने वाली एक-रूपता। नीहारिकाओं के सम्ब-
न्ध में लिखते समय हमने उनके इस प्रमुख पहलू की ओर बार-
बार अपनी अंगुलियां उठाई है। लगता है ; मानो किसी एक
ही हाथ ने, अपनी मर्जी के मुताबिक, एक साँचा बनाया और
फिर उस साँचे में ही, आजकल के मशीनी कारखानों की तरह,
इन नीहारिकाओं को ढाल ढालकर निकाल फेंकना शुरु किया।

इस पुस्तक के दसवें परिच्छेद में हम यह बता आये हैं कि
अनन्त के किसी एक भाग में, एक खास वर्ग की कोई एक नीहा-
रिका, उसके दूसरे भागों में जहाँ भी कहीं, उसी वर्ग की दूसरी
नीहारिका से हरबात में हू-ब-हू मिलती हुई है। इस विश्व का
यह एक प्रमुख पहलू है—इसमें, सर्वत्र, एक ही रूप के कुछ वर्ग
पाए जाते हैं : सर्वत्र एक-रूपके वर्ग; कहीं भी चले जाइए, अनन्त
में यह एक-रूप के वर्ग ही जहाँ तहां बिखरे पड़े है। किसी भी
एक वर्ग की एक नीहारिका की बनावट और उसके अङ्गों को
देख कर, आप मानो आंखें मूँदकर ही, उसी वर्ग की परन्तु दूर
कहीं भी रहने वाली दूसरी सभी नीहारिकाओं की बनावट और
उनके अङ्गों की एक कल्पना कर सकेंगे जो बिल्कुल सच निक-
लेगी।

इस एक-रूपता के साथ साथ एक बात और भी है, जिसने
हमारे ऊपर गहरा प्रभाव डाला है। वह है ; इन नीहारिकाओके
गुच्छो के आकारों का वैषम्य। कुछ गुच्छे जहां बड़े हैं, वहीं कुछ

गुच्छे छोटे हैं; परन्तु बिखरे पड़े हैं एक ही तरह, एक ही तरतीब में। उनके औसत बिखराव को समझ पाने के लिए हम उनकी तुलना टेनिस के खेल की उन गेंदों से कर सकते हैं जो एक दूसरी से ठीक ५०-५० फीट दूर पड़ी हुई हों।

उनकी (नीहारिकाओं की) यह एक-रूपता और आकार-वैषम्य, बिखराव की इस नपी-तुली तरतीब से मिलकर, क्या यह ढिण्ढौरा नहीं पीटते कि उन्हें बनाने वाला एक महान् चेतन हाथ है जिसने, अपनी लीला के लिए ही, एक निर्धारित योजना के अनुसार उन्हें बनाया है? इस प्रकार सुनियोजित सृष्टि का निर्माण, क्या एक जड़-कारण कर भी सकेगा?

दूसरी एक बात और भी है जो एक सचेतन सृष्टि-कर्ता के अस्तित्व को मानने के लिये हमें बाध्य करती है; वह बात है वह सिद्धान्त जो विश्व की शुरुआत को लेकर आजकल वैज्ञानिकों द्वारा, आम तौर पर, प्रस्तुत किया जाता है। कहा जाता है कि किसी एक समय विश्व का समूचा द्रव्य एक ही स्थान में पुञ्जीभूत था। आज से करीब ५ अरब वर्षों पहिले, एक बात ऐसी हुई जिसने इस पुञ्जीभूत और अचल द्रव्य को अनेक टुकड़ों में बाँटकर उनको भिन्न-भिन्न गतियों से बाहर की ओर भाग छूटने पर आमादा कर दिया। ५ अरब वर्षों के बाद, आज हम उस क्रिया का वर्तमान परिणाम देख रहे हैं—हमारे चारों ओर आज दिख पड़ने वाला विश्व। इस प्रस्तुत सिद्धान्त की अपनी एक विशेषता है; इसको मानने पर यह भी अवश्य मानना

होगा कि नीहारिकाओं की गतियों को अपना वेग बनाए रखने, या लगातार बढाए चलने के लिए, एक मूल शक्ति-स्रोत भी है, हो चाहे वह गुरुत्वाकर्षण की विपर्यय (उलटी) शक्ति के रूप में अथवा किसी और रूप में। ऐसे किसी शक्ति-स्रोत के होने की समस्या नई तो है नहीं ; यह समस्या तो इस सिद्धान्त या मान्यता की आरम्भिक प्रक्रियाओं में भी मौजूद थी। आरम्भ में, यह सब टुकड़े शान्त और निश्चल थे और, फिर, एकाएक चलने लगे ; यहाँ तक कि कुछ तो अत्यन्त तीव्र वेगों से। अपेक्षाकृत थोड़े ही एक समय में उनको यह आकस्मिक गतियाँ प्रदान करने के लिए तो एक कल्पनातीत बड़ी शक्ति की जरूरत थी। इसी मूल शक्ति-स्रोत को ही तो, आगे जाकर क्या ईश्वर नहीं कहने लगे ?

माउण्ट विलसन और माउन्ट पैलोमर की दूरबीनों ने अनन्त में चहुँ ओर बिखेरे हुए इस विश्व-प्रपञ्च की जो झाँकी हमें दी है, वह स्पष्ट रूप मे विश्व के एक सिरजनहार, अलक्ष्य स्रोत की ओर प्रमुखता के साथ इङ्गित कर रही है।

विश्व के इस मूल-स्रोत को लेकर, अब प्रत्यक्ष-वादी वैज्ञानिकों के मन में भी कुछ हलचल मच गई है। ईश्वर के अस्तित्व की ओर उदासीन, अथच निषेधात्मक, दृष्टिकोण लेकर चलने वाला आज का विज्ञान दबी जबान से यह तो कहने लग गया है कि कोई एक अज्ञात और अदृश्य सचेतन शक्ति जरूर मौजूद है जो इस सारे विश्व-प्रपञ्च को गति प्रदान किए जा रही है।

दिवंगत जेम्स ओ 'नील' "न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिव्यून" पत्र के विज्ञान-सम्पादक थे। सीडनी ओमार नामक एक सज्जन को, एक पत्र में, उन्होंने लिखा था ; "आज का यान्त्रिक और जड़-वादी ज्योतिर्विज्ञान (astronomy) एक शताब्दी पहिले की अपनी इस मान्यता को ही पकड़े हुए है जिसके अनुसार चेतन-शील मानवप्राणी, इस अचेतन विश्व-सृष्टि में, अपने आपको बिल्कुल अकेला और अजनबी सा महसूस करता है। विश्वसृष्टि की सच्ची और प्रगतिशील व्याख्या तो यह होगी कि विश्व की सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़ी से बड़ी, सभी वस्तुएँ, जो सब एक ही ठप्पे की बनी हुई हैं, अपने बनाने वाले ईश्वर के साथ, पूर्ण आन्तरिक सन्बन्ध में बँधी हुई हैं। इस सम्बन्ध का सूत्र मौलिक कणों, अणुओं, मानव-प्राणियों, ग्रहों, तारों और नीहारिकाओं को एक में ही पिरोए हुए है" (अमेरिका से प्रकाशित 'होरोस्कोप' पत्रिका से उद्धृत एक अंश का हिन्दी रूपान्तर)।

आल्डुअस ल्योनार्ड हक्स्ले जो आज की दुनियाँ के एक महान् दार्शनिक, विचारक और लेखक हैं एवं डा० स्ट्राम्बर्ग जो एक प्रमुख नक्षत्र-शास्त्री और 'कार्नेगी इन्स्टीट्यूट' की माउन्ट विल्सन वेधशाला में वैज्ञानिक शोध कर रहे हैं—दोनों का यही कहना है कि, मनुष्य का "मस्तिष्क, स्वयं कुछ भी सृजन नहीं करता ; वह तो महज़ एक अत्युत्तम यन्त्र ही है—एक तरह का ग्राहक-यन्त्र (a receiving set) ही है। जो कुछ भी यह यन्त्र (मानव-मस्तिक) ग्रहण करता और फिर उसे व्यक्त करता

है, वह सब एक विश्व-सागर से ही आता है जो चारों ही ओर से हमें घेरेहुए है। यह सागर, इस विश्व की आत्मा है। इस महान् विश्व-सागर से ही हम अपने विचारो, कल्पनाओं और काम करने की प्रेरणाओं को पाते रहते हैं।" (वही)

जेम्स ओनील, हक्स्ले और स्ट्राम्बर्ग के मन्तव्यों के साथ गीता के इस श्लोक का कितना सुन्दर सामञ्जस्य है :—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थम्प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५।१)

अर्थात्; इस विश्व-वृक्ष की जड़ तो ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं। समस्त ज्ञान-विज्ञान इस वृक्ष के पत्ते हैं। जो व्यक्ति उस वृक्षको जान पाता है, वही ज्ञानी है।

हक्स्ले और स्ट्राम्बर्ग के ऊपर उद्धृत वाक्यों में एक अतीव सुन्दर वाक्य है; "यह सागर इस विश्व की आत्मा है।" श्रीमद्भागवत पुराण ने इसी भाव को यों प्रकट किया है :—

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानम्मय्यधीश्वरे ॥

(श्री भा०पु० ११।७।९)

अर्थात्; इसलिये इन्द्रियों और चित्त को वश में करके समझो कि यह जगत् आत्मा में ही व्याप्त है और आत्मा मुझ ईश्वर में।

आगे चलकर यही पुराण फिर कहता है :—

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येनसंसरते पुमान् ॥२०॥

(श्री भा०पु० स्कन्ध ११)

अर्थात्, "केवल आत्मा के अनुभाव से अपनी त्रिगुणात्मिका माया को क्षुब्ध करते हुए, हे अरिन्दम, उस माया के द्वारा आदि में, सूत्र का सृजन करते हैं। त्रिगुण स्वरूप में अपने आपको अभिव्यक्त कर, चारों ओर, विश्व-सृजन करने वाली उसको माया कहा है, जिसमें यह विश्व पिरोया हुआ है और जिस माया में ही यह पुरुष (जीव) संसरण करता है।" आधुनिक विज्ञान के विप्लवकारी 'क्रान्तक्षेत्र सिद्धान्त' (the Quantum field theory) का कितना सुन्दर विवेचन किया गया है। जेम्स ओ'नील का सृष्टि-सूत्र और श्रीभागवत पुराण का सृष्टि-सूत्र क्या एक ही नहीं है? प्रत्यक्षवादी विज्ञान जो बात आज कह रहा है भारतीय पुराणकार ने हजारों वर्षों पहले ही उसे कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति दे रक्खी है।

अब तक हमारे ज्ञान में आ चुके सृष्टि के मूल उपादानों को आधार बनाकर हम विश्व-स्रष्टा ईश्वर का एक काल्पनिक रूप निश्चित कर सकते हैं। क्योंकि, कारण और कार्य में परस्पर कोई मौलिक भेद नहीं होता, और क्योंकि कारण ही, अपने एक रूपान्तर में, कार्य बन जाता है एवं एक अन्तर्निहित

आधार के रूप में, हमेशा, कार्य में बना भी रहता है ; इसलिये नीचे हम एक रेखाचित्र देते हैं जो विश्व के मूल स्रोत, ईश्वर, और उससे उत्पन्न होकर बहने वाले और अन्त में जाकर उसीमें लय हो जाने वाले विश्व का चित्रण करता है।
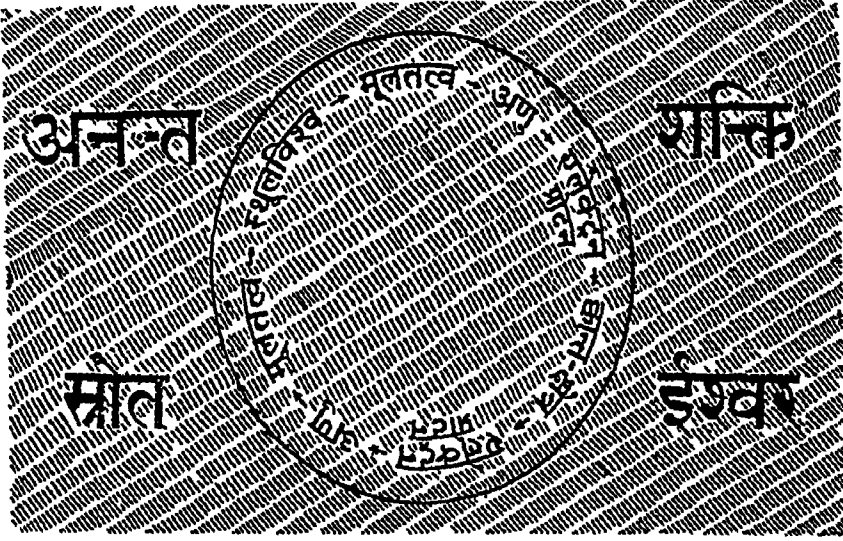
रेखा-चित्र ३८

इस रेखा-चित्र में हमने ईश्वर के स्वरूप की जो कल्पना की है, वह विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर है। इस समूचे विश्व के निर्माण में, कुल मिलाकर, ९२ मूलतत्वों का ही उपयोग किया गया है। पृथ्वी पर हम इन सभी मूल तत्वों को उनके प्राकृतिक रूपों में देख चुके हैं। सूर्य, तारे और नीहारिकाएँ—सब इन तत्वों के, सिर्फ इन्हीं तत्वों के, बने हुए हैं। विश्व में कहीं भी ऐसा कोई छोटा या बड़ा पिण्ड नहीं है, जिसको बनाने में इन तत्वों के सिवाय किन्हीं अन्य तत्वों का उपयोग किया गया हो।

इन मूल तत्वों का विश्लेषण भी किया जा चुका है। इनमें, परस्पर, कोई मौलिक भेद नहीं है। एक से लेकर बानवे की संख्या तक, इनका जो क्रम कायम किया गया है, वह सिर्फ इनके भीतर पाए जाने वाले विद्युत्-कणों को लेकर ही है। मोटे तौर पर, इन सबमें दो तरह के विद्युत्-कण होते हैं : धन-विद्युत् कण जो इनके नाभि-केन्द्र में सिमटे रहते हैं और ऋण-विद्युत कण जो इस नाभि-केन्द्र के चारों ओर, एक सजग प्रहरी की तरह, लगातार चक्कर मारते रहते हैं। नाभि-केन्द्र में, धन-विद्युत् कणों के साथ, अनुभय-धर्मी अथवा नपुंसक-कण neutrons (न तो धन-विद्युत् और न ऋण-विद्युत् शक्ति के) भी होते हैं।

मूल तत्वों की तालिका में सर्वप्रथम स्थान है हाइड्रोजन का। इसके एक अणु के नाभि-केन्द्र में एक धन-विद्युत्कण होता है जिसके चारों ओर एक ऋण-विद्युत्कण चक्कर लगाता रहता है। यह एक 'युग' (जोड़ा) है। बनावट में यह अन्य सभी मूल तत्वों की अपेक्षा, सरल है। इसके बाद, इस तालिका में ज्यों-ज्यों हम ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं, मूल तत्वों के अणुओं के धन, ऋण और नपुंसक कणों की संख्या भी, क्रम से, बढ़ती जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन मूल तत्वों में, परस्पर, कोई मौलिक भेद नहीं ; जो कुछ भी फर्क है वह सिर्फ उनके धन और ऋण विद्युत्-कणों की न्यूनाधिकता का ही है।

बात, अब, यहाँ आकर ठहरती है। यह समूचा स्थूल विश्व, जो अनन्त में इतने विशाल परिमाण में फैला हुआ है,

सिमट सिमटा कर पहिले तो, गिनती मे कुछ थोड़े से मूल तत्वों में आ बैठता है, जो स्वयं भी, आगे जाकर, धन और ऋण-विद्युत् कणों के 'युग' में सिमट जाते हैं। विश्व के मूलभूत यह एलेक्ट्रन और प्रोटन कण एक ही साथ विद्युत् के कण भी हैं और लहरें भी।

विद्युत् अथवा शक्ति की यह लहरे, जो अपने मूल रूपों में महज क्रान्त-क्षेत्र (Quantum fields) ही हैं, इस विश्व का आदिम रूप हैं, जो विश्व-स्रष्टा, ईश्वर, के अनन्त स्रोत से तुरन्त निकली हुई हैं। स्वभावतः ही ईश्वर के विषय की हमारी कल्पना, विद्युत् या शक्ति की इन लहरों पर तैरती हुई, उस अनन्त विद्युत्-स्रोत अथवा शक्ति-स्रोत की ओर ही बहती हुई होती है जिसका एक मोटा, अथच, भद्दा-सा चित्रण ऊपर किया गया है।

धन और ऋण विद्युत् कणों के 'युग' (जुड़ाव) में ही विश्व-सृष्टि का आरम्भ है और उसके विघटन में ही विश्व का क्षय है। उत्पत्ति और लय का यह क्रम, शक्ति के अनन्त स्रोत—ईश्वर—में ही होता रहता है।

'श्री विष्णु-सहस्रनाम स्तोत्र', महाभारत ग्रंथ के अनुशासन-पर्व की एक पूरी अध्याय है। इसके आदि में कुछ महिमा-परक श्लोक हैं; उनमें के एक श्लोक को हम, इस प्रसङ्ग में, उद्धृत करते है :—

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥
(श्री वि० सस्तो० ११)

अर्थात्; जिस ईश्वर से, 'आदि-युग' के आविर्भाव में सभी भूत (चेतन और अचेतन) उत्पन्न होते हैं और फिर 'युग-क्षय' (विघटन) होने पर सब उस (ईश्वर) में ही प्रकर्षता से लीन हो जाते हैं। ऊपर हमने जगह-जगह इस 'युग' (प्रोटन और एलेक्ट्रन का जोड़ा) का उल्लेख किया है। 'अणु-विज्ञान' आज. अपनी इस खोज पर गर्व कर रहा है; परन्तु महर्षि वेदव्यास, हजारों वर्षों पहिले ही, किस खूबी के साथ इस तथ्य का उद्घाटन कर गये हैं।

उत्पत्ति और लय का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। विश्व-गङ्गा की उत्पत्ति है तो इसका उस अथाह सागर ईश्वर में लय भी होता है। इस लय की कहानी भी, वैज्ञानिक शब्दों में, सुनिये। यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं कि धन और ऋण विद्युत् कणों अथवा तरङ्गों के 'युग'-बन्धन में ही विश्व की ऊत्पत्ति होती है और उस 'युग' के विघटन में, इन कणों या तरंगों के एक दूसरे से अलग होकर अपने-अपने स्वरूपों में अवस्थान में, इसका लय होता है। यह विश्व-गङ्गा इस प्रकार, अपने मूल-स्रोत से निकल कर वहती हुई, वृत्त का एक बड़ा चाप बनाकर, फिर उसी मूल-स्रोत-ईश्वर में आ गिरती है।

इस पुस्तक के ६ ठे परिच्छेद में, एक जगह, हम लिख आये

हैं कि 'वर्ण-पट दर्शक यन्त्र' (spectroscope) ने अनन्त ब्रह्माण्ड की एक आश्चर्यजनक खूबी की ओर हमारा ध्यान खींचा है; आकाश के एक भाग में जहाँ हमारी ओर भागे चले आने वाले तारों की बहुतायत है और हमसे दूर भागने वाले तारों की संख्या बहुत कम है, वहीं उसके दूसरे भाग में ऐसे तारों की संख्या तो बहुत ज्यादा है जो हमसे दूर भागे चले जा रहे हैं, परन्तु हमारी ओर चले आने वाले तारों की संख्या बहुत कम। आकाश के यह दोनों ही भाग एक दूसरे के आमने-सामने हैं।

रेखा-चित्र ३८ पर नजर डालने से यह बात कितनी स्पष्ट हो उठती है। शक्ति के असीम और अथाह-सागर ईश्वर से, एक ओर तो विश्व-गङ्गा निकल कर बह रही है और बहती हुई एक चक्कर मारकर दूसरी ओर उसी सागर में लीन होने को, बढ़ते हुए प्रचण्ड वेग से, भागी चली जा रही है।

इस सागर (ईश्वर) में फिर जा गिरनेके लिए यह विश्व-गङ्गा अपने भागने के वेग को अधिकाधिक बढ़ाती चली जाती है—इस तथ्य को माउन्ट विल्सन और माउन्ट पैलोमर की दोनों बड़ी दूरबीनों ने पकड़ कर हमें सौंपा है। ६ वें परिच्छेद में, इन दूर-बीनों की गवाही के बलपर, हमने लिखा था; "सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह सभी नीहारिकाएँ, सिवाय हमारे स्थानीय गुच्छे की मित्र नीहारिकाओ के, दिखने में तो हमसे दूर-दूर भागी चली जा रही हैं और भागती हुई हमसे जितनी ही दूर निकलती चली जाती हैं, उतना ही उनका वेग भी बढ़ता चला

जाता है।" अपनी लम्बी दौड़ से थककर, मानो, यह विश्व अपने विश्रान्ति-स्थान को नजदीक पाकर अपनी चाल को पूरी तेजी दे रहा है। दिनभर गायब रहकर अपने विश्राम-घर को लौटता हुआ पशु भी तो दुलकियाँ लेने लगता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने इस वैज्ञानिक तथ्य को, संक्षेप में कहा है :—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि
जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ० ३।३।१)

अर्थात्; "यह भूतसर्ग (विश्व) जिससे (ईश्वर से) जन्म लेते हैं; जन्म लेने पर जिसमें जीवित रहते हैं और अपने बढ़ते हुए वेग के साथ भागते हुए (प्रयन्ति=प्रकर्षेण यन्ति गच्छन्ति) जिस ईश्वर में ही फिर प्रवेश कर जाते हैं।" इस मन्त्र का "प्रयन्ति" क्रिया-पद, लीन होने को आतुर इस विश्व के पिण्डों के अधिकाधिक बढ़ते हुए वेग का स्पष्ट बोध कराता है। डोपलर और एडिङ्गटन जैसे विख्यात वैज्ञानिकों ने, आज के युग में, इस तथ्य को फिर प्रत्यक्ष किया है। दूर भागते हुए विश्व (the receding universe) की कल्पना अब एक प्रत्यक्ष सत्य बन गई है।

आज का प्रत्यक्षवादी विज्ञान अपनी आँखों से देखे हुए इतने ही मसाले को, अबतक, जुटा पाया है। जगत् को बनाने वाले ईश्वर के अस्तित्व और रूप के विषय में एक युक्ति-युक्त वैज्ञानिक धारणा बनाने में यह मसाला एक बहुत ही महत्वपूर्ण और ठोस आधार का निर्माण करता है।

प्राचीन भारत के तत्ववेत्ता ऋषि ईश्वर के इस विद्युन्मय, तेजोमय, रूप का साक्षात्कार कर चुके थे। जगत्स्रष्टा ईश्वर को इसी कारण, उन्होंने "तपस्" कहकर पुकारा था। यह 'तपस्' (विद्युत् अथवा शक्ति) ही अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम है; इस तथ्य को हृदयङ्गम कर एक ऋषि ने कितने सुन्दर शब्दों में सृष्टि-रचना की प्रक्रिया को गूँथा है :—

"ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः।"

"सर्वत्र प्रदीप्त 'तपस्' (शक्ति या विद्युत् के अनन्त स्रोत, ईश्वर) से ऋत (क्रान्त-क्षेत्रों का स्पन्दन) और सत्य (मूर्त सत्तावाले धन और ऋण-विद्युत् शक्ति के कण या लहरें) उत्पन्न हुए। उसके बाद रात्रि (पुञ्जीभूत रूप में विश्व का समूचा द्रव्य) उत्पन्न हुआ। उसमें से निकल-निकल कर दौड़ने वाले (समुद्रः=समुद्रवन्ति यस्मात् सः) प्रदीप्त पिण्ड, तारा वगैरह उत्पन्न हुए। ऐसे ही एक दौड़ने वाले पिण्ड से अहोरात्र (अपनी धुरी पर दिया हुआ पृथ्वी का एक चक्कर) का निर्माण करता हुआ संवत्सर (सूर्य के चारों ओर, पृथ्वी का एक पूरा भ्रमण) उत्पन्न हुआ। धाता ने (धन-ऋण विद्युत् के संयुक्त अंशों ने) पहिले की तरह ही सूर्य, चन्द्रमा, प्रदीप्त आकाश, अन्तरिक्ष (हमारे ऊपर का वायु-मण्डल) और पृथ्वी की रचना की।

"तपस्" ही ईश्वर है, इस सत्य को श्रीमद्भागवत पुराण ने निम्न श्लोकों में कहा है :—

स आदिदेवो जगताम्परोगुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तन्नाध्यगच्छद्दृशमत्रसम्मतां प्रपंचनिर्माणविधिर्यथाभवेत्॥

स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाश्रृणोद्द्विर्गदितं वचोविभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः॥

(श्री भा० पु० २।९।५-६)

अर्थात्; जगत् के परमगुरु आदिदेव ब्रह्माने अपने स्थान पर बैठे-बैठे सृष्टि-रचना का विचार किया, परन्तु बहुत सोचने पर भी उनको विश्व-प्रपञ्च के निर्माण की विधि प्रदर्शित करने वाली दृष्टि न मिल सकी। एक दिन इस विचार में डूबे हुए ब्रह्मदेव को अनन्त में दो बार उच्चारित, दो अक्षरों का एक शब्द सुनाई दिया, जो शब्द सोलहवें अक्षर "त" और इक्कीसवें अक्षर "प" के संयोग से बना था—"तप"।

आगे चलकर श्री भगवान् ने ब्रह्मा को दर्शन देकर, अपने तपोमय रूप को साफ शब्दों में यों कहा:—

प्रत्यादिष्टम्मयातत्र त्वयिकर्मविमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ॥
सृजामितपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वम्वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥

(श्री. भा. २।९।२२।२३)

"हे ब्रह्मन्, कर्म-विमुग्ध तुमको मैंने ही "तप" का आदेश दिया है। तप मेरा साक्षात् हृदय है और मैं ही तप का आत्मा हूँ। तप से ही मैं इस विश्व-प्रपञ्च को उत्पन्न करता हूँ, फिर तपसे ही उसको वापिस ग्रस लेता हूँ और (इस बीच) तप से ही मैं इसको बनाए रखता हूँ। तप मेरा दुश्चर वीर्य है।

उपनिषदोंमें बारबार 'स तपोऽतप्यत' कहा गया है। लगता है जैसे 'तप' एक शक्ति-उत्पादक यन्त्र generator है और साथ ही एक महान् शक्ति-भण्डार power house भी, जो सारे विश्व को, निरन्तर, शक्ति और गति देता रहता है।

ऋत (कान्त-क्षेत्र) और उस पर आधारित सत्य (प्रोटन और एलेक्ट्रन कण) ही इस विश्व के मूल में हैं। सत्य अपना आधार ऋत को ही बनाए हुए है और उससे ही शक्ति और गति प्राप्त करता है, इस बात को कठोपनिषद् के एक तत्वज्ञ ऋषि ने इन मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है :—

"ऋतम्पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्धे। छाया-तपौ विश्वविदो वदन्ति" ......"सृष्टि के आदिम रूप में, गुहा (अणु के खोल) में प्रविष्ट हुए छाया और आतप (ऋण और धन विद्युत्-कण) इस विश्व के निर्माण के लिए ऋत (कान्ति-क्षेत्र) को पीते रहते हैं—उससे ही अपना रूप, गति और शक्ति-सामर्थ्य लेते रहते हैं।

अणु के नाभि-केन्द्र को विखण्डित कर वैज्ञानिकों ने उसमे से भोपण संहारक शक्ति और करोड़ों वाल्ट volts के ताप को

निकाल बाहर किया जिसने द्वितीय महायुद्ध के अवसान-काल में जापानी स्त्री पुरुषों को खून के आँसू रुलाया। यह शक्ति और ताप ही हिन्दू पुराणों का संहारक देवता रुद्र है जिनके नाम का अर्थ ही है रुलाने वाले (रुद्रावयति इति रुद्रः)। उनके विषय में यह भी कहा गया है कि वह (रुद्र) समाधि लगाए निरन्तर तप करते रहते हैं—तप, जो ईश्वर का साक्षात् रूप है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी यही कहा है; "तप बल संभु करहिं संहारा।"

प्रोटन या अणु-नाभिक के विखण्डन होने पर शक्ति और ताप के अलावा, एक और भी कण बाहर निकल पड़ता है जिसे वैज्ञानिकों ने न्यूट्रन neutron नाम दिया है। इस न्यूट्रन ने उन वैज्ञानिकों को काफी उलझन में डाल दिया है। प्रत्येक अणु में यह कण मौजूद रहते हैं। अणुओं के निर्माण में और उनको विस्फोट कराने में इन कणों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शायद यह न्यूट्रन कण ही हैं जिनको लेकर एक उपनिषद में कहा गया है; "तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्"; (उसको, विश्व को, रचकर वह उसमें स्वयं भी प्रवेश कर गया)।

भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्त-वादी पण्डित, अपने कन्धे उचका कर, यह पूछ बैठेंगे कि यदि ईश्वर है तो क्यों नहीं वह उसे देख पाते? इसके जवाब में हम भी उनसे पूछेंगे कि क्या उन्होंने एक 'ग्रैव्हिटन' Graviton (पृष्ठ ४५०) को कभी प्रत्यक्ष देखा है? यदि नहीं; तो क्यों वह उसके अलक्ष्य अस्तित्व

को मान्यता देते हैं ? महज़ उसके प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले असरों के आधार पर ही तो ?

सर्व-व्यापी ईश्वर के प्रभाव भी प्रत्यक्ष हैं। अनन्त में (in space) सर्वत्र उसकी सत्ता है—आप और मैं, पशु और पक्षी, पेड़ और पौधे, पहाड़ और महासागर, तारे और नीहारिकाएँ—सब उसके ही मूर्त रूप हैं; उसके ही प्रभाव हैं और उसीमें अपनी गति, स्थिति और लय करते रहते हैं। ईश्वरको प्रत्यक्ष देखना चाहें तो आप एक समष्टि रूप में देखिए अपने सामने फैले हुए समूचे विश्वको और व्यष्टि-रूपमें देखिये विश्वकी पत्येक इकाई को ; उसे देखिये उर्दू के एक शायरकी नज़र से :—

कि हर शै में ज़लवा तेरा हू-ब-हू है;
जिधर देखता हूँ उधर तूँ ही तूँ है।

एक बार और हम कह देते हैं कि आजतक जाने गये वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर ही हमने रेखा-चित्र ३८ में ईश्वर के एक सम्भव रूप का कल्पना-गत खाका खींचा है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त हैं—चर, अचर, सचेतन और अचेतन ; सब में। इन सभी भूत सर्गों की—चेतनशील और अचेतन की—अपने भीतर व्याप्त ईश्वरके स्वरूपकी कल्पनाएँ, अपने अपने रूपोके अनुसार ही है। मनुष्य ने अपनी कल्पना में ईश्वर को अपने ही रूप में, मनुष्य के रूप में, चित्रित किया ; मनुष्य की तरह ईश्वर के भी हाथ, पांव और मुँह हैं। हाँ; अलबत्ता ईश्वरमें शक्ति की अतिशयता प्रदर्शित करने के लिए दो की जगह उनके चार हाथा

की कल्पना की। पहाड़, सागर, नदी, पेड़, पौधे, जीव-जन्तु; सब के अपने अलग अलग ईश्वर हैं—उनके अपने रूप और आकार के अनुरूप। काश! वह बोल कर हमें बता सकते। ईश्वर के यह सब कल्पित रूप, अपनी अपनी जगह, सत्य हैं और इस सत्य का उद्घाटन किया है भगवान् श्रीकृष्ण ने। श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय में, अपनी विभूतियों को गिनाते हुए, श्रीकृष्ण ने 'स्थावराणांहिमालयः', 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्', 'उच्चैः श्रवसश्वानाम्', 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्', 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' इत्यादि कह कर सभी चराचर भूतों के अपने अपने अनुरूप ईश्वर की भावना को स्वीकार किया है। सर्व-व्यापी ईश्वर के सभी रूप सत्य हैं। हम अपने ही अज्ञानवश अपनी कल्पना को ही सच्ची करार देते हैं और दूसरों की कल्पना को मिथ्या। इस दुराग्रह के घातक परिणामों से इतिहास रँगा पड़ा है।

बात एक ही है; चर और अचर—सबकी ईश्वर-विषयक कल्पनाओं का आधार है ऋत और सत्य। हम सब, चेतन और अचेतन, अपनी अपनी रूप रेखाओं के चौखटे में इस कदर जकड़े हुए हैं कि हमारी कल्पनाओं के लिए इस चहार दीवारी को लाँघ पाना असम्भव सा ही है।

मनुष्य के लम्बे इतिहास में अनेक धर्म, सम्प्रदाय और विश्वास जन्मे, पनपे और अनेक खत्म भी हो गये। अपने अपने तौर तरीकों में एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी उन सब के भीतर

एक सूक्ष्म सूत्र ऐसा दौड़ रहा था जो माला के मनकों की तरह उन सब को आपस में जोड़े हुआ था। वह सूत्र था, विश्व के एक निर्माता ईश्वर के अस्तित्व में दृढ विश्वास।

कुछ सौ वर्षों पहिले तक, मनुष्य के धार्मिक विश्वास और विज्ञान हमराही थे; हाथ में हाथ डाले बढे चले जा रहे थे। पिछले २०० वर्षों में विज्ञान ने प्रत्यक्षवाद का लबादा उठाकर ओढ लिया और धर्म का साथ छोड़कर अकेला अपने चुने हुए मार्ग पर चल निकला। आज, इतने वर्ष बीतने पर, दोनों पुराने साथी, धर्म और विज्ञान, अपने भिन्न मार्गों पर चलते हुए, एक बार फिर, अपने अपने गन्तव्य मार्गों को एक चौड़े महापथ में जाकर मिलते देख रहे हैं—उस महापथ में जिसकी आखिर मञ्जिल है, ईश्वर।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के यशस्वी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के चिरस्मरणीय शब्दों में हम भी कहते हैं कि I can see how it might be possible to look down upon the Earth and be an athiest, but I cannot conceive how any man could look into the heavens and say, there is no God". अर्थात्, यह तो मैं समझ सकता हूँ कि पृथ्वी पर, नीचे की ओर, देखकर तो नास्तिक बना भी जा सकता है; परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि ऊपर आकाश में देखकर कैसे कोई मनुष्य कह सकेगा कि ईश्वर नहीं हैं (अमेरिका के The Catholic Mind मासिक पत्र के मार्च १९५३ ई० के अङ्क से उद्धृत एक अंश)।